आचार्य श्री देवसेन (गणि) विरचित

तत्त्वसार

(तत्त्व देशना)



देशनाकार

आचार्यश्री विशुद्धसागर जी महाराज

आचार्य श्री देवसेन (गणि) विरचित

तत्त्वसार
(तत्त्व-देशना)

टीकाकार

प.पू. आचार्य श्री १०८ विशुद्धसागरजी

प्रकाशक

अखिलभारतीय श्रमणसंस्कृति सेवासमिति

पूज्य श्री के साहित्य प्रकाशन हेतु कटिबद्ध संस्था

संपर्क : 92453-21151, 98930-63710, 98262-10189

मूलकृति	:	आचार्यश्री देवसेन (गणि) विरचित तत्त्वसार
प्रस्तुत कृति	:	**तत्त्व-देशना**
देशनाकार	:	**दिगम्बर जैन श्रमणाचार्य श्री विशुद्धसागर मुनिराज**
संकलन/संपादन	:	मुनि श्री विश्ववीरसागरजी
संपादन सहयोग एवं प्रस्तुति	:	इंजी. जिनेन्द्र कुमार जैन पद्मनाभ नगर, भोपाल
आवृति	:	सप्तम / वर्ष २०१४ / २२०० प्रतियाँ
प्रकाशक	:	अखिलभारतीय श्रमणसंस्कृति सेवासमिति
न्यौछावर	:	रु. १००/– (पुनर्प्रकाशन हेतु)
प्राप्ति स्थल	:	श्री आजाद कुमार जैन, इन्दौर (मो. ०९४२५३२११५१) श्री महावीर पाटनी, भिलाई (०८९५९९९००००) श्री मनीष जैन 'मोना', इन्दौर (मो. ०९८२६२१०१८९) श्री नेमीचन्द बड़कुल, इन्दौर (मो. ०९४२५०५३१७१) नमोस्तु शासन संघ, मुंबई (मो. ०९३२४३५६०३५) श्री मनोज झांझरी, जयपुर (मो. ०९८२९०६३४२६) श्री अनिवेश पहाड़े, हैदराबाद (मो. ०९८६६४६६६५४)
मुद्रक	:	विकास ऑफसेट प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स ४५, सेक्टर–एफ, औद्योगिक क्षेत्र, गोविन्दपुरा, भोपाल फोन : ०७५५–२६०१९५२, २६०२९५७, ०९४२५००५६२४

तत्त्वसार

(तत्त्व-देशना)

श्री परमात्मने नमः

काउण णमोक्कारं अरहंताणं तहेव सिद्धाणं ।
आइरिय–उवज्झायाणं लोयम्मि य सव्वसाहूणं ।।

आचार्य देवसेन विरचित 'तत्त्वसार' पर रचित 'तत्त्व देशना' की विवेचना की

प्रस्तावना

सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को विषयानुसार विभाजन के क्रम में चार अनुयोगों में विभाजित किया गया है। (रत्नकण्डक श्रावकाचार ४३–४६)

१ प्रथमानुयोग	–	तीर्थंकर आदि ६३ शलाकापुरुषों का जीवन, पूर्व भव एवं कथा–साहित्य।
२ करणानुयोग	–	भूगोल, खगोल, गणित एवं कर्मसिद्धान्त।
३ चरणानुयोग	–	श्रावकों एवं मुनियों की जीवनचर्या, विधि–निषेध।
४ द्रव्यानुयोग	–	आत्मा, परमात्मा से सम्बद्ध आध्यात्मिक साहित्य।

पूर्वाचार्यों ने अध्यात्म–विषयक ग्रंथों की जटिलता एवं इन्हें सम्यक् रूप से आत्मसात करने के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि के सृजन की दृष्टि से चारों अनुयोगों के स्वाध्याय का एक क्रम निर्धारित किया है। जिसके अनुसार प्रथम तीन अनुयोगों का अपेक्षित ज्ञान प्राप्त कर लेने के उपरान्त द्रव्यानुयोग के ग्रंथों का स्वाध्याय करने पर ग्रंथरचनाकार के मनोगत भाव एवं आशय को हम ठीक से हृदयंगम कर पाते हैं। जिस प्रकार पूर्ववर्ती कक्षाओं के विषय का ज्ञान न होने पर छात्र उत्तरवर्ती कक्षाओं का विषय नहीं समझ पाता है, उसी प्रकार प्रथमानुयोग में वर्णित महापुरुषों के जीवनप्रसंगों, करणानुयोग में विवेचित लोक के स्वरूप, स्वर्ग–नरक की व्यवस्थाओं एवं कर्मसिद्धान्त की वैज्ञानिकता, सूक्ष्मता के जाने बगैर मानवजीवन के विविधि विषयों पर आस्था नहीं बनती। फलस्वरूप अध्यात्म के विवेचनों में भी हम तर्क के बजाय कुतर्क करने लगते हैं। पाप–पुण्य, निमित्त–उपादान, निश्चय–व्यवहार, हेय–उपादेय के विषयों को उनके सही परिप्रेक्ष्य में समझने पर ही पूर्वाचार्यों के मंतव्य को आत्मसात करना शक्य है।

विक्रम की प्रथम शताब्दी के महान दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्द की कृतियाँ समयसार, प्रवचनसार, नियमसार एवं पंचास्तिकाय अध्यात्म के सिरमौर ग्रंथ हैं। इनमें आत्मा को परमात्मा बनाने का श्रेष्ठ ज्ञान अपने उत्कृष्ट रूप से निहित है, किन्तु इस ज्ञान को और अधिक स्पष्ट रूप

से व्याख्यायित करने के लिये इन ग्रंथों पर टीकाओं तथा स्वतंत्र ग्रंथों का सृजन परावर्ती आचार्यों द्वारा किया गया। आत्मकल्याण की उत्कृष्ट भावना से अनुप्राणित होकर तिल–तुष मात्र का परिग्रह छोड़ने वाले शांतपरिणामी जैनाचार्यों की सर्वाधिक अभिरुचि सदैव से अध्यात्म के ग्रंथों में रही है। दसवीं शताब्दी ईस्वी के आचार्य देवसेन (गणि) ने निम्नांकित ६ ग्रंथों का सृजन किया है :

१ दर्शनसार	२ भावसंग्रह	३ आलाप पद्धति
४ लघु नयचक्र	५ आराधनासार	६ तत्त्वसार।

आचार्य श्री विशुद्धसागरजी की प्रस्तुत कृति 'तत्त्व देशना' का आधार 'तत्त्वसार' है। तत्त्वसार की ७४वीं गाथा निम्नवत् है–

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण।
जो सद्दिट्ठि भावइ तो पावइ सासयं सोक्खं।।

मुनिनाथ देवसेन के द्वारा रचित 'तत्त्वसार' को सुनकर जो सम्यग्दृष्टि उनकी भावना करेगा वह शाश्वत सुख को पाएगा। इससे स्पष्ट है कि 'तत्त्वसार' आचार्य देवसेन की अध्यात्म–विषयक कृति है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री (तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परंपरा, भाग–२) ने विस्तृत उहा–पोह के उपरान्त आपका सरस्वती आराधना काल ०३३–९५३ ई. निर्धारित किया है एवं आपको आचार्य विमलसेन गणि का शिष्य बताया है। अन्य कृतियों से आपका नाम देवसेन गणि भी प्रतीत होता है। अपभ्रंश की रचना 'सुलोचना चरिउ' का श्रेय देवसेन को ही दिया जाता है, किन्तु वे देवसेन 'तत्त्वसार' के कर्ता देवसेन से भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। उनका जीवनकाल वि.सं. ११३२ (१०७५ ई.) मानना अधिक युक्तिसंगत है।

भाषा भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। जैनाचार्यों ने प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश तीनों भाषाओं में विपुल परिमाण में साहित्य का सृजन किया। प्राकृत एवं अपभ्रंश तात्कालीन जनभाषायें रहीं एवं संस्कृत अभिजात्य वर्ग की भाषा। अतः शास्त्रार्थ एवं विद्वत्–समुदाय में अपने मत को समीचीन रूप से प्रस्तुत करने हेतु संस्कृत में साहित्यसृजन जरूरी था तथा जन–जन तक अपना मंतव्य प्रेषित करने हेतु प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में भी। जहाँ जैनपरंपरा के मूलग्रंथ महावीर–कालीन जनभाषा 'प्राकृत' में हैं, वहीं उत्तरवर्ती काल में राजस्थान के विद्वानों ने तात्कालीन जनभाषा 'ढुंढारी' में भी साहित्य का सृजन किया। १९वीं शताब्दी में परिष्कृत हिन्दी

के प्रचार से पूजा एवं भक्ति साहित्य तो परिष्कृत हिन्दी में लिखा गया, किन्तु आगम–ग्रंथों की ढुंढारी भाषा की टीकाएँ/व्याख्यायें ही चलती रही। २०वीं शताब्दी में जैन साहित्य में क्रांति आई, जब अनेक ग्रंथों के हिन्दी अनुवाद हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय मुंबई, माणिकचंद ग्रंथमाला मुंबई, जैन संस्कृति संघ शोलापुर एवं भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली के माध्यम से प्रकाश में आये। अन्य अनेक प्रकाशन–संस्थाओं का योगदान भी सराहनीय रहा। इन कृतियों के प्रकाश में आने से हिन्दीभाषी श्रावक भी विषय को ठीक से हृदयंगम कर सके। आज यदि भारत में १००० के लगभग पिच्छीधारी दिगम्बर मुनि, आर्यिका, एलक, क्षुल्लक, क्षुल्लिका विहार कर रहे हैं, स्वाध्याय एवं ज्ञानार्जन के माध्यम से अपने वैराग्य को वृद्धिंगत कर रहे हैं, तो इसमें प्राचीन आचार्यप्रणीत ग्रंथों के उपलब्ध हिन्दी अनुवादों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य श्री विरागसागरजी महाराज के सुशिष्य, युवा एवं प्रभावक संत आचार्य श्री विशुद्धसागरजी ने प्राकृत भाषा की ७४ गाथाओं में निबद्ध आचार्य देवसेन (गणि) (१०वीं ई.) की आध्यात्मिक कृति 'तत्त्वसार' पर विदिशा (म.प्र.) में सन् २००४ में सम्पन्न ग्रीष्मकालीन वाचना में ४९ सारगर्भित प्रवचन दिये। जिसमें गूढ रहस्यों को अनेक इतर ग्रंथों के उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट किया गया। प्रस्तुत कृति इन प्रवचनों का ही संकलन है।

कृति के प्रारंभ में ही आप रेखांकित करते हैं कि –

एक गूढ़वादी के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत बड़ा विद्वान् हो और न ही वर्षों तक व्याकरण तथा न्याय में सिर खपाकर वह सुयोग्य बनने का ही प्रयत्न करता है, किन्तु मानव–समाज को दुःखी देख आत्म–साक्षात्कार का अनुभव ही उसे उपदेश देने के लिये प्रेरित करता है और व्याकरण आदि के नियमों का विशेष विचार किये बिना जनता के सामने वह अपने अनुभव रखता है। अतः उच्चकोटि की रचनाओं में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा को छोड़कर समय की प्रचलित भाषा को अपनाना महत्त्व से खाली नहीं है। यह कथन, विषय की विवेचना में, जन–भाषा के महत्व को दर्शाता है।

गाथा क्रमांक ४ पर दिये गये चतुर्थ प्रवचन (पृ.१४–१५) में आपने पंचपरमेष्ठी की आराधना, मंत्रों के विभिन्न प्रकार आदि के बारे में द्रव्य संग्रह, श्रावकाचार आदि के माध्यम से सरल, सुबोध शैली में विवेचन किया है।

गाथा क्रमांक ५ की विवेचना में उदाहरण के माध्यम से विषय को स्पष्ट करने की शैली देखिये :

''जब तक भोगाभिलाषा अंतरंग में विद्यमान है, तब तक योग धारण संभव नहीं है। यदि किसी ने द्रव्य भेष को स्वीकार भी कर लिया, तो वह सफल नहीं हो सकेगा'' आचार्य योगीन्दु देव ने 'परमात्म प्रकाश' ग्रंथ में लिखा है – जिसके हृदय में मृगलोचनी स्त्री निवास कर रही है, वहाँ ब्रह्म–निवास कहाँ? कारण, **एक म्यान में दो तलवारें नहीं रखी जातीं, एक समय में दो मौसम नहीं होते। उसी प्रकार एक ही साथ आत्मानुभव एवं विषयानुभव नहीं होता, एक समय में एक ही उपयोग हुआ करता है।**

कर्मबंध की चर्चा तो बहुत होती है किन्तु अशुभ कर्मों के उदय में आते ही पुराने स्वाध्यायी भी विचलित हो जाते हैं। ऐसे ज्ञानी बंधुओं को मोक्ष का पथ दिखाते हुए गाथा ५१ के प्रवचन (पृ.१६८–१६९) में मुनिश्री सचेत करते हुए कहते हैं : ''भो चेतन ! **तू क्यों बिलख रहा है? जो कर्म का बंध तुमने पूर्व में किया था, वह आज उदय में आकर खिर गया। प्रसन्न हो जाओ कि आज मैं हल्का हो गया।''**

भो ज्ञानी! **कर्म के फल को भोगते समय न राग करो, न द्वेष करो। जो कर्म के विपाक में राग–द्वेष नहीं करता, वह पूर्व–संचित कर्म का विनाश कर देता है एवं नये कर्म का बंध नहीं करता।** यदि राग–द्वेष करते रहोगे तो कभी मोक्ष नहीं होगा, क्योंकि पूर्व के कर्म नष्ट तो हुए, परंतु नवीन कर्म का बंध हो गया। जो मुमुक्षु जीव होता है, वह पूर्व को तो नाश करता है और वर्तमान में किवाड़ बंद कर लेता है, इसी का नाम संवर है। संवर सहित निर्जरा मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है और संवर से रहित निर्जरा मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है। संवर एवं निर्जरा की प्राप्ति बिना तपस्या के संभव नहीं है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है – 'तपसा निर्जरा च' तप से निर्जरा भी होती है और संवर भी होता है। इसलिए, हे मनीषियों! संवर की ओर बढ़ो, निर्जरा की ओर बढ़ो, आस्रव को छोड़ो। आस्रव हेय तत्त्व है, संवर–निर्जरा–मोक्ष उपादेय तत्त्व हैं।

भाषा पर आपका पूर्ण अधिकार है। गाथा ५४–५६ पर प्रवचन करते हुए किया गया प्रयोग देखिये (पृ.१७८) : **भोगी और योगी में इतना ही अन्तर होता है कि भोगी पर को दोष देता है और योगी कर्म–विचित्रता कहके स्व में प्रवेश कर जाता है। भोगी जलता ही जलता जाता है**

और योगी जलते हुए भी जल बन जाता है।

भक्ति के महत्त्व को आपने क्रमांक ६६ की विवेचना (पृ. १४८) में अत्यंत सुन्दर रूप में व्यक्त किया है : **ध्यान रखना जीवन में, भगवान् में चमत्कार नहीं होता, प्रतिमाओं में चमत्कार नहीं होता, बल्कि जितनी निर्मल एवं विशुद्ध भावों से भक्ति की जाती है, आपकी वह भक्ति, मनीषियो! चमत्कार बन जाती है।**

संक्षिप्ततः इस महान कृति पर किये गये मर्मस्पर्शी प्रवचनों का यह संकलन जैन साहित्य की अमूल्य निधि है। जटिल प्रश्नों को, प्रामाणिकता की रक्षा करते हुए, सरल, सहज, सुबोध रूप में प्रस्तुत कर मुनिश्री ने स्वाध्याय–रसिकों पर महान उपकार किया है। निश्चय ही पूज्य गुरुदेव ने 'गागर में सागर' भरा है। ऐसे गुरुवर के चरणों में त्रिबार नमोस्तु।

डॉ. अनुपम जैन
प्राध्यापक–गणित
मानद सचिव, कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ,
५८४, महात्मा गाँधी मार्ग, इन्दौर

विषयानुक्रमणिका

ध्यातव्य

'एक गूढ़वादी के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह बहुत बड़ा विद्वान् हो और न वर्षों तक व्याकरण तथा न्याय में सिर खपाकर वह सुयोग्य बनने का ही प्रयत्न करता है, किन्तु मानव–समाज को दु:खी देख आत्म–साक्षात्कार का अनुभव ही उसे उपदेश देने के लिए प्रेरित करता है और व्याकरण आदि के नियमों पर विशेष विचार किये बिना जनता के सामने वह अपने अनुभव रखता है। अत: उच्चकोटि की रचनाओं में प्रयुक्त की जाने वाली भाषा को छोड़कर समय की प्रचलित भाषा को अपनाना ही महत्त्व रखता है।' अध्यात्म में भाषा नहीं, भाव प्रधान है। भाषा का बोध विद्वता नहीं, विषय का बोध विद्वत्ता है।

निवेदन

इस कृति में प्रमादवश व अज्ञानतावश टंकण/मुद्रण/शब्द–संशोधन/शब्द संयोजन/ शब्द विन्यास में रही त्रुटियों के लिये सुधी पाठक–विद्वत्‌जनों से क्षमायाचना करता हूँ कि वे मुझ अल्पज्ञ को क्षमा करें और उनसे अनुरोध करता हूँ कि वे त्रुटियों का यथास्थान संशोधन करें तथा मुझे अवगत करायें ताकि आगामी संस्करण में उन संशोधनों को समाहित किया जा सके। माँ जिनवाणी की सेवा में मेरा यह शिशुवत् प्रयास है। अत: त्रुटियों से अवगत कराने वाले साधु/श्रावक का मैं कृतज्ञ होऊँगा।

– जिनेन्द्र कुमार जैन
ए–६०, पद्‌मनाभनगर, भोपाल–४६२०२३
दूरभाष : ०७५५–२७५९०८४

मंगलाचरण

झाणग्गिदड्ढकम्मे णिम्मलसुविसुद्धलद्धसब्भावे ।
णमिऊण परमसिद्धे सुतच्चसारं पवोच्छामि ॥१॥

अर्थ : आत्मध्यान–रूपी अग्नि से ज्ञानावरणादि कर्मों को दग्ध करने वाले, निर्मल और परम–विशुद्ध आत्म–स्वभाव को प्राप्त करने वाले, परम–सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार करके श्रेष्ठ तत्त्वसार को (मैं देवसेन) कहूँगा।

प्रवचन

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। तीर्थंकर–शासन को प्रवहमान करनेवाले आचार्य भगवन्तों की श्रेणी में आचार्य श्री देवसेन स्वामी का नाम उल्लेखनीय है। अध्यात्म–विद्या के परम ज्ञाता कुंदकुंद स्वामी का जिनके ऊपर पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है– तत्त्वसार ग्रंथ के अध्ययन से यह बात ज्ञात हो जाती है।

देवसेन स्वामी नय, तर्क और अध्यात्म के विशद् विद्वान् आचार्य थे। इन्होंने नयचक्र, आलापपद्धति, आराधनासार, भाव संग्रह, दर्शनसार आदि ग्रन्थों का प्राकृत व संस्कृत भाषा में सृजन किया। यह उनका परमोपकार था। आज हम सभी उन्हीं आचार्य भगवान् कृत 'तत्त्वसार' जी का वाचन करने जा रहे हैं। यह अनुपम ग्रंथ है, जिसमें स्वतत्त्व–परतत्त्व का निर्मल कथन किया है। आत्मा की ध्रुव सत्ता ज्ञायकस्वरूप है, अतः यह ग्रंथराज मुमुक्षु जीवों के अज्ञान–तिमिर का नाशक है।

भो ज्ञानी ! जिनदेशना भव्य जीवों के लिये नरक में भी देशनालब्धि का कारण बनती है। अतः जब जिनवाणी का घोष होता है तब कल्याणेच्छुकों को पूर्ण शान्त होकर श्रवण करना चाहिए। कभी–कभी प्रारब्ध अवस्था में तत्त्व समझ में नहीं आता, फिर भी हमें श्रवण करते जाना चाहिए ।

ग्रंथराज सर्वार्थसिद्धि में कहा है कि मिट्टी के नवीन सकोरा में पानी की एक बूँद डालने पर वह दिखती नहीं है, तो क्या वह पानी की बूँद सकोरे में नहीं है? है, परन्तु सकोरे की नवीनता के कारण वह अन्दर प्रवेश कर गई, दिखती नहीं है। जैसे–जैसे पानी पड़ता जाता

है, वैसे–वैसे वही पानी दिखने लगता है। इस प्रकार जब हम प्रारब्ध अवस्था में तत्त्वज्ञान को सुनते हैं, तब कुछ मालूम नहीं पड़ता, पर जैसे–जैसे अध्ययन बढ़ता जाता है तब वह ज्ञान विद्वान् के रूप में प्रकट हो जाता है। साथ ही, सिद्धान्त कहता है कि **जिनवाणी के श्रवण मात्र से कर्मों की असंख्यात गुण–श्रेणी निर्जरा होती है।** कारण, कि जब तक सद्शास्त्र का श्रवण करेगा तब तक अशुभ मन–वचन–काय की प्रवृत्ति से आत्मा की रक्षा हो रही है। साथ ही शुभास्रव होता है और अशुभ कर्मों की निर्जरा भी होती है। इसलिए श्रावकों व साधकों के लिए परमागम का श्रवण, चिंतन, मनन करते ही रहना चाहिए।

भो ज्ञानी ! जब आचार्य ग्रंथ लिखते हैं, तब वे सर्वप्रथम छः बातों का ध्यान रखते हैं– मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम और कर्त्ता। उसी परम्परा के अनुसार देवसेन स्वामी ने मंगलाचरण किया। मंगलाचरण इसलिये किया जाता है कि जिससे हमारा कार्य मंगलभूत हो। पूर्वाचार्यों ने मंगल करने के भी चार कारण कहे हैं। सर्वप्रथम है– नास्तिकता का परिहार। इसका तात्पर्य है कि ग्रंथकर्त्ता आस्तिक है। सर्वज्ञदेव, वीतरागवाणी, निर्ग्रन्थ गुरु तथा आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता पर हमारी आस्था है। छः द्रव्य, पंचास्तिकाय, सात तत्त्व, नौ पदार्थ से युक्त लोक है। इस प्रकार का श्रद्धान तभी प्रकट दिखता है जब हम अपने इष्टदेव का स्मरण करते हैं। दूसरा हेतु है– शिष्टाचार का पालन। शिष्ट पुरुष अपने उपकारी का तथा इष्ट का गुण–स्मरण करके अपने आपको सौभग्यशाली मानते हैं। तीसरा हेतु है– पुण्य की प्राप्ति। मंगलोत्तम शरणभूत पंचपरमेष्ठी का गुणकीर्तन करने से विशिष्ट पुण्य की प्राप्ति होती है। चौथा हेतु है– निर्विघ्न कार्यसिद्धि। पंचपरमेष्ठी की आराधना करने से असाताकर्म का क्षय व उपशम होता है, जिससे कार्य की सिद्धि निर्विघ्न होती है।

पुण्य के योग से कार्य की निर्विघ्न सिद्धि होती है, परन्तु अच्छे कार्य करने वालों के यहाँ भी विघ्न देखा जाता है, ऐसी शंका नहीं करना। पुण्य कार्य करने से विघ्न नहीं आते, अपितु पूर्व में किये अशुभ कर्म के विपाक के कारण विध्न आते हैं तथा यह भी नहीं सोचना कि पाप करने वालों के सभी कार्य निर्विघ्न सम्पन्न होते हैं, ऐसा भी नहीं। पापकर्म से कभी भी कार्य की निर्विघ्न सिद्धि नहीं होती, अपितु उस व्यक्ति के पूर्वकृत कर्मों की प्रबलता का उदय चल रहा है।

आगम में मंगल के मुख्य दो भेद हैं– निबद्ध मंगल, अनिबद्ध मंगल। ग्रंथकर्त्ता ग्रंथ के प्रारंभ में लिखकर जो मंगल करता है, वह निबद्ध मंगल कहलाता है तथा बिना लिखकर

अन्तरंग में ही पंच–परमेष्ठी के गुणों का स्मरण कर लेना, मात्र जय बोलना, अनिबद्ध मंगल कहलाता है। जो पापों को गलाये एवं उत्कृष्ट सुख को प्रदान करे, उसे मंगल कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, नाम एवं स्थापना के भेद से मंगल के छः भेद भी श्रुत में कहे हैं।

१. द्रव्य मंगल – मांगलिक–द्रव्य को द्रव्यमंगल कहते हैं। उसके तीन भेद हैं– सचित्त–द्रव्य मंगल, अचित्त–द्रव्य मंगल, मिश्र–द्रव्य मंगल। इन तीनों के लौकिक व अलौकिक की अपेक्षा दो भेद किये हैं।

सचित्त परमार्थ मंगल – समवसरण में विराजमान साक्षात् तीर्थेश व निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिराज सचित्त परमार्थभूत मंगल हैं।

अचित्त परमार्थ मंगल – अरहंत प्रतिमा, अष्ट मंगल द्रव्य, पिच्छी, कमण्डलु इत्यादि।

परमार्थभूत मिश्र मंगल – पिच्छी, कमण्डलु से युक्त मुनिराज, समवसरण सहित तीर्थंकर भगवान् इत्यादि।

लौकिक सचित्त मंगल – कुँवारी कन्या, घोड़ा इत्यादि।

अचित्त लौकिक मंगल– पूर्ण घट, दर्पण, श्वेत छत्र, श्वेत वर्ण, सिद्धार्थ (पीले सरसों), वंदनवार, ध्वजा, घंटा, झालर आदि।

मिश्र लौकिक मंगल – वस्त्राभरण से युक्त कुँवारी कन्या, सजा हुआ घोड़ा आदि।

२. क्षेत्र मंगल – जिस भूमिप्रदेश पर तीर्थंकर भगवान् के पंचकल्याणक हुए हों अथवा सामान्य केवली की निर्वाणभूमि, देशनाभूमि, तीर्थभूमि, अतिशयक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र, मुनिराज की समाधिस्थलादि क्षेत्रमंगल हैं।

३. काल मंगल – जिस काल में तीर्थंकर भगवान् व सामान्य केवली के पंचकल्याणक उत्सव हों उन–उन तिथियों को काल–मंगल कहते हैं।

४. भाव मंगल – पंचपरमेष्ठी के गुण–स्तवन व संयम–चारित्र धारण करने के परिणामों का होना भाव–मंगल है।

५. नाम मंगल – महापुरुषों के श्रेष्ठ नामों का उच्चारण करना, उनका जयनाद करना, जैसे– नमः श्री वर्द्धमानाय, नमः श्री पार्श्वनाथाय आदि। तीर्थंकरों के एक हजार आठ शुभ नामोच्चारण को नाम मंगल कहते हैं।

६. स्थापना मंगल – पंचपरमेष्ठियों के बिम्बों की जो स्थापना की जाती है, वह स्थापना–मंगल है। स्थापना तदाकार और अतदाकार के भेद से दो प्रकार की होती है।

तदाकार यानि उस परमेष्ठी का आकार निर्मित करना, जैसे–भगवान् आदिनाथ स्वामी की प्रतिमा तैयार करके आराधना करना। जैन–शासन में रजतमय, स्वर्णमय, रत्नमय, पाषाणमय, अष्टधातु, मणि आदि निर्मित जिनबिम्ब पूज्यता को प्राप्त हैं। अन्य कागज, प्लास्टिक अथवा कैमिकल से बनाई गई प्रतिमा को प्रतिष्ठाशास्त्र में पूज्यनीय स्वीकार नहीं किया गया है। साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि आचार्य, मुनियों व भगवान् की जो फोटो तथा तस्वीरें घरों व मंदिरों में लगी हुई हैं वे प्रतीक मात्र हैं। वह आदर/सम्मान योग्य तो हैं, परन्तु अष्ट–द्रव्य द्वारा उनकी पूजा नहीं करना चाहिए। वे पूजने योग्य नहीं हैं। यदि कोई उनकी पूजा की प्रेरणा करता है तो वह आगम के विपरीत प्रेरणा समझना। जैनशासन में जो प्रतिमा पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, सूरिमंत्र से मंडित हो जाती हैं वही पूजा करने योग्य स्वीकार की गई हैं। जिस प्रतिमा में सूरिमंत्र नहीं दिया गया, वह आराधना करने के अयोग्य है। कागज की तस्वीरों में कोई प्रतिष्ठा नहीं होती। अतः आगम को समझें, तस्वीरों के लिए अर्घ्य चढ़ाने या पूजा करने की प्रेरणा न करें, आगम–व्यवस्था पर ध्यान दें।

दूसरी अतदाकार स्थापना वह होती है जिसमें आकार तो नहीं होता, परन्तु 'यह वह है'– इस प्रकार की कल्पना करके चावल, पाषाण आदि में स्थापना करके आराधना की जाती है। परन्तु वर्तमान हुण्डावसर्पिणी काल में अतदाकार पूजा करने का निषेध है– ऐसा आचार्य वसुनंदि स्वामी ने 'वसुनंदी श्रावकाचार' में उल्लेख किया है, क्योंकि इस आधार पर घर–घर में पाषाणों की पूजा प्रारंभ हो जायेगी, मिथ्यादृष्टि देवी–देवताओं एवं देवाधिदेव अरहंतदेव की आराधना में कोई अन्तर समझ में नहीं आयेगा। तात्पर्य यह है कि वर्तमान में तदाकार प्रतिष्ठित प्रतिमा ही अर्घ्य (पूजन) योग्य है।

हेतु – ग्रन्थ लिखने का कारण प्राणी–मात्र के अज्ञान–तिमिर का नाश हो, सद्बोध की प्राप्ति हो। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझें, यही हेतु है।

निमित्त – अर्थात् किसके उद्देश्य को मुख्य करके ग्रन्थ का सृजन किया गया है। जैसे – 'वृहद् द्रव्यसंग्रह' ग्रंथ सेठ सोम के एवं 'परमात्म प्रकाश' ग्रंथ मुनि प्रभाकर के सम्बोधनार्थ लिखा गया है।

परिमाण – अर्थात् कितने श्लोकप्रमाण ग्रंथ रचना है। जैसे– तत्त्वसार जी में ७४ गाथासूत्र हैं।

नाम – जो वाचना चल रही है उस ग्रंथ का नाम 'तत्त्वसार' जी है।

कर्त्ता – यानि ग्रंथ–प्रणेता। सर्वप्रथम वक्ता का ज्ञान श्रोता को कराना अनिवार्य है। किसी भी व्यक्ति की मधुर वाणी, वाक्‌पटुता को देखकर प्रभावित नहीं होना चाहिए। सर्वप्रथम वक्ता की प्रामाणिकता को देखना चाहिए कि आगमानुकूल बोलते हैं या नहीं। आगम–वचन हैं या नहीं। **वक्ता की प्रामाणिकता से ही वचनों में प्रामाणिकता होती है।** परमागम में तीन ही प्रधान वक्ता स्वीकार किये हैं। वक्ता या कर्त्ता एक ही बात है। प्रथम ग्रंथकर्त्ता तीर्थंकर भगवान्, उत्तरग्रंथकर्त्ता गणधर परमेष्ठी, प्रतिउत्तर ग्रंथकर्ता आचार्य परमेष्ठी। इनके अलावा कोई ग्रंथकर्त्ता स्वीकार नहीं किये। हाँ, इन तीन वक्ताओं के अनुसार ही अन्य कोई वचन कहे, तो वे भी प्रामाणिक हैं। परन्तु किसी का व्यक्तिगत चिंतवन प्रामाणिक नहीं स्वीकारा जा सकता। जैसे कि पंडित दौलतरामजी ने 'छहढाला' जी में लिखा है–

''पै कुछ कहूँ कही मुनि यथा।''

मैं वही कहूँगा जैसा कि पूर्व मुनिराजों ने कथन किया। इस पंक्ति ने वचनों की प्रामाणिकता को घोषित किया है। इस प्रकार हमारे आचार्यों ने मंगल, निमित्त, हेतु, परिमाण, नाम, कर्त्ता इन छः बातों का पूर्व कथन करके ही ग्रंथ का प्रारंभ किया है। उसी क्रम का ध्यान रखते हुए आचार्य देवसेन स्वामी ने भी सर्वप्रथम मंगल–सूत्र कहा है।

भो ज्ञानी ! सर्वप्रथम सिद्धों को नमस्कार किया है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि अरहंतों को नमस्कार करना चाहिए था, क्रम का उल्लंघन कैसे किया ? उत्तर यही है कि जिसे जो विद्या अभीष्ट होती है वह उसी विद्या के ज्ञाता को नमस्कार करता है। यह ग्रंथ अध्यात्मशास्त्र है। अध्यात्मशास्त्र में शुद्धात्मा की प्रधानता से कथन किया जाता है, इसलिये यहाँ सर्वप्रथम शुद्ध सिद्धात्मा को नमस्कार किया गया है। यहाँ पर यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नमस्कार किस नय–अपेक्षा से, किसे किया गया था। अतः व्यवहारनय से पंचपरमेष्ठी नमस्करणीय हैं, निश्चयनय से निज आत्मा वंदनीय है, परन्तु परम शुद्ध निश्चयनय से न कोई वंद्य है, न वंदनीय है। वंद्य–वन्दक भाव व्यवहारदृष्टि से है।

इस प्रकार प्रथम गाथा में मंगल प्रतिज्ञा–वाक्य के माध्यम से ध्यानाग्नि के द्वारा, जिन्होंने कर्म–कलंक को नाश कर स्वात्मोपलब्धि–सिद्धि को प्राप्त किया है, ऐसे परम सिद्धों को नमस्कार किया है।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय ।।

१ १ १

अनेक भेदरूप तत्त्व

तच्चं बहुभेयगयं पुव्वायरिएहिं अक्खियं लोए।
धम्मस्स वत्तणट्ठं भवियाण य बोहणट्ठं च ॥२॥

अर्थ: इस लोक में पूर्वाचार्यों ने धर्म का प्रवर्तन करने के लिए तथा भव्यजीवों को समझाने के लिए तत्त्व को अनेक भेद–रूप कहा है।

प्रवचन

मनीषियो !

आचार्य देवसेन महाराज ने 'तत्त्वसार' ग्रन्थ की द्वितीय गाथा में तत्त्व के बहुभेद कहे हैं। अतः सर्वप्रथम हमें यह समझना आवश्यक है कि तत्त्व किसे कहते हैं ? आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में तत्त्व शब्द का बहुत सुंदर विश्लेषण किया है –

'तत्त्व' शब्द भाव–सामान्य का वाचक है, क्योंकि 'तत्' सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है। अतः उसका भाव 'तत्त्व' कहलाया, 'तस्यभावस्तत्वम्'। किसका भाव है ? वस्तु का यानि जो वस्तु का स्वभाव है, वही तत्त्व है। यहाँ तत् पद से कोई भी पदार्थ लिया गया है। आशय यह है कि जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है, उसका उस रूप होना ही 'तत्त्व' शब्द का अर्थ है।

भो ज्ञानी ! पदार्थ का धर्म त्रैकालिक होता है, वह कभी भी विनाश को प्राप्त नहीं होता, मात्र पर्याय का ही परिणमन होता है। अज्ञानीजीव पर्याय के परिणमन को ही पदार्थ का अभाव मानकर बिलखता है, कभी प्रसन्न होता है, पर यह नहीं समझता कि अविनाशी का न कभी विनाश हुआ है, न होगा, न हो रहा है। परिणमन तो वस्तु का स्वभाव है, वह षट्हानि–वृद्धि रूप चल रहा है। पर्यायदृष्टि से उपजना, नष्ट होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह तो पदार्थ का अनादि धर्म है। उस धर्म को समझना ही वास्तविक तत्त्वनिर्णय है। **तत्त्व को पढ़ लेना, पढ़ा देना सामान्य विषय है। इस क्रिया से कभी भी शांति प्राप्त नहीं होती। शांति तो तत्त्वनिर्णय से प्राप्त होती है।** क्या–क्या, कैसा–कैसा परिणमन चल रहा है ? द्रव्य में द्रव्यरूप, गुण में

गुणरूप, पर्याय में पर्यायरूप त्रय–रूपता होना, फिर भी एकरूपता दिखती है, क्योंकि द्रव्य को ही देखते हैं, अन्य को नहीं। ज्ञानगुण में नाना संकल्प–विकल्प विचाररूप परिणमन चल रहा है। जीव जिस पर्याय में है उस पर्याय में बालक, युवा, वृद्धत्व–रूप परिणमन प्रतिक्षण चल रहा है। स्थूलरूप से तो व्यक्ति समझ रहा है, पर सूक्ष्म–परिणमन तो प्रतिक्षण चल रहा है, जो कि परोक्ष ज्ञान का विषय नहीं बन पा रहा, परन्तु एक क्षण भी ऐसा नहीं जब वस्तु परिणमन न कर रही हो। भो चैतन्य ! उसी में जीव शुभाशुभ भाव बनाकर नवीन–नवीन पर्यायों का बन्ध भी कर रहा है। पूर्वबद्ध कर्मों के विपाक का अनुभव भी कर रहा है। परन्तु जीवत्व–भाव पारिणामिक है। वह अपने स्वभाव का कभी भी अभाव नहीं करता। जैसे कि मिट्टी खदान से निकाली, पानी डालने पर परिणमन चला मिट्टी में, परन्तु फिर भी मिट्टी नहीं मिटी। यह पारिणामिक भाव है, इसका कभी भी अभाव नहीं होता, वह त्रैकालिक हुआ करता है। स्वभाव का विभावरूप परिणमन तो नया होता है, परन्तु अभाव नहीं होता। पुद्गलद्रव्य स्वभाव से विभाव में और विभाव से स्वभाव में उभयरूप परिणमित होता है; परन्तु जीवद्रव्य में विभावरूप से स्वभावरूप परिणमन होता है तथा विभाव से स्वभावरूप हो जाता है। जब स्वभाव परिणमन हो जाता है, फिर विभावरूप परिणमन जीवद्रव्यों में कभी नहीं होता। वह दग्ध–बीजवत् हो जाता है। जैसे जो बीज जल गया हो वह अंकुरित नहीं होता, उसी प्रकार जिस जीवद्रव्य के कर्मबीज दग्ध हो चुके हैं, वह पुनः संसार में संसारी बनकर उत्पन्न नहीं होता। वह सिद्ध–अवस्था को प्राप्त हो जाता है अर्थात् वहाँ पर शुद्ध चेतना को प्राप्त हो जाता है, परन्तु चेतना का अभाव नहीं होता, क्योंकि जीवपदार्थ का स्वभाव चेतना है, अतः स्वभाव स्वभावी में त्रैकालिक रहता है। स्वभाव को प्राप्त हो जाना ही तत्त्वसार है।

भो ज्ञानी ! जीवतत्त्व की विभाव दशा में कभी क्रोधरूप, कभी कामरूप अंतरंग भावों का परिणमन हुआ करता है। मन के अंतःकरण में प्रवेश कर सूक्ष्मदृष्टि से चिंतन कर देखने पर मालूम चलेगा कि मन कितनी तीव्र गति से गतिमान है। किस–किस प्रकार से कहाँ–कहाँ जा रहा है? क्षण में भवन में, क्षण में वन में। मन का कुछ विषय इतना सूक्ष्म है कि व्यक्ति स्वयं अपने मन के विकल्पों को नहीं पकड़ पाता। अवधिज्ञान का तो विषय ही नहीं है मन, परन्तु मनःपर्ययज्ञानियों में कुटिल मन के विषयों को ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी भी नहीं पकड़ पाते। हाँ, विपुलमती मनःपर्ययज्ञानी वक्र–से–वक्र, सरल–से–सरल दूसरे के मनोगत विषयों को जानते

हैं तथा मन के चिंतित, अर्ध चिंतित एवं अचिन्तित विषयों को पकड़ लेते हैं। भो ज्ञानी ! मन की विचित्रता को देखो, जो जीव जिस विषय को कभी नहीं जानता था, वहाँ भी पहुँच जाता है। पवित्र कार्य अल्पगति से करता है परन्तु अशुभ कार्य में शीघ्र गमन कर जाता है, क्योंकि मन की चपलता विद्युत से भी तेज है।

भो चेतन ! जीवद्रव्य को अधःपतन की ओर ले जाने वाला कोई है तो चित्त की चंचल वृत्ति है। वह मन–वचन–काय भेद से युक्त है। इस अपेक्षा तत्त्व के सत्तावन भेद हो जाते हैं। वैसे तत्त्व के मूल भेद दो ही हैं– जीव और अजीव। दोनों के संयोग से ही शेष भेद उत्पन्न होते हैं। यहाँ आचार्य देवसेन स्वामी तत्त्वों के लिए बहु भेद युक्त कह रहे हैं। वैसे पदार्थों के स्वभावगत तत्त्वों की गणना करना चाहें तो वे असंख्यात–लोक–प्रमाण भेद हैं। यहाँ संक्षेप में समझना है।

भेददृष्टि से तत्त्व सात कहे। पदार्थों की अपेक्षा तत्त्व के नौ भेद हैं, धर्मों की अपेक्षा दस भेद हैं, चारित्र की अपेक्षा तेरह भेद हैं, द्रव्यों की अपेक्षा छः भेद हैं, पंचास्तिकाय की अपेक्षा पाँच भेद हैं, श्रावकों की प्रतिमा–अपेक्षा ग्यारह भेद हैं, अनुप्रेक्षाओं की अपेक्षा बारह भेद हैं। गुणस्थान की अपेक्षा चौदह तथा मार्गणा की अपेक्षा चौदह भेद हैं। आस्रवदृष्टि से सत्तावन, संवर अपेक्षा भी सत्तावन भेद तत्त्व के हैं। रत्नत्रय धर्म की अपेक्षा तीन भेद हैं, आराधना एवं पुरुषार्थ की अपेक्षा तत्त्व के चार–चार भेद हैं अथवा प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग के भेद से तत्त्व के चार भेद एवं चार दानों की अपेक्षा भी तत्त्व के चार भेद हैं, तथा षट् आवश्यकों की दृष्टि से छः भेदगत तत्त्व है।

इस प्रकार ग्रंथकर्त्ता आचार्य देवसेन महाराज कह रहे हैं कि तत्त्व अनेक भेदरूप है। यह तत्त्व जो मैंने तत्त्वसार ग्रंथ में लिखने का विचार किया है अथवा पूर्वाचार्यों ने कहा है– वह यश, पूजा के लिये नहीं लिखा, अपितु भव्य जीवों के लिये तत्त्वबोध कराने तथा धर्म के प्रवर्तन हेतु लिखा है। जब तक तत्त्वज्ञान नहीं होगा, तब तक तत्त्वदृष्टि नहीं बन सकती। वह तत्त्वज्ञान सद्शास्त्रों के अध्ययन, मनन, चिंतवन से ही संभव है। **तत्त्वज्ञान से युक्त ज्ञानीजनों के माध्यम से ही धर्म का प्रवर्तन होता है, बिना ज्ञान के धर्म का प्रचार नहीं हो सकता।**

अस्तु, भो चैतन्य ! प्रत्येक धर्मात्मा का कर्त्तव्य बनता है कि तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके उसके विकास हेतु जन–जन के अंदर तक उसका प्रवेश करायें। हमारे आचार्यों ने कितना

श्रुत–संवर्धन किया, कितनी उनके अन्दर धर्म–वात्सल्यता थी। उन्होंने करुणापूर्वक अपने अमूल्य समय को निकालकर सहज भाव से जिनवाणी का सृजन कर हम लोगों का परम उपकार किया है। उस उपकार को कभी भी भुलाया नहीं जा सकता। **आचार्य भगवंतों ने हमें श्रुत दिया है, हमारा भी कर्त्तव्य है कि उसका अध्ययन कर तत्त्वज्ञान को प्राप्त करें, यही सच्ची श्रुतभक्ति होगी।**

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

q q q

तत्त्व के मुख्य दो भेद

एगं सगयं तच्चं अण्णं तह परगयं पुणो भणियं ।
सगयं णिय–अप्पाणं इयरं पंचावि परमेट्ठी ।।३।।

अर्थ: एक स्वगत तत्त्व है तथा फिर दूसरा परगत तत्त्व कहा गया है। स्वगत तत्त्व निज आत्मा है, दूसरा परगत तत्त्व पाँचों ही परमेष्ठी हैं।

प्रवचन

मनीषियो !

तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी की अमृत वाणी का रसास्वादन हम सभी कर रहे हैं। आज अहोभाग्य है कि आचार्यों की पावन अनुकम्पा से अर्हत् प्रवचन सुनने का लाभ प्राप्त हो रहा है। यथार्थ में तो पुण्यशाली वे नहीं जो भौतिक द्रव्यों को प्राप्त कर उनके ही उपयोग में अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को नष्ट कर रहे हैं। वे जीव तो नवीन पापकर्म का ही बंध कर रहे हैं। पुण्यशाली वे हैं जो अपनी आत्मा को रत्नत्रय धर्म से पवित्र कर रहे हैं तथा रत्नत्रय धर्म की देशना सुन रहे हैं। जो सत् शास्त्र का विनयपूर्वक श्रवण करता है, वह ज्ञानावरण कर्म का उपशमन करके कालांतर में केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

तत्त्वसार जी ग्रंथ की तीसरी गाथा में आचार्य देवसेन ने स्वगत व परगत तत्त्व का कथन किया है, जो परमार्थ–दृष्टि, स्वस्वभाव–लीनता इत्यादि शब्दों में समझा जाता है। सामान्य रूप से आत्मा की निजाराधना स्वतत्त्व है। अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचों परमेष्ठी परगत तत्त्व हैं। इनकी आराधना करना परतत्त्व आराधना है। जिज्ञासा हो सकती है कि पंचपरमेष्ठी भगवान् को परगततत्त्व क्यों कहा है ? भो ज्ञानी ! जिसे परमार्थ–ज्ञान नहीं है उसके अन्दर यह प्रश्न आ सकता है, परन्तु जिसने आत्मतत्त्व का ज्ञान कर लिया है वह समझता है कि निज तत्त्व एकमात्र निज शुद्धात्मा ही है।

भो चेतन ! पंचपरमेष्ठी वन्दनीय, पूज्यनीय हैं, फिर भी वे स्वतत्त्व नहीं हैं, क्योंकि वे निज आत्मा से पृथक् हैं, भिन्न हैं, अभिन्न नहीं। सामान्य भिन्न नहीं, अत्यन्त भिन्न हैं। उनका चतुष्टय तेरे निज चतुष्टय से पृथक् है। परमेष्ठियों का स्वभाव–संबंध निज से नहीं है। मात्र श्रद्धा–श्रद्धेय संबंध है, स्वभाव–संबंध अविनाभाव–संबंध होता है। अविनाभाव का कभी भी पृथक्पना

नहीं होता। संयोग–संश्लेष और श्रद्धा–श्रद्धेय सम्बन्ध भिन्न–भिन्न दो के बीच हुआ करता है। जो भिन्न है, वह पर है; इसलिए पंचपरमेष्ठी को परगत तत्त्व कहा है। वे हमारे आराध्य हैं, पर साध्य तो एकमात्र निज परमात्म भाव ही है। उस परमसाध्य आत्मदेव की सिद्धि का साधन, पंचपरमेष्ठी की आराधना है, परन्तु साध्यभूत तो मात्र निज आत्मा ही है।

भो ज्ञानी ! वास्तविक दृष्टि में कर्ममल–कलंक–जनित भावों से उत्पन्न हुये संकल्प–विकल्पों से रहित निज आत्मा ही स्वतत्त्व है। पंचपरमेष्ठी–स्वरूप परगत–तत्त्व पाँच प्रकार के हैं। छियालीस गुणरूप लक्षण से लक्षित, केवलज्ञान भास्कर, सर्वज्ञ, वीतराग, सकल परमात्मा, अठारह दोषों से रहित, चराचर विश्व के युगपत् ज्ञाता–दृष्टा, प्रथम परमेष्ठी, अरहंत देव परगत तत्त्व हैं जो कि चार घातिया कर्मों से रहित हैं एवं अनंतचतुष्टय से युक्त हैं।

द्वितीय परमेष्ठी सिद्ध भगवान् निकल–परमात्मा हैं जो कि सम्पूर्ण कर्मों से रहित हैं, लोक के अग्रभाग पर विराजमान हैं, जो कि अब कभी भी संसार में नहीं आयेंगे, वे दग्धबीजवत् हैं। जिस प्रकार जला हुआ बीज पुनः उत्पन्न नहीं होता, उसी प्रकार जिस आत्मा के कर्मबीज नष्ट हो गये हैं वह भवांकुर को प्राप्त नहीं होती। कितने ही कल्पकाल व्यतीत हो जायें, कर्मातीत आत्मा सिद्ध परमेश्वर अब पुनः उत्पन्न नहीं होंगे। जो लोग यह कहते हैं कि संसार के दुःखों को दूर करने के लिए परमात्मा पुनः–पुनः अवतार लेते हैं– इस बात को श्रमण संस्कृति स्वीकार नहीं करती। जैनदर्शन की यह मान्यता है कि जब संसार में मिथ्यात्व की वृद्धि होने लगती है, तो लोक में आचरण का विघात होने लगता है, जनमानस के अंदर वीतराग मार्ग के प्रति ग्लानि भाव का उद्भव होने लगता है, तब तीर्थंकर का जन्म होता है। वे तीर्थंकर वही नहीं होते जो सिद्ध बन चुके हैं, अपितु नवीन–नवीन तीर्थंकर भगवान् का जन्म होता है। लोक में अनादिकाल से कालपरिवर्तन के अनुसार अनंतानंत चौबीसियाँ हो चुकी हैं, होती रहेंगी, परन्तु सिद्ध परमात्मा पुनः संसारी नहीं बनेंगे। ऐसे अष्ट–कर्म–रहित, सम्यक्त्वादि गुणों से युक्त, अशरीरी भगवान् परगत–तत्त्व ध्येयभूत हैं।

तृतीय परमेष्ठी दयार्द्र–चित्त अंतःकरण है जिनका, भेदाभेद पंचाचार परायण, समरसी भाव में लीन, शिक्षा–दीक्षा व अनुग्रह–निग्रह में कुशल, जाति–कुल से शुद्ध, चारों अनुयोगों के ज्ञाता, स्व–पर कल्याण में रत, आडम्बरों से परे, एकमात्र वीतराग मार्ग पोषक, जिनशासन के नायक, वर्तमान में तीर्थंकर तो नहीं हैं परन्तु तीर्थशासन को अविराम चलाने वाले आचार्य

परमेष्ठी आज भी विद्यमान हैं। इस अपेक्षा से उन्हें जिनशासन–नायक कहा है, वैसे तो जिनशासन–नायक तीर्थंकर भगवान् ही होते हैं। दर्शनाचार, ज्ञानाचार, तपाचार, चारित्राचार, वीर्याचार ये पाँच पंचाचार हैं। जो मुनि इनका पालन निश्चय–व्यवहार से स्वयं करते हैं तथा अन्य मुनिराजों से कराते हैं ऐसे आचार्यपरमेष्ठी परगततत्त्व ध्येयभूत हैं।

चतुर्थ परमेष्ठी उपाध्याय कहलाते हैं। द्वादशाङ्ग श्रुत के ज्ञाता, रत्नत्रय से युक्त, यतियों में श्रेष्ठ, नित श्रुताभ्यास में लवलीन रहते हैं। धर्मोपदेश में कुशल, तत्त्वनिर्णय करने में प्रवीण, जो यतिसंघ में श्रमणों को अध्ययन कराते हैं तथा स्वयं अध्ययन करते हैं, वे मुनिराज उपाध्याय–परमेष्ठी ध्येयभूत परगततत्त्व हैं।

पाँचवें परमेष्ठी साधु कहलाते हैं। जो विषय–कषाय, आरम्भ–परिग्रह से परे रहते हैं, ज्ञान–ध्यान–तप में लीन रहते हैं, लोकाचार की जिन्हें गंध भी नहीं है, लोकोत्तराचारभूत मोक्षमार्ग की साधना में रत रहते हैं। भो ज्ञानी ! मार्ग तो रत्नत्रय धर्म है, मार्ग का फल निर्वाण है, ऐसा आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने 'नियमसार' जी ग्रंथ में कहा है–

मग्गो मग्गफलं ति य, दुविहं जिणसासणे समक्खादं ।
मग्गो मोक्खउवायो, तस्स फलं होई णिव्वाणं ॥२॥

अतएव सम्पूर्ण आगम का हेतु, प्रतिपादित विषय का ही, प्रधानता से कथन करना है। मुमुक्षु जीव अभ्यास–दशा में पूर्वोक्त परगततत्त्व पंचपरमेष्ठी का ही ध्यान करता है। अभ्यासदशा के प्राप्त होने पर स्वगत तत्त्व टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी परमपारिणामिक निज शुद्धात्म तत्त्व को ही ध्याता है। अत: ज्ञानीजीव उभय तत्त्व का ध्यान करके निज आत्मा के स्वरूप को प्राप्त कर परमात्मपद को प्राप्त होता है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

पंच-परमेष्ठी के चिंतवन का फल

तेसिं अक्खर–रूवं भवियमणुस्सारण झायमाणाणं।
बज्झइ पुण्णं बहुसो परंपराए हवे मोक्खो ॥४॥

अर्थ: उन पंचपरमेष्ठियों के वाचक अक्षररूप मंत्रों का ध्यान करने वाले भव्यजनों के बहुत–सा पुण्य बंधता है और परम्परा से मोक्ष प्राप्त होता है।

प्रवचन

मनीषियो !

भगवान् जिनेन्द्र की वाणी भव–संताप का शमन कराने वाली एवं भव्य जीवों के अन्दर वीतरागता का संचार करने वाली है। यह परम पुण्योदय है कि हम सभी पाप–पंक से निकलकर माँ भारती की शरण को प्राप्त हुए हैं और ऐसी पीयूष वाणी का हम सभी पान कर रहे हैं।

इस गाथा में आचार्य देवसेन स्वामी पदस्थ ध्यान का वर्णन कर रहे हैं। पदस्थ ध्यान में मंत्राक्षरों–बीजाक्षरों का ध्यान करने से साधक के चित्त में शांति का प्रादुर्भाव होता है, अविद्या का नाश होता है, अनंतज्ञान–पुंज का धारक केवली–अरहंत भगवान् बन जाता है। अत: मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत मंत्रों की आराधना ही मुमुक्षु को करनी चाहिए तथा लौकिक प्रयोजनों के साधक मंत्राक्षरों की आराधना से दूर रहना चाहिए। भूत–प्रेतादि भगाने हेतु बीजाक्षरों का जाप करने से कर्मनिर्जरा नहीं होती, अपितु कर्मास्रव ही होता है। इसलिए उन्हीं मंत्रों की जाप्य करना चाहिए जो परमेष्ठी के वाचक हैं। पंचपरमेष्ठी की जाप्य करने से बहु पुण्य का आस्रव होता है। यही पुण्य परम्परा से मोक्ष का साधक है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि **सम्यग्दृष्टि जीव का पुण्य ही परम्परा से मोक्ष का साधक है, मिथ्यादृष्टि का नहीं।** मिथ्यादृष्टि जीव का पुण्य स्वर्गादि अभ्युदय–सुख का ही कारण है। अतएव चारों ही ध्यान साधक को ध्याना चाहिये। पूर्वाचार्यों ने उक्त ध्यानों को परिभाषित करते हुए कहा है–

पदस्थमंत्रवाक्यस्थं, पिण्डस्थं स्वात्म चिंतनम्।
रूपस्थं सर्वं चिद्रूपं, रूपातीतं निरञ्जनम् ॥४८॥ द्रव्यसंग्रह टीका।

मंत्रवाक्यों में स्थित होना पदस्थ ध्यान है, निजात्मा का चिंतवन पिण्डस्थ ध्यान है, चिद्रूप का ध्यान रूपस्थ ध्यान है तथा सिद्ध परमात्मा अथवा त्रिकाली शुद्धात्मा का ध्यान रूपातीत ध्यान है। आचार्य वसुनंदी स्वामी ने भी पदस्थ ध्यान का सुन्दर कथन किया है–

पदान्यालम्ब्य पुण्अर्थात् योगिभिर्यद्वि धीयते ।
तत्पदस्थं मतं ध्यानं विचित्रनयपारगैः ॥४६४॥ वसु. श्रावकाचार॥

अर्थ– एक अक्षर को आदि लेकर, अनेक प्रकार के पंचपरमेष्ठीवाचक पवित्र मंत्रों का उच्चारण करके जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान कहते हैं। पदस्थ ध्यान के योग्य मूलमंत्रों का निर्देश करते हुये, आगमग्रंथों में कथन किया गया है–

पणतीससोलछप्पण, चदुदुगमेगं च जवह ज्झाएह ।
परमेट्ठिवाचयाणं, अण्णं च गुरूवएसेण ॥४९॥ द्रव्य संग्रह॥

अर्थ– पंचपरमेष्ठी–वाचक पैंतीस, सोलह, छः, पाँच, चार, दो और एक–अक्षर–रूप मंत्र हैं। उनका जाप्य एवं ध्यान करना चाहिए। यदि विशेष जाप्य करना है, तो गुरु के उपदेश से करना चाहिए। उक्त अक्षर–रूप मंत्र का जाप करने से असंख्यात गुणी कर्मनिर्जरा होती है तथा नवीन कर्मों का आस्रव रुकता है एवं ध्यान की सिद्धि होती है।

एकाक्षरी मंत्र – (१) ''अ'' (२) प्रणव मंत्र ''ॐ'' (३) अनाहत मंत्र ''र्ह्रं'' (४) माया वर्ण ''ह्रीं'' (५) ''ह्रौं'' (६) ''श्री''

दोअक्षरी मंत्र – ''अर्हं'', ''सिद्ध''

तीनअक्षरी मंत्र – ''ॐ नमः'', ''ॐ सिद्ध'', ''सिद्धेभ्यः''

चारअक्षरी मंत्र – ''अरहंत'', ''अरिहंत''

पंचाअक्षरी मंत्र – ''अ सि आ उ सा'' ''ह्राँ ह्रीं ह्रूँ ह्रौं ह्रः'', ''णमो सिद्धाणं'', ''नमः सिद्धेभ्यः''

छःअक्षरी मंत्र – ''अरहंत सिद्ध'', ''ॐ नमो अर्हते'' ''अर्हद्भ्यो नमः'' ''अर्हद्भ्यः नमोऽस्तु'' ''ॐ नमः सिद्धेभ्यः''

सप्ताक्षरी मंत्र – ''णमो अरहंताणं'', ''नमः सर्व सिद्धेभ्यः'', ''णमो अरिहंताणं''

अष्टाक्षरी मंत्र – ''नमोऽर्हत्परमेष्ठिने''

तेरहअक्षरी मंत्र – ''अर्हत् सिद्ध सयोग–केवली स्वाहा''

सोलहअक्षरी मंत्र – ''अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधुभ्यो नमः''

पैतीसअक्षरी मंत्र – ''णमो अरहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं''

भो ज्ञानी ! पदस्थ–ध्यान के अन्तर्गत महामंत्र की आराधना करने वाला आत्मशक्ति को जाग्रत कर अखण्ड चैतन्यपिण्ड ज्ञायकस्वभावी तत्त्व को प्राप्त कर लेता है। इस ध्यान से आत्मविशुद्धि की वृद्धि होती है, जिसके द्वारा पूर्वसंचित अशुभ कर्मों की निर्जरा होती है तथा पुण्य का आस्रव होता है, विघ्नों का नाश होता है। महामंत्र की आराधना करने वाले को निःश्रेयस सुख की प्राप्ति होती है, अभ्युदय–सुख तो स्वयमेव प्राप्त हो ही जाते हैं। शाकिनी, डाकिनी, भूत–प्रेतीय भय नाश को प्राप्त होता है। आप महामंत्र की आराधना कभी भी, कहीं भी कर सकते हो, परन्तु अशुद्ध स्थान व अशुचि–अवस्था में मुख से उच्चारण न करके अंतःकरण में ही स्मरण करते रहना चाहिए। **किसी अवस्था में पंचपरमेष्ठी मंत्र की आराधना नहीं छोड़ना चाहिए।** चक्रवर्ती सुभौम ने एक छद्म–भेषी देव के कहने में आकर, णमोकार मंत्र को पानी पर लिखकर पैर रख दिया था। परिणामस्वरूप नौका शीघ्र ही पानी में डूब गयी तथा चक्रवर्ती का प्राणांत हो गया और सप्तम नरक को प्राप्त हुआ। जब तक वह महामंत्र का जाप्य करता रहा, तब तक देव नाव को डुबा नहीं सका। जैसे ही मंत्रराज की अवहेलना की, त्यों ही परिणाम विपरीत हो गया। अतः ध्यान रखना चाहिए, शुद्धि की बात करके चाहे कोई भी व्यक्ति सलाह दे, पर मंगलोत्तम शरणभूत पंचपरमेष्ठी की भक्ति को नहीं छोड़ देना।

भो मनीषियो ! आज ध्यान रखना, सामान्य हिन्दीपाठ के नाम से भक्तामर पाठ, णमोकार मंत्र की महिमा को लघु करने की चेष्ठा घोर अपराध है। हाँ, जिससे उक्त मंत्र या स्तोत्र का उच्चारण सही नहीं होता हो, तो उसे सिखाना चाहिए। जब तक नहीं सीखे, तब तक हिन्दी भाषा में लिखित 'संकट हरण विनती' आदि का पाठ करें। भगवान् की भक्ति किसी भी भाषा में करें, कोई बात नहीं है, परन्तु निषेध न करें। जिसकी भावना भक्तामर स्तोत्र पढ़ने से निर्मल होती है वह भक्तामर पढ़े, जिसको संकटहरणादि विनती पाठ से भाव विशुद्ध होते हैं, तो वह उसे पढ़े। भगवान् की भक्ति आदि यह सब असाताकर्म को साता में संक्रमित करने के माध्यम हैं तथा पूर्वसंचित पाप–पंक की निर्जरा के हेतु हैं। अहो ! परम जिनभक्ति के प्रभाव से निधत्ति, निःकाचित जैसे कर्मों के बंधन भी शिथिल पड़ जाते हैं, फिर सामान्य कर्मों की स्थिति तो न्यून हो ही जाती है। अतः किसी भी संकट, दुःख की स्थिति में तो यही कहूँगा कि णमोकार की ही आराधना करनी चाहिए, क्योंकि हमारे पूर्वाचार्य भगवन्तों ने भी

यही आदेश दिया है। 'पंच–महागुरु–भक्ति' में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है–

एषः पञ्च नमस्कारः सर्व पाप प्रणाशनः।
मंगलानां च सर्वेषां, प्रथमं मंगलं भवेत्।।७।।

यह पंचनमस्कार मंत्र सम्पूर्ण पापों का नाश करने वाला है तथा सभी मंगलों में प्रथम मंगल है। इसलिए महामंत्र की आराधना सर्वोपरि समझना चाहिए। इसलिए चलते–फिरते, उठते–बैठते, जब जहाँ जैसे भी प्रतिक्षण जाप्य करते रहना चाहिए। णमोकार मंत्र के जाप्य की अनेक विधियाँ हैं, जो कि सभी पदस्थ ध्यान में सम्मिलित की जाती हैं। श्री 'धवला' जी महाग्रन्थ में आचार्य वीरसेन स्वामी ने इस जाप्य की तीन विधियाँ वर्णित की हैं–

(१) पूर्वानुपूर्वी (२) पश्चातानुपूर्वी (३) यथातथ्यानुपूर्वी।

(१) णमो अरहंताणं से लेकर, सीधा णमो लोए सव्व साहूणं तक पढ़ना पूर्वानुपूर्वी है।

(२) णमो लोए सव्व साहूणं से लेकर, उल्टा णमो अरहंताणं तक पढ़ना पश्चातानुपूर्वी है।

(३) पद पाँचों ही पूर्ण होने चाहिये, कहीं से भी पढ़ो यत्र–तत्र रूप से, वह है यथातथ्यानुपूर्वी।

णमोकार मंत्र को श्वासोच्छ्वास में जाप्य करना सर्वोत्तम बताया है। एक णमोकार को तीन श्वासोच्छ्वास में पढ़ना चाहिये। यथा–णमो अरिहताणं में श्वास खींचना, णमो सिद्धाणं में श्वास छोड़ना, णमो आइरियाणं में श्वास खींचना, णमो उवज्झायाणं में श्वास छोड़ना तथा णमोलोए में श्वास खींचना और सव्वसाहूणं में श्वास छोड़ना। इस प्रकार एक कायोत्सर्ग में (नौ बार णमोकार के उच्चारण में) सत्ताईस श्वासोच्छ्वास होते हैं।

श्लोकवार्तिककार ने मंत्रों का जाप चार प्रकार से करने की विधि का वर्णन किया है। चतुर्विद्या है वाग्बैखरी मध्यमापश्यन्ति सूक्ष्मोश्चेति।।

(१) बैखरी (२) मध्यमा (३) पश्यन्ति (४) सूक्ष्म।

(१) बैखरी– जोर–जोर से बोलकर णमोकार मंत्र का जाप करें, जिसे दूसरे लोग भी सुन लें, वह बैखरी विधि कहलाती है। इसके शब्द बाहर बिखर जाते हैं। इस तरह के जाप में अल्प लाभ ही होता है, शेष वर्गणाएँ बाहर निकल जाती हैं।

(२) मध्यमा– इस विधि में ओंठ नहीं हिलते, किन्तु अन्दर जीभ हिलती रहती है। पं. आशाधरजी ने इसे उपांशु जाप कहा है। इसमें शब्द मुँह से बाहर नहीं आते।

(३) पश्यन्ति– इस विधि से न ओंठ हिलते हैं, न जीभ हिलती है। इसमें मात्र मन में ही चिन्तन करते हैं। इस जाप में सब संकल्प–विकल्प छोड़कर आत्मा स्वाभिमुख हो जाता है।

(४) सूक्ष्म– मन में जो णमोकार मंत्र का चिंतन था, वह भी छोड़ देना सूक्ष्म जाप है। जहाँ उपास्य–उपासक का भेद समाप्त हो जाता है। आत्मा–परमात्मा का भेद हो जाये, उसी का आधार यह सूक्ष्म जाप है। जप शब्द में दो अक्षर हैं– ज+प

ज = जकारो जन्म विच्छेदः।

प = पाप नाशनः तस्माज्जय इति प्रोक्तं जनम पापविनाशकः।

इस प्रकार महा प्रणव वर्ण ''ॐ'' तथा माया वर्ण ''ह्रीं'' आदि का ध्यान मुमुक्षु जीव को अहर्निश करते रहना चाहिये। अस्तु, पदस्थ–ध्यान के माध्यम से चित्त को वश में करके, अविद्या का नाश कर कैवल्य को प्राप्त करो।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय ।।

९ ९ ९

स्वगत तत्त्व का लक्षण

जं पुणु सगयं तच्चं सवियप्पं हवइ तह य अवियप्पं।
सवियप्पं सासवयं णिरासवं विगयसंकप्पं ॥५॥

अर्थ: पुनः जो स्वगत तत्त्व है, वह सविकल्प तथा अविकल्प रूप है। सविकल्प स्वतत्त्व आस्रव सहित है और संकल्प–रहित अविकल्प स्वतत्त्व आस्रव–रहित है।

इंदियविसय–विरामे मणस्स णिल्लूरणं हवे जइया।
तइया तं अवियप्पं ससरूवे अप्पणो तं तु ॥६॥

अर्थ: जब इंद्रियों के विषयों का विराम अर्थात् इच्छा–निरोध हो जाता है, तब मन का निर्मूलन होता है, तभी वह निर्विकल्प स्वगत तत्त्व प्रकट होता है और वह आत्मा का अपने स्वरूप में अवस्थापन होता है।

प्रवचन

प्रज्ञात्माओ !

तीर्थंकर वर्द्धमान का शासन जयवन्त हो, जिनके शासन में हम सभी विराजते हैं। जिनेन्द्र का शासन ही सर्वोदयी शासन है, जहाँ पर सम्पूर्ण जीवों के भाग्य का समान उदय होता है, सभी को समान शरण की प्राप्ति होती है। जाति, पन्थ, गति का भेदभाव नहीं होता, प्राणिमात्र के लिये समान शरण की प्राप्ति होती है। इसलिए तीर्थंकर की प्रवचनसभा को समवसरण सभा कहते हैं। आज हमारा अहोभाग्य है कि हमें सभी तीर्थंकर अरहंत प्रभु की पीयूषवाणी, आचार्य भगवंतों के अथक प्रयास से प्राप्त हो रही है। यदि हमारे पूर्वाचार्य ग्रंथों का सृजन नहीं करते, तो आज यह अमृत देशना श्रवण करने को प्राप्त नहीं हो सकती थी। यह गुरुओं का परमोपकार है। भगवान् जिनेन्द्रदेव की वाणी का प्रसार हो, जन–जन का कल्याण हो, इस भावना से ही आचार्य देवसेन स्वामी तत्त्व में निश्चल अवस्थान का कथन कर रहे हैं।

भो चेतन ! पूर्व में स्वगत एवं परगत यह दो प्रकार से तत्त्व के भेद किये थे। अब यहाँ पर स्वगत तत्त्व के दो भेद किये हैं– सविकल्प और निर्विकल्प। ग्रंथकर्ता का आशय यह

ध्वनित होता है कि जहाँ तक सकषाय अवस्था है, वहाँ तक सविकल्प तत्त्व को स्वीकारा है। जहाँ कषाय का पूर्ण अभाव हो चुका है, वहाँ निर्विकल्प तत्त्व कहा है। यदि शुद्धोपयोग के प्रारंभ को देखें तो वह सप्तम गुणस्थान से होता है, वहाँ पर भी निर्विकल्प ध्यान होता है। आत्मानुभूति की अपेक्षा निर्विकल्प स्वतत्त्व है, क्योंकि पर का कोई विकल्प नहीं है। यह ध्यान की दशा है, वह भी निर्विकल्प ध्यान की। परन्तु अभी अकषाय अवस्था नहीं बनी। कारण कि संज्वलन चौकड़ी का मंद उदय चल रहा है। जैसी वास्तव में स्वरूप में अवस्थिति होनी चाहिए थी, वैसी स्थिति अभी नहीं है। कारण, सकषाय भाव है। यह सविकल्प–स्वतत्त्व आस्रव–सहित है, निर्विकल्प–स्वतत्त्व आस्रव–रहित है।

भो ज्ञानी ! यह सिद्धान्त का कथन है जिसे एकाग्र चित्त से समझना है। आगम में आस्रव के दो भेद किये हैं– साम्परायिकास्रव और ईर्यापथास्रव। साम्परायिक आस्रव कषाय–सहित जीव के होता है। यह कषायभाव दसवें गुणस्थान तक चलता है, इसलिए किन्हीं–किन्हीं आचार्यों ने दसवें गुणस्थान तक धर्म्यध्यान स्वीकार किया है। ईर्यापथ आस्रव एक समय का आस्रव है। किंचित आस्रव होने के कारण आस्रवरहित कहा गया है। इसी अपेक्षा से आस्रवसहित के विकल्प स्वतत्त्व तथा आस्रवरहित के निर्विकल्प स्वतत्त्व होता है। यह निर्विकल्प अवस्था (कषाय उपशमन की अपेक्षा) ग्यारहवें गुणस्थान से लगाना तथा कषाय के क्षय की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान से ही ग्रहण करना। कारण, इस गुण की विशुद्धि विशेष है तथा क्षीणमोह क्षीणकषाय अपने नाम को सार्थक कर रहा है। जहाँ पर मिथ्यात्व भावादि का अभाव हो चुका है, वहाँ आस्रव का अभाव हो ही जाता है। आस्रव रुकने से संवर तत्त्व का प्रारंभ हो जाता है। वह संवरतत्त्व ही मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है। संवर होने से पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा हो जाती है तथा नवीन कर्मास्रव रुक जाता है। जिससे जीव शीघ्र ही परमवंद्य, चैतन्य पिण्ड, ज्ञानघन अरहंत, सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अतः आत्मकल्याण के इच्छुक को निर्विकल्प स्वतत्त्व की ही निरन्तर भावना भानी चाहिए।

छठवीं गाथा में आचार्य देवसेन स्वामी निर्विकल्प–स्वतत्त्व की प्राप्ति का उपाय बतला रहे हैं– कि जब तक मार्ग का ज्ञान नहीं होगा, तब तक मार्गी की प्राप्ति नहीं होगी। कारण का होना कार्यसिद्धि के लिए अनिवार्य है। अतः निर्विकल्प–तत्त्व की सिद्धि के लिए इंद्रिय और मन का वशीकरण अत्यन्त आवश्यक है। आचार्य नागसेन स्वामी ने कहा है– ''गुप्तेन्द्रियमना ध्याता'' (तत्त्वानुशासन/३८/३०) जिसने इंद्रियों एवं मन को वश में कर लिया, उसे 'ध्याता' कहते हैं।

इन्द्रिय–विषयों में लीन व्यक्ति चाहे कि मुझे निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि हो जाए, यह उसकी कल्पना आकाश–पुष्प की प्राप्ति के तुल्य है। जैसे कि बन्ध्या माँ का बेटा मचल गया, तब उसे मनाने के लिये कछुवे की पीठ के बालों की रस्सी में, आकाश के फूलों की माला निर्मित कर, खरगोश के सींगों में पिरोकर, रोते हुये बन्ध्यासुत को खेलने हेतु प्रदान की, उस प्रातः की बेला में जब सूर्य पश्चिम दिशा से अपनी शीतल किरणों के साथ उदित हो रहा था।

अहो मनीषियो ! यदि उक्त बातें सम्भव हों तो रागी, भोगी, गृहस्थों के लिए भी निर्विकल्प स्वगत–तत्त्व की सिद्धि हो सकती है। यदि नहीं है, तो फिर ध्यान रखना कि इंद्रियसुखों में लीन व्यक्ति को निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि नहीं होती। **जब तक भोगाभिलाषा अन्तरंग में विद्यमान है, तब तक योग–धारण सम्भव नहीं है। यदि किसी ने द्रव्य भेष को स्वीकार भी कर लिया, तो वह सफल नहीं हो सकेगा।** आचार्य योगीन्दुदेव ने परमात्म प्रकाश जी ग्रंथ में लिखा है– जिसके हृदय में मृगलोचनी (स्त्री) निवास कर रही है, वहाँ ब्रह्म–निवास कहाँ है ? कारण, **एक म्यान में दो तलवारें नहीं रखी जातीं, एक ही समय में दो मौसम नहीं होते, उसी प्रकार एक ही साथ आत्मानुभव एवं विषयानुभव नहीं होता। एक समय में एक ही उपयोग हुआ करता है।**

अतः यही सर्वज्ञ देशना है कि इंद्रियविषयों में विरक्त साधक का ही मन स्थिर होता है। इंद्रिय–विषयलिप्त का मन वश में होना त्रैकालिक असंभव है, यह बात ध्रुव सत्य है। इंद्रिय–विषय एक नहीं है। रसना के पाँच, स्पर्शन के आठ, चक्षु के पाँच, कर्ण के सात, घ्राण के दो, इस प्रकार मन को मिलाने पर अट्ठाईस इंद्रियविषय हैं। उपर्युक्त इंद्रियविषयों से विरक्त योगी के ही निर्विकल्प स्वगत तत्त्व की सिद्धि होती है। इस प्रकार समीचीन आगम–व्यवस्था को समझना चाहिए तथा संयम की ओर अग्रसर होकर, निजात्म तत्त्व में लीन होकर, परम निर्वाण की प्राप्ति करना चाहिए।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

शुद्ध भाव का निरूपण

समणे णिच्चलभूए णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे ।
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो ॥७॥

अर्थः अपने मन के निश्चलीभूत होने पर, सर्व विकल्प–समूह के नष्ट होने पर विकल्प रहित/ निर्विकल्प, निश्छल, नित्य, शुद्ध स्वभाव स्थिर हो जाता है।

जो खलु सुद्धो भावो सो अप्पा तं च दंसणं णाणं ।
चरणं पि तं च भणियं सा सुद्धा चेयणा अहवा ॥८॥

अर्थः जो निश्चय से शुद्ध भाव है, वह आत्मा है और वह आत्मा दर्शन–ज्ञान–चारित्र–रूप कहा गया है अथवा वह शुद्ध चेतनारूप है।

प्रवचन

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की वाणी जगत्कल्याणी है; क्योंकि जिनेन्द्र–देशना ही देशनालब्धि का कारण बनती है। जिनशासन में आत्मज्ञ बनने की कला की शिक्षा प्रदान की गई है जो कि सर्वज्ञत्व शक्ति को जन्म देती है। आत्मशक्ति के प्रकट हुए बिना सर्वज्ञशक्ति प्रकट नहीं होती है। आत्मज्ञ पुरुष मन की चंचल वृत्ति के निरोध में अपना पुरुषार्थ लगाते हैं।

आचार्य देवसेन स्वामी सातवीं गाथा में मन को स्थिर करने की बात बतला रहे हैं कि, मनोविकार की दशा विचित्र है, एक क्षण में संत बना दे, एक क्षण में असंत। जब व्यक्ति का मन निर्मल होता है तब उसे प्रत्येक पदार्थ के अन्दर धर्म दिखता है, प्रत्येक मनुष्य के अन्दर परमात्म सत्ता दिखती है। करुणा, दया, प्रेम और वात्सल्य उसके अन्दर से झलकता है। एकेन्द्रियादि जीवों के प्रति भी मैत्रीभाव रखता है वह व्यक्ति। इस क्रम में विशुद्ध मन से विशुद्ध चिंतवन का उद्भव होता है, प्रत्येक निर्णय सम्यक् होता है। धर्म, गुरु तथा ज्येष्ठों के प्रति सम्मान के भाव का जन्म होता है। जितने भी श्रेष्ठ कार्य होते हैं, वे पवित्र मन के द्वारा

ही होते हैं। स्व–पर कल्याणकारी कार्यों के निर्णय लेने की क्षमता पवित्र अंतःकरण में ही होती है। लोक में श्रेष्ठ ज्ञानी, विद्वान्, तत्त्वमनीषी वही पुरुष होते हैं जिनके परिणाम उज्जवल होते हैं। भावों की विशुद्धता से ज्ञान का क्षयोपशम वृद्धि को प्राप्त होता है। कुछ व्यक्ति ज्ञान प्राप्ति के पीछे ही मन को मलिन करते रहते हैं। मानसिक तनाव से ग्रस्त लोग न ज्ञानी ही बन पाते हैं, न सुखी रह पाते हैं। वे नाना प्रकार के रोगों से ग्रसित हो जाते हैं । कारण यह है कि ज्ञानतन्तु, मस्तिष्क की शिराएँ/कोशिकाएँ बहुत ही नाजुक होती हैं। बिना किसी तनाव के अध्ययन–मनन करने से उन पर अल्प जोर आता है। जब तनाव बढ़ जाता है तब ज्ञान–तन्तुओं पर अधिक जोर पड़ता है, अतः धीरे–धीरे उनकी कार्यशक्ति क्षीण होने लगती है और व्यक्ति की स्मरणशक्ति भी मन्द पड़ जाती है। वह शीघ्र विस्मृत होने लगती है। स्थिति यह बनती है कि वह दैनिक कर्त्तव्यों को भी भूल जाता है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विवेक को खो देता है। अतः यहाँ पर यह बात समझना चाहिए कि चाहे वे सामान्यजन हों, चाहे साधक हों अथवा विद्यार्थी, वे ज्ञान प्राप्ति का भी तनाव न करें। जितनी शक्ति तनाव से नष्ट कर रहे हैं, उतनी शक्ति अध्ययन में लगा देनी चाहिए। देखो, यदि कोई व्यक्ति गाड़ी चालू करके, ब्रेक लगाकर खड़ी किये है, उसका मार्ग तय हो या न हो, परन्तु ईंधन तो जलेगा ही। उसी प्रकार ज्ञान के लोलुपी अज्ञानियों की भी यही अवस्था है। अतः बिना प्रमाद के, बिना किसी तनाव के मुमुक्षु जीवों को, आत्महित की दृष्टि से, मन की स्थिरता हेतु वाचना, पृच्छना, आम्नाय, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश इन पाँच स्वाध्यायों में से कोई–न–कोई स्वाध्याय करते रहना चाहिए, क्योंकि पंचमकाल में सर्वोत्कृष्ट साधना स्वाध्याय ही है।

भो ज्ञानी ! साधक प्रतिक्षण/प्रतिपल अपने उपयोग को पवित्र रखने का पुरुषार्थ करता है। वर्तमान में हीन संहनन के कारण विशेष ध्यान अर्थात् शुक्लध्यान नहीं होता है, परन्तु धर्म्यध्यान होता है, वह भी अल्प समय के लिये। चित्त की वृत्ति बहुत ही चंचल है, इसे कैसे वश किया जाये? इसके लिए बहुत सुन्दर माध्यम है स्वाध्याय। जाप्य करने में जो मन यहाँ–वहाँ घूमता है, वही मन स्वाध्याय में स्थिर हो जाता है। अतः निश्चल भाव से स्वाध्याय करते रहना चाहिए।

जिज्ञासा होती है कि स्वाध्याय कहते किसे हैं ? क्यों किया जाता है ?

ज्ञानभावनालस्य त्यागः स्वाध्यायः (सर्वार्थसिद्धि अ. ९/२०/३४६) अर्थात् आलस्य

का त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय तप है।

परतत्ती–णिरवेक्खो दुट्ठ वियप्पाण णासण–समत्थो ।

तच्च–विणिच्छय–हेदू सज्झाओ झाण–सिद्धियरो ।।४६१।। का.अ.।।

अर्थ– स्वाध्याय तप परनिन्दा से निरपेक्ष होता है, दुष्ट विकल्पों को नष्ट करने में समर्थ होता है, तत्त्व के निश्चय करने में कारण है तथा ध्यान की सिद्धि करने वाला है।

स्वाध्यायः सुष्ठु पूर्वापराविरोधेन अध्ययनं पठनं पाठनम् आध्यायः सुष्ठु आध्यायः स्वाध्यायः, सुष्ठु शोभनः आध्यायः स्वाध्यायो वा। स्वस्मै स्वात्मने हितः अध्यायः स्वाध्यायो वा सम्यग्युक्तोऽनुष्ठेयः इति स्वाध्यायो वा।।४६१।। का.अनु. टीका।।

सुष्ठु रीति से पूर्वापर विरोध रहित अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं अथवा स्व (अर्थात् आत्मा) के हित के लिए अध्ययन करने को स्वाध्याय कहते हैं। समीचीन रूप से विनयपूर्वक कालाचार आदि आठ अंगों का विचार करके अध्ययन करना स्वाध्याय है।

भो ज्ञानी ! यहाँ पर धर्मोपदेश स्वाध्याय को समझना है। किसी भी प्रत्यक्ष व परोक्ष सांसारिक–प्रयोजन की अपेक्षा न करके, उन्मार्ग को नष्ट करने के लिए, सन्देह को दूर करने के लिए, अपूर्व अर्थ को प्रकट करने के लिए तथा आत्मकल्याण के लिए धर्म का जो व्याख्यान किया जाता है, उसे धर्मोपदेश कहते हैं। धर्मोपदेश करने के पूर्व धर्म के मर्म को समझना अनिवार्य है। बिना धर्मज्ञान के धर्मोपदेश नहीं हो सकता। उपदेष्टा को चाहिए कि चारों अनुयोगों का गहन अध्ययन करें। आगमविद्, कुशल वक्ता, निर्भीक, निश्चल व्यक्ति धर्मोपदेश देकर धर्मसभा को सँभाल सकता है। उपदेशक के अंदर वाणी की मधुरता के साथ जीवन–माधुर्य भी होना आवश्यक है। चारित्रवान्, अनुशासनशील, सभी को अपना स्वीकारने वाला, स्व–पर की हितदृष्टि से बोलने वाला ही सच्चा धर्मोपदेशक है। आवश्यक नहीं कि बहुत बड़ी सभा, मंच, माईक हो तभी उपदेश हो। अरे भैया! कल्याण का उपदेश देने वाले युगल मुनिराज थे और श्रोता एक। अतः अन्तरंग में प्रमोद एवं वैराग्य–शक्ति का संचार हो ऐसा प्रवचन ही यथार्थ में धर्मोपदेश है अर्थात् जिसमें मनोरंजन नहीं, आत्मरंजन निहित हो। तत्त्वज्ञान की सुगन्ध छा रही हो जिस वाणी में, वही उपदेश भव्यों की भवितव्यता को प्रकट कराने में निमित्तभूत होगा। साधक तो उपदेश स्व–परमुखी होकर ही देता है। वह प्रथम

स्वहित पर दृष्टि रखता है, फिर दूसरे पर। जैसे कि कहा है–

आदहिदं का दव्वं, सक्कई परहिदं च कादव्वं ।

आदहिदं परहिदादो, आदहिदं सुट्ठु कादव्वं ॥

अर्थ : आत्महित करना चाहिए, यदि शक्य हो तो परहित भी करना चाहिए। परहित की अपेक्षा आत्महित प्रथम कर्त्तव्य है, इसलिए आत्महित भली–भाँति करना चाहिए। तात्पर्य यह कि पर–उपदेश के साथ स्वोपदेश का लक्ष्य बनाकर ही रखना चाहिए।

पाँचों ही प्रकार के स्वाध्याय का प्रयोजन क्या है ? इस बात को पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि ग्रंथ में स्पष्ट किया है।

प्रज्ञातिशयः प्रशस्ताध्यवसायः

परम संवेगस्तपोवृद्धिरित्येवमाद्यर्थः ॥९/२५/३४८॥

अर्थ– प्रज्ञा में अतिशय लाने के लिए, अध्यवसाय को प्रशस्त करने के लिए, परम संवेग के लिए, तप में वृद्धि करने के लिए, अतिचारों में विशुद्धि आदि लाने के लिए स्वाध्याय किया जाता है।

आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने भी कहा है कि स्वाध्याय करने से ज्ञान की वृद्धि होती है, शुभ परिणाम होते हैं, संसार से वैराग्य होता है, धर्म में स्थिति होती है, अतिचारों की शुद्धि होती है, संशय का विनाश होता है और मिथ्यावादियों का भय नहीं रहता। इस प्रकार पाँचों स्वाध्याय करना अनिवार्य है। चित्त की निर्मलता, रागादिक भावों एवं विकल्पों का अभाव भी तत्त्व–चिंतन से ही होता है।

भो चेतन ! मन में अनेक प्रकार की जो कल्पनाएँ उठती हैं, वे विकल्प हैं। इन विविध प्रकार के विकल्प– समुदायों के नष्ट होने पर मन स्वयं ही स्थिर हो जाता है, क्योंकि कारण के अभाव में कार्य का होना नहीं देखा जाता, ऐसा न्याय है। मन की चंचलता ही सर्वविकल्पों का कारण है, इसके नष्ट हो जाने पर सभी प्रकार के विकल्पजाल स्वयं शान्त हो जाते हैं। तत्पश्चात् आत्मा अपने रागादि रहित शुद्ध स्वभाव की स्थिति को प्राप्त हो जाता है, जो कि अविकल्प है, जिसमें पर के विकल्पों को कोई स्थान नहीं है। सप्तम गाथा का यही सार है कि

मन को शान्त रखने वाला साधक ही सच्चिदानन्द चैतन्यस्वरूप की सिद्धि कर सकता है, अन्य नहीं, अन्यथा नहीं।

आठवीं गाथा में आचार्य महाराज शुद्धस्वभाव को समझा रहे हैं। रागादिक भावों से रहित चैतन्यभूत परमपारिणामिक भाव ही जीव का सत्य–स्वभाव है। जब तक राग–द्वेषरूप परिणाम साधक के अन्दर चल रहे हैं, तब तक शुद्ध की सुगन्ध आनेवाली नहीं है। शरीर के वेष को साधु बनाने मात्र से शुद्ध स्वभाव प्रकट नहीं होता तथा वेष धारण किए बिना भी शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति नहीं होगी। जिनदेव का कथन है कि शरीर को सँभालने के साथ अन्तरंग परिणामों को सँभालना अनिवार्य है। यदि साधक समाज, देश एवं राष्ट्र के प्रपंचों में कर्तादृष्टि बनाकर चल रहा है, साथ ही पंथ, सम्प्रदाय, संघ के प्रति रुझान रखता है तथा जाति, स्थान, क्षेत्र, नगर एवं प्रदेश के भेद में जी रहा है, मैं श्रेष्ठ, मेरा श्रेष्ठ, यही भावना व्यक्ति के श्रेष्ठ व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। कारण कि श्रेष्ठ पुरुष कभी भी अपने मुख से स्वयं की तथा स्वयं के लोगों की अधिक प्रशंसा नहीं करते। प्रशंसनीय वह नहीं है जो कि स्वयं की प्रशंसा करे अथवा स्वयं में राग रखनेवाले की करे। प्रशंसनीय तो वह है जिसके ऊपर जन–जन भूरि–भूरि चर्चा करें, स्वगण के ही नहीं वरन् परगण के लोग भी अंतरंग में श्रद्धाभाव बनाकर चलते हों। सत् पुरुष जाति, पंथ, सम्प्रदाय से ऊँचे होते हैं। उनकी दृष्टि में प्राणिमात्र का कल्याण निहित होता है तथा निज कल्याण की अलख भावना जिनके अन्दर प्रस्फुटित होती रहती है, उन्हें संसार के परद्रव्यों में जाने का समय ही नहीं है।

जीवन में ध्यान रखना, जो राग–द्वेष के अभिनय में जी रहा है, वह शुद्धस्वभाव का पाठ नहीं कर सकता। कारण, एकसाथ दो दृश्य कोई नाटककार प्रदर्शित नहीं कर सकता। इससे यह बात स्पष्ट है कि जो साधु के वेष में आकर पंथवाद का विष–वमन कर रहे हैं उन्हें शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति तो असंभव ही है, परन्तु शुभ भी हो जाये, वह भी भजनीय है, कठिन है। ऐसे लोगों के अन्दर कषाय की मंदता भी नहीं देखी जाती। शुद्ध स्वभाव धर्मात्मा के अंदर होता है, धर्म–उन्मादी के नहीं। भो ज्ञानी ! धर्म का राग भी पर्यायधर्म से भिन्न कर देता है। आचार्य देवसेन यही समझा रहे हैं कि निश्चय से निज आत्मा का श्रद्धान, निज आत्मा का ज्ञान तथा निज आत्मा की लीनता ही समीचीन शुद्ध स्वभाव की प्राप्ति का उपाय है। भेदाभेद रत्नत्रय का पालन कारण–समयसार है, सहज परमपारिणामिक शुद्धस्वभावलीन अरहंत, सिद्ध,

सकल–निकल परमात्मपद की प्राप्ति ही सिद्धान्त में प्रतिपादित कार्य–समयसार है। कार्य–समयसार ही पूर्ण भूतार्थ है। जो जीव चतुर्थादि गुणस्थानों में शुद्धात्मा की बात कहते हैं, वहाँ वास्तव में शक्तिरूप शुद्धात्म भाव है, न कि आर्ष में कहे हुए शुद्धात्मा के लक्षण हैं। शक्तिरूप परमात्मा तो निगोद अवस्था में भी है, परन्तु व्यक्तरूप परमात्मा तो सकल–निकल परमात्मा ही हैं, इसमें किसी भी प्रकार का विकल्प नहीं, पूर्ण निर्णय है। उक्त उभय परमात्मपद की प्राप्ति रत्नत्रय की आराधना से ही होगी।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

❧ ❧ ❧

निर्ग्रन्थ का स्वरूप

जं अवियप्पं तच्चं तं सारं मोक्खकारणं तं च ।
तं णाऊण विसुद्धं झायहु होऊण णिग्गंथा ॥९॥

अर्थ: जो निर्विकल्प तत्त्व है, वही सार है, प्रयोजनभूत है और वही मोक्ष का कारण है। उस विशुद्ध तत्त्व को जानकर, निर्ग्रन्थ होकर ध्यान करो।

बहिरब्भन्तरगंथा मुक्का जेणेह तिविहजोएण ।
सो णिग्गंथो भणिओ जिणलिंग समासिओ समणो ॥१०॥

अर्थ: इस लोक में जिसने मन, वचन, काय इन तीन प्रकार के योगों से बाहिरी और भीतरी परिग्रहों को त्याग दिया है, वह जिनेन्द्रदेव के लिंग का आश्रय करने वाला श्रमण 'निर्ग्रन्थ' कहा गया है।

प्रवचन

मनीषियो !

वर्द्धमान जिनेन्द्र के शासन में हम सभी विराजे हैं, भगवद् जिनदेव की दिव्यवाणी का कर्णांजुलि से पान कर रहे हैं तथा अपनी नर पर्याय को धन्य कर रहे हैं। आचार्य देवसेन स्वामी नवीन-नवीन तत्त्व-रत्नमंडित निर्मल कण्ठहार प्रदान कर रहे हैं कि निर्विकल्प स्वतत्त्व की प्राप्ति ही तत्त्वसार है। आचार्य महाराज ने पूर्वाचार्यों की एवं जिनदेव की आज्ञा को ध्यान में रखते हुए तत्त्व का कथन किया है। यह हमारे आचार्यों की महिमा रही है कि स्वयं कुछ भी स्वतंत्र कथन नहीं किया। जैसा कथन मिला, वही लिपिबद्ध किया है। यदि प्रसंग के दो-दो प्रमाण प्राप्त हुए तो उन्होंने उभय प्रमाण का कथन किया है। यदि किसी ने प्रश्न भी किया, भगवन् ! प्रमाण तो एक ही होगा? तो आचार्य वीरसेन स्वामी 'धवला' जी में इसका उत्तर देते हुए कहते हैं-सत्य है, प्रमाण एक ही होगा, परन्तु अमुक विषय के दो आगम प्राप्त हैं, इसलिए दोनों स्वीकार करना चाहिए। जब तक साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञानी अर्थात् केवली भगवान् के चरणों में नहीं पहुँचते, तब तक वीतरागी, पापभीरू दिगम्बराचार्यों की बात स्वीकार करो, यदि अपने सम्यक्त्व की रक्षा करनी हो तो।

अहो ! आश्चर्य है। महापण्डित, कलिकालसर्वज्ञ आचार्य वीरसेन स्वामी प्राचीन आचार्यों एवं आगमों की बात अन्यथा कहने में अपनी असमर्थता प्रकट कर रहे हैं– ''एलाचार्य की जिह्वा आचार्यवाणी पर हिलनेवाली नहीं है। ज्यादा शंका हो तो गौतम स्वामी से पृच्छना करो।'' धन्य हो श्रुतभक्ति, आचार्यभक्ति आचार्य वीरसेन स्वामी की। आज अल्पबुद्धिधारक, जिन्हें दो शब्दों का भी निर्मल ज्ञान नहीं है– ऐसे त्यागी, साधक, विद्वान् आचार्यों और आगमों को असत्य कहने को तैयार हैं। वे स्व–पर के सम्यक्त्व गुण का घात कर रहे हैं, पंथों में समाज को बाँट रहे हैं। ऐसे छद्मभेषी जीवों का न स्वयं कल्याण होगा, न ही वे पर के कल्याण के हेतु हैं। अतः बिना किसी विकल्प के मेरा यही विचार है कि वर्तमान में सामाजिक एकता स्थापित कराने की आवश्यकता है। जिस विषय में सभी की धारणा एक हो, उस विषय पर तो एक होकर रहें। अहिंसा के नाम पर तो सभी जैन एक हैं ही, मात्र क्रियाकाण्डों, पूजा–पाठ, निश्चय–व्यवहार के पीछे वस्तुस्वरूप को (जो आत्म–पदार्थ का धर्म है, उसे) भूल रहे हैं। कषायों में उलझकर वे मोक्षसुख को प्राप्त नहीं कर सकते, चाहे वे साधक हों अथवा श्रावक। बेचारे पुण्य का उपयोग सम्यक् रूप से नहीं कर पा रहे। अतः वे पन्थों/सम्प्रदायों से ऊपर उठकर प्राणिमात्र के कल्याण की भावना से कल्याण का उपदेश करें।

भो ज्ञानी ! इधर तो एकेन्द्रिय जीव की रक्षा की बात करते हैं और उधर पंचेन्द्रिय मनुष्यों के प्रति मैत्रीभाव नहीं है। मन का कार्य नहीं हुआ तो कुछ भी कराने का उपदेश दे दिया। देखो, वीररस का उपयोग युद्धभूमि में होता है, धर्मसभा में तो वैराग्यतत्त्व का ही उपदेश होना चाहिए। धन्य हैं वे आचार्यपरमेष्ठी भगवान् जो भव में गोते लगाते हुए अनंत भव्यों को जिनदीक्षा देकर मोक्षमार्ग पर लगा रहे हैं। वे उपाध्याय व साधु परमेष्ठी भी वंदनीय हैं जो सद्मार्ग का उपदेश देकर स्व–पर कल्याण में लगे हुए हैं तथा आत्मसाधना में लीन हैं। उत्तम श्रावक पद पर आसीन जीव भी शुभ आशीष के पात्र हैं जो संसार के भोगों से उदास होकर आत्मसाधना में लीन हैं तथा मिथ्यात्व में डूब रहे भव्यों को सत्य मार्ग दिखा रहे हैं। उन्हें मुख्य रूप से मात्र स्वकल्याण की ही भावना है।

भो चेतन ! ग्रंथकर्ता आचार्य महाराज इस गाथा में यही देशना कर रहे हैं कि – दृष्टि को विशाल बनाओ संकुचित धारणा को विराम देकर। परम सारभूत निर्विकल्प आत्म तत्त्व जो कि निश्चय से साक्षात् मोक्ष का कारण है, उस विशुद्ध तत्त्व को जानकर निर्ग्रन्थ होकर

ध्यान करो। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि निर्विकल्प ध्यान कब करें? वर्तमान में जो मुमुक्षु भाई अव्रत अवस्था में ही निश्चय आत्मानुभूति व शुद्धोपयोग (निर्विकल्प ध्यान) मान रहे हैं, उन्हें इस गाथा को अच्छी तरह से समझना चाहिए। वास्तव में शुद्धात्मतत्त्व का निर्विकल्प ध्यान किस अवस्था में होता है? क्या बिना संयम धारण किये आत्मानुभूति संभव है? प्रवचन मात्र न सुनें, आगम भी पढ़ें। मूल आर्ष (आगम) में स्पष्ट कथन है कि बिना निर्ग्रन्थ–मुद्रा धारण किये अप्रमत्तदशा नहीं बन सकती और अप्रमत्तदशा बिना निर्विकल्प ध्यान नहीं होता। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने 'प्रवचनसार' में कहा है –

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो ।
समणो सम–सुह–दुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ॥१४॥

अर्थ– जिन्होंने अच्छी तरह से पदार्थ–सूत्रों को जान लिया है, संयम व तप से युक्त हैं, जिनका राग बीत गया है, जो सुख–दुःख में साम्य भाव रखते हैं, ऐसे श्रमण को शुद्धोपयोगी कहा है।

भो ज्ञानी ! आचार्य श्री जयसेन स्वामी ने भी 'प्रवचनसार' जी की टीका में स्पष्ट किया है कि प्रथम गुणस्थान से लेकर तृतीय गुणस्थान पर्यन्त तारतम्यता से अशुभोपयोग होता है। चतुर्थ गुणस्थान से लेकर छठवें गुणस्थान तक तारतम्यता से शुभोपयोग होता है तथा सातवें गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक तारतम्यता से शुद्धोपयोग होता है, तेरहवें एवं चौदहवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग का फल होता है।

आचार्य शुभचन्द्र स्वामी ने 'ज्ञानार्णव' जी में लिखा है कि जैसे आकाश का फूल और गधे के सींग किसी भी क्षेत्र एवं किसी भी काल में नहीं होते हैं, उसी प्रकार निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि गृहस्थ–आश्रम में किसी भी क्षेत्र व काल में नहीं होती। निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि अप्रमत्त–गुणस्थान में निर्ग्रन्थ दिगम्बर वीतराग योगी के ही होती है। अतः यह स्पष्ट है कि जिन्हें आत्मज्ञान की सिद्धि करना है, उन्हें निर्ग्रन्थ मुनिदीक्षा धारण करना चाहिए।

दसवीं गाथा में निर्ग्रन्थ स्वरूप का कथन किया गया है। **जिस जीव ने इस लोक में त्रियोग से अन्तरंग व बहिरंग परिग्रह का त्याग कर दिया है तथा जो विषय–कषाय, आरंभ–परिग्रह से रहित हैं, ज्ञान–ध्यान–तप में लवलीन रहते हैं, वे निर्ग्रन्थ लोकाचार को**

नहीं, लोकोत्तराचार को श्रेष्ठ मानते हैं। यदि कदाचित् लौकिक चर्चा हो भी जाये तो शीघ्र ही भूल जाते हैं, उस बात को अधिक समय तक अपने अन्दर नहीं रखते। परम समरसी भाव में निमग्न यतीश्वरों के राग की आग की चिनगारी भी नहीं रहती, वे संयम के शीतल नीर में अपने आपको आर्द्र करके रखते हैं। वे निर्ग्रन्थ दस प्रकार के बाह्य एवं चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रह से निस्पृह होते हैं।

बहिरंग परिग्रह– हिरण्य, स्वर्ण, दासी, दास, कुप्य, धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, भाण्ड। **अन्तरंग परिग्रह–**मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद।

भो चेतन ! इन उभय परिग्रहों से जो शून्य होते हैं, वे ही सच्चे निर्ग्रन्थ होते हैं। उभय परिग्रह के अभाव का क्रम गुणस्थानक्रम से समझना चाहिए। जिस गुणस्थान में जिस कषाय का अभाव होता है, उसी क्रम से परिग्रह का अभाव होता है, और परिग्रह अल्प होता है। इसलिए सिद्धान्त–अपेक्षा पूर्ण निर्ग्रन्थदशा उक्त गुणस्थान में ही घटित होती है। सामान्य वीतरागी–मुद्रा (जिनलिंग) ही निर्ग्रन्थ श्रमण है, वही धारण–पालन करने योग्य है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

ध्याता का स्वरूप

लाहालाहे सरिसो सुह–दुक्खे तह य जीविए मरणे ।
बंधु–अरियणसमाणो झाणसमत्थो हु सो जोई ॥११॥

अर्थ: जो लाभ–अलाभ, सुख–दुःख और उसी प्रकार जीवन–मरण में समान रहता है, बंधु तथा शत्रु में समान भाव रखता है, निश्चय से वही योगी ध्यान करने में समर्थ है।

कालाइलद्धि णियडा जह जह संभवइ भव्वपुरिसस्स ।
तह तह जायइ णूणं सुसव्व–सामग्गि मोक्खट्ठं ॥१२॥

अर्थ: जैसे–जैसे भव्य पुरुष की कालादि लब्धियाँ निकट आती जाती हैं, वैसे–वैसे ही निश्चय से मोक्ष के लिए उत्तम सर्व सामग्री प्राप्त हो जाती है।

चलणरहिओ मणुस्सो जह वंछइ मेरु सिहरमारुहिउं।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू ॥१३॥

अर्थ: जैसे पैरों से रहित मनुष्य सुमेरु पर्वत के शिखर पर चढ़ने के लिए इच्छा करे, वैसे ही ध्यान से रहित साधु कर्मों का क्षय करना चाहता है।

प्रवचन

मनीषियो !

जिनेन्द्र देशना आत्मदेव की पहिचान करा देती है। यदि निज–देव को जानना है तो जिनदेववाणी का उत्साहपूर्वक श्रवण, पठन, मनन, चिंतवन करना अनिवार्य है; क्योंकि तत्त्वचिंतवन सुप्त चेतना को जाग्रत कर देता है, एक नवीन शक्ति का संचार होता है। **अनुकूलता एवं प्रतिकूलता में समता रखने का उपाय सद्स्वरूप आत्मा का एवं संसार के स्वभाव का चिंतन करना ही है।**

भो ज्ञानी ! पदार्थ की प्राप्ति किसी के माँगने मात्र से नहीं होती। अज्ञानी माँगकर इस बात पर प्रसन्न होता है कि अमुक व्यक्ति ने मुझे अमुक सामग्री प्रदान की है, यदि मैं नहीं माँगता तो कैसे मिल पाती? अरे भोले प्राणी ! किस बात पर तू माँगने का कर्ता बन रहा है ? व्यर्थ

में दूसरे को वस्तु प्रदान करने का कर्ता बन रहा है। यदि नहीं मिली तो फिर वस्तु नहीं देने का कर्ता बनाकर सामने वाले से शत्रुता धारण करेगा। यह सब अज्ञान दशा है। जो जिनवाणी में लिखा है, वही आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं। क्यों हर्ष–विषाद करते हो ? व्यक्ति पदार्थ को व्यवहार से आदान–प्रदान करते हुए दिखते हैं, परन्तु सिद्धान्त कहता है कि लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से पदार्थ की प्राप्ति होती है। यदि क्षयोपशम नहीं है, तो भिखारी को भी भीख नहीं मिलती। भोजनादि का लाभ हो अथवा अलाभ, दोनों ही जीव के पूर्वोपार्जित शुभ और अशुभ कर्म के फलस्वरूप हैं। उनमें जो भेद–विज्ञान के प्रभाव से और हर्ष–विषाद के अभाव में समान रहता है, वह समचित्त योगी शुभ–अशुभ कर्म के उदय से प्राप्त हुए सुख–दुःख में तथा आयुकर्म के उदय से प्राप्त जीवन में, उसके क्षय से प्राप्त मरण में, उसी प्रकार पुण्य–पाप के उदय से प्राप्त हुए बंधुओं और शत्रुओं में, राग–द्वेष आदि के अभाव से साम्य भाव रखता है। इस प्रकार के गुणों से युक्त विशिष्ट–योगी ध्यान करने में समर्थ होता है। ऐसा योगी अपने आत्मा में, अपने आत्मा के द्वारा, अपने आत्मा के निमित्त, आत्मा से आत्मा को जोड़ता है, इस प्रकार के शील–स्वभाव वाला व्यक्ति ही योगी कहलाता है। कहा भी है–

साम्यं स्वास्थ्यं समाधिश्च, योगश्चेतो निरोधनम्।
शुद्धोपयोग इत्येते, भवन्त्येकार्थवाचकाः ॥ तत्त्वसार सं. टीका गाथा ११ पृष्ठ ३५॥

साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्त–निरोध और शुद्धोपयोग ये सब शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं। योगीजन प्रतिपल सहज स्वरूप की प्राप्ति हेतु सम्यक्–पुरुषार्थ करते रहते हैं। वे लाभ–अलाभ, सुख–दुःख, जन्म–मरण, शत्रु–मित्रादि में हर्ष–विषाद नहीं करते, क्योंकि उन्होंने संसार के स्वभाव को भलीभाँति जान लिया है, सत्य स्वरूप यही है। यदि संसार में सुख–दुःखादि नहीं होते तो फिर संसार ही कहाँ होता? संसार कहते ही उसे हैं जिसमें संसरण हो, भ्रमण हो। अतः मुमुक्षु जीव सुख–दुःखादि में साम्यभाव रखते हैं, क्योंकि साम्यता ही स्वरूप प्राप्ति का हेतु है।।११।।

भो ज्ञानी ! भव्य पुरुष ध्यान करने में कैसे समर्थ होता है ? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि जैसे–जैसे भव्य पुरुष की कालादि लब्धियाँ निकट आती हैं, वैसे–वैसे निश्चय से मोक्ष के लिए उत्तम सर्व सामग्री प्राप्त होती जाती है। भो चेतन ! आचार्यश्री यहाँ पर समझा रहे हैं कि यह जीव प्रत्येक पदार्थ का कर्त्ता बनकर व्यर्थ

में क्लेश करता है। यह विचार करता है कि जो कुछ हो रहा है वह सब मेरे द्वारा ही हो रहा है। अज्ञानी/मूढ़ प्राणी बैलगाड़ी के नीचे चलने वाला श्वान बन रहा है। जैसे कि बैलगाड़ी को चलाने वाले बैल हैं, परन्तु जब कहीं गाड़ी खड़ी हुई जो उसके नीचे किसी कुत्ते ने प्रवेश कर लिया, वह कुत्ता विचार करता है कि गाड़ी को तो मैं ही चला रहा हूँ, जबकि वह तो स्वयोग्यता एवं बैलों के निमित्त से चल रही थी। परन्तु श्वान की कर्त्ता–बुद्धि कहती है कि मैं चला रहा हूँ। इसी प्रकार जिनशासन के मर्म से रिक्त, बाह्याचार मात्र में लीन, भोले–जीव द्रव्य की स्वतंत्र सत्ता न समझने के कारण व्यर्थ के अहंभाव के कर्त्ता बने हुए हैं। कोई समाज–सुधार का कर्त्ता बन रहा है, कोई धर्म–सुधार का कर्त्ता बन रहा है। अहो ! जिनके अन्दर समरसीभाव पलना चाहिए, ऐसे जीव भी कर्तापने में जी रहे हैं। निज सुधार को भूलकर पन्थ/सम्प्रदाय आदि के विरोध में पड़कर अपनी परिणति को विकृत कर रहे हैं; जिनवाणी की सत्यता को भुलाने के विचार में हैं।

भो चेतन ! सभी के प्रति मैत्री–भावना बनाओ। यह पंचमकाल है, इसमें नाना पन्थ/सम्प्रदायों का उद्‌भव तो होगा ही। यह तीर्थेश की देशना है, जिसे सुनकर श्रोताओं के अन्दर सहज ही सत्यमार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त होती है। स्वयमेव वह मिथ्यावेष एवं मिथ्याभाव छोड़ने को तैयार हो जाता है। बलात् किसी को श्रद्धावान् अपने प्रति बनाना चाहो तो वह बनने वाला नहीं है। देखो भाई, जिस जीव की भवितव्यता निर्मल होती है, तदनुकूल उसी प्रकार उसकी प्रवृत्ति होने लगती है। वैसी ही अनुकूल श्रेष्ठ सामग्री अर्थात् निमित्त भी प्राप्त होने लगते हैं तथा कुछ श्रेष्ठ निमित्तों में उसका पुरुषार्थ भी जाने लगता है। यदि साधक वास्तव में मुमुक्षु है, तो उसे सर्वप्रथम सम्यक् पुरुषार्थों से अध्यात्मविद्या का अभ्यास करके अनादि की अविद्या के संस्कारों का अभाव करना चाहिए। कषायभाव के संस्कार तो अनादि के हैं ही, यदि उन्हें बल प्रदान करते रहे तो आपकी कोई विशेषता नहीं है। कषायांशों का उपशमन करना साधक का मुख्य धर्म होता है, न कि स्वयं के अहं के पीछे दूसरे पर कषाय करना तथा भोली समाज को आक्रोशयुक्त भाषण कर उद्वेलित करना। यह भाषा साधकपुरुष की नहीं होती। साधक की भाषा मृदु, मधुर और गम्भीर होती है। पण्डितप्रवर दौलतराम जी ने कितनी सुन्दर पंक्तियाँ लिखी हैं–

जग सुहितकर, सब अहितकर, श्रुति सुखद संशय हरैं ।
भ्रमरोग हर जिनके वचन, मुखचन्द्रतैं अमृत झरैं ।। छह./६/२।।

भो योगी ! योगीजन जगतहितकारी एवं अहित को हरने वाली भाषा का प्रयोग करते हैं। अहिंसा महाव्रती मन–वचन–काय, कृत–कारित–अनुमोदना से किसी भी जीव को कष्ट नहीं देते। यदि कोई उपसर्ग भी करे तो वे उपसर्गकर्त्ता को भी नहीं देखते, अपितु निज पूर्वकृत कर्म के विपाक का ही दोष समझते हैं। यह साधकदशा की चर्चा है। हमारे यहाँ ऐसे श्रावक एवं श्राविकाएँ हुई हैं जिन्होंने संकटकाल में कर्म, काललब्धि एवं होनहार पर ही दृष्टि डाली, परन्तु किसी के ऊपर दोषारोपण नहीं किया। 'पद्म पुराण' में उल्लेख आया है कि जब श्रीराम ने लोकापवाद के भय से सीता को वनवास दे दिया तथा सेनापति कृतांतवक्र सीताजी को जंगल छोड़ने गया, वहाँ से वापस होते समय जनकजननी से पूछा– हे विदेही ! क्या स्वामी से कुछ कहना है? धन्य हो उस समय सीता के धैर्य को। एक नारी जिसे अबला कहते हैं, वह सेनापति से कहती है, 'हमारे स्वामी से कह देना कि आप शोक न करें। इसमें आपका क्या दोष ? भवितव्यता ही ऐसी थी। हमारे ही पूर्वकृत कर्मों का फल है; परन्तु जैसे लोकापवाद से मुझे छोड़ दिया है, ऐसे कहीं वीतराग धर्म को नहीं छोड़ देना।' देखो, धर्म के प्रति निर्मल आस्था, श्रीराम को दोष नहीं देकर स्वयं की भवितव्यता को स्वीकार किया। अतएव, मुमुक्षु जीव को प्रतिपल निज कर्म–विपाक का चिन्तन करना चाहिये, अन्य किसी को अपने सुख–दु:ख का कर्त्ता नहीं बनाना चाहिए। साथ ही स्वयं को भी दूसरों के सुख–दु:ख का कर्त्ता नहीं बनाना चाहिए, क्योंकि कर्त्तापने का भाव ही जीव को क्लेश प्रदान करता है।

भो चेतन ! बारहवीं गाथा में आचार्यश्री काललब्धि की प्रधानता से कथन कर रहे हैं। वर्तमान में जो काललब्धि प्रतिफलित हो रही है, वह भी पूर्व का ही पुरुषार्थ है। कार्य जब भी होगा, वह काललब्धि के आने पर ही होता है, लेकिन बिना पुरुषार्थ किये काललब्धि आने वाली नहीं है। जैसे कि कुकर में चावल पकने रख दिए, नीचे अग्नि भी जल रही है, पानी भी है, सामग्री को रखने वाला भी है, परन्तु इतना सबकुछ होने पर भी चावल तब ही पकते हैं जब योग्य समय होता है अर्थात् कुकर की सीटी बजती है, आप समझ जाते हैं कि चावल पक चुके हैं। अत: कार्य की पूर्णता ही काललब्धि है अथवा काललब्धि पर ही कार्य की पूर्णता होती है। यहाँ पर आचार्यश्री का उद्देश्य संसारविच्छेद से है, वह भी सम्यक् पुरुषार्थ एवं

काललब्धि के आने पर ही होगा। संसार की निकटतारूप सामान्य काल की प्राप्ति और विशेष रूप से मिथ्यात्व, सम्यग्प्रकृति, सम्यग्मिथ्यात्व और अनंतानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ इन सात प्रकृतियों के उपशम रूप विशेष काल की प्राप्ति आदि शब्द से पंचेन्द्रियपना, संज्ञीपना, पर्याप्तकता, आर्य क्षेत्र की प्राप्ति, भावविशुद्धि और सद्गुरु का उपदेश आदि की प्राप्ति। इस प्रकार काल है आदि में जिनके, ऐसी कालादि लब्धियाँ भव्य पुरुष को जैसे–जैसे, जिस–जिस प्रकार से संभव, घटित या प्राप्त होती जाती हैं, इसमें कोई भ्रांति या संदेह नहीं है।

भो चेतन ! आदि में सम्यक्त्व, पाँच अणुव्रत, पाँच महाव्रत, धर्म्यध्यान और अंत में शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होना मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है। अतः काललब्धि आदि की प्राप्ति होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है, यह सहज व्यवस्था है। कुछ पुरुषार्थगम्य होती है, परन्तु जो वर्तमान में सहज प्राप्त है वह भी पूर्व पुरुषार्थ का ही फल है। अतः काललब्धि के भरोसे नहीं बैठना, सम्यक् पुरुषार्थ करते रहना चाहिए, कार्य समय पर ही होगा।

आचार्य कहते हैं कि काललब्धि के वश उक्त सर्व सुसामग्री की प्राप्ति होने के बाद भी यदि साधक के अन्दर ध्यान की सिद्धि नहीं है तो आत्मसिद्धि त्रैकालिक संभव नहीं है। अंतिम साधना तो साधक का ध्यान ही है। बाह्याचरण कितना ही विशेष करे, परन्तु ध्यान के बिना सब शून्य है। जैसे जन्मांध व्यक्ति सूर्य को नहीं देख सकता है, उसी प्रकार ध्यानविहीन साधक केवलज्ञानसूर्य को नहीं देख सकता अर्थात् केवलज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। कैवल्य के अभाव में शिवत्व की प्राप्ति है ही कहाँ? आत्मविकास एवं निज से निज का मिलाप कराने वाली शक्ति यदि कोई है तो वह है ध्यान–साधना। अतः चित्तवृत्ति का जहाँ पूर्ण निरोध हो जाता है, वहाँ परम ध्यान की सिद्धि होती है।

भो चेतन! आचार्यभगवान् प्रेरणा कर रहे हैं कि यदि आपको कर्मक्षय की भावना है तो सम्यक् ध्यान का आश्रय लो। जिस प्रकार दोनों पैरों से रहित कोई मनुष्य सुमेरु पर्वत के शिखर पर चढ़ने की इच्छा करता है, तो उसकी वह इच्छा निरर्थक है, उसी प्रकार यदि कोई साधु स्वगत–तत्त्व और परगत–तत्त्व का ज्ञाता होकरके ध्यान के बिना कर्मों के क्षय करने की इच्छा करता है, तो उसकी वह इच्छा जलसदृश प्रतीत होने वाली मृगमरीचिका के समान व्यर्थ है। क्योंकि ध्यान के बिना धर्म की आराधना करने वाला सच्चा आराधक नहीं है, किन्तु आराधकाभास है। समीचीन आराधक प्रतिपल धर्म्यध्यान एवं शुक्लध्यान का अभ्यास करते

हैं। अपनी सामर्थ्य के अनुसार तद् ध्यान में लीन होकर कर्मसमूह का नाश कर, अशरीरी अवस्था (सिद्धत्व) को प्राप्त होते हैं। अत: प्रत्येक साधक–श्रावक का कर्त्तव्य है कि अपनी–अपनी योग्यतानुसार ध्यान का सतत् अभ्यास करें।।१३।।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय ।।

१ १ १

पंचमकाल में धर्म्य-ध्यान

संका–कंखागहिया विसयपसत्ता सुमग्गपब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई ण हु कालो होइ झाणस्स ॥१४॥

अर्थ: शंकाशील और विषय–सुख की आकांक्षा वाले, इंद्रियों के विषयों में आसक्त एवं मोक्ष के सुमार्ग से प्रभ्रष्ट कितने ही पुरुष इस प्रकार कहते हैं कि यह काल ध्यान–के–योग्य नहीं है।

प्रवचन

मनीषियो !

आचार्य देवसेन स्वामी ने सर्वज्ञ की वाणी को बहुत ही करुणा–बुद्धि–पूर्वक हम सभी के सामने रखा है। यह वीतरागी आचार्यों की परम करुणा है, जिनशासन के प्रति बहुत बड़ा उपकार है। यदि जिनेन्द्र की वाणी न होती तो, मनीषियो ! जिनशासन का प्रवर्तन आज नहीं दिखता। सर्वज्ञ–शासन को जाज्वल्यमान करने वाली आचार्य भगवन्तों की पवित्र लेखनी ही है। अन्तस् को स्पर्श करने वाली इस वाणी का बहुत सुन्दर सूत्र है कि जिस प्रकार जन्मान्ध व्यक्ति सूर्य को नहीं देख सकता, उसी प्रकार से ध्यानविहीन योगी निज आत्म तत्त्व को नहीं जान सकता। बाहरी साधना अंतरंग साधना की सिद्धि का आलंबन/साधन है और अंतरंग साधना साध्य है। व्यवहार–संयम कारण–समयसार है। निश्चयसंयम कार्य–समयसार है। कारण–समयसार के अभाव में कार्य–समयसार का सद्भाव नहीं देखा जाता। जहाँ कारण होगा, वहीं कार्य होगा; इसलिये आचार्य समंतभद्र स्वामी ने भगवान् कुन्थुनाथ की स्तुति करते हुए बहुत ही सुन्दर सूत्र लिखा कि भगवन् ! आपने बहिरंग साधना क्यों की ?

बाह्यं तपः परम–दुश्चरमाऽऽचरंस्त्व,
माऽऽध्यात्मिकस्य तपसः परिवृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुष–द्वयमुत्तरस्मिन्,
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ॥८३॥ स्वयंभू स्तोत्र॥

हे प्रभु ! आपने अंतरंग तप की वृद्धि के लिये बहिरंग तप को तपा है। जैसे कि बटलोई

को तपाने के लिए बटलोई नहीं तपाई जाती, वरन् दुग्ध को तपाने के लिए बटलोई को तपाना पड़ता है, वैसे ही आत्मद्रव्य को प्राप्त करने के लिए अथवा आत्मतत्त्व की सिद्धि के लिये बहिरंग साधना अनिवार्य होती है। जिस प्रकार बिना बटलोई तपे दुग्ध तप नहीं सकता, उसी प्रकार से बिना बहिरंग संयम धारण किए अंतरंग संयम का उद्भव नहीं होगा और अंतरंग संयम के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं होगी। इसलिये यहाँ योगी की दशा की बहुत ही अनुपम चर्चा कर रहे हैं कि **योगी की दृष्टि उस नट के तुल्य है जो दो बाँसों के बीच में बंधी हुई रस्सी पर चल रहा है, खेल दिखा रहा है। इससे दर्शकों को तो आनन्द आ रहा है, दर्शक देख रहे हैं लेकिन, हे नट ! तू मत देखने लगना कि तुझे कितने लोग देख रहे हैं। यदि तूने देखना आरंभ कर दिया तो तेरा खेल समाप्त हो जायेगा।** दुनियाँ देख रही है कि नट रस्सी पर चल रहा है, परन्तु नट की दृष्टि/ध्यान अपने शरीर के सन्तुलन पर है। इसी प्रकार योगी का निश्चय और व्यवहार संयम इन दो बाँसों के बीच में सध रहा है और भक्त देख रहे हैं कि कैसी साधना चल रही है। परन्तु योगी! तुम मत देखने लगना कि भक्त तेरी कितनी भक्ति कर रहे हैं, अन्यथा तेरी साधना खत्म हो जायेगी।

मनीषियो ! ध्यान की सिद्धि उस माँ से पूछना जो कि पनघट से कलश भरकर शीश पर रखे हुए है, मार्ग में सहेलियाँ मिल जाती हैं। एक घण्टे खड़े–खड़े चर्चा हो रही है, घड़े से हाथ छोड़ दिया है, लेकिन कलश शीश पर रखा हुआ है। चर्चाएँ चल रही हैं, यहाँ–वहाँ देख भी रही है वह माँ, परन्तु ध्यान रखना, उसकी दृष्टि कलश पर है, अन्यथा कलश नीचे गिर जायेगा। इसी प्रकार, हे अध्यात्म योगी ! ध्यान रखना कि संसारियों के बीच में रहकर अपने आत्म–घर को नहीं भूलना है। यदि आत्मघर को भूल गये, तो तेरे अन्तरंग में बैठा अध्यात्म का अमृतकलश नीचे गिर जायेगा। आचार्य अमृतचंद स्वामी ने अपनी टीका का नाम 'आत्मख्याति टीका' रखा। टीका में जो कलश लिखे हैं, वे अध्यात्म के अमृत–कलश हैं, जिसमें आत्मा का अध्यात्म–अमृत भरा हुआ है। अतएव ध्यान रखो कि ध्यान की सिद्धि चित्त की निश्चलता पर होगी।

भो ज्ञानी ! थोड़ा समझना, परंतु प्रकृति के धर्म को देखकर समझना, फिर देखो कि आनन्द–ही–आनन्द है। समय पर पुष्प खिलते हैं, समय पर मुरझा जाते हैं। सूर्य उदय होकर जैसे–जैसे घूमता जाता है, वैसे–वैसे आत्मा के सुख का सुमन भी खिलता जाता है। जिसके

पास चारित्र का सूर्य नहीं है, उसकी स्वानुभूति के सुमन खिलने वाले नहीं हैं। आत्मा का सुमन भी खिलता जाता है जिसके पास चारित्र का सूर्य हो, क्योंकि पुष्प खिलता है अपनी उपादान की योग्यता से, परन्तु सूर्य–उदय हुए बिना वह खिलता नहीं है। भो ज्ञानी ! राकेश के उदय में तो कुमुदनी खिल सकती है, परन्तु दिनकर के उदय के बिना मनोज खिलता नहीं है, कमल खिलता नहीं है, जलज खिलता नहीं है।

भो चेतन ! थोड़ा समझना द्रव्य की दृष्टि, द्रव्यव्यवस्था, प्रकृति का परिणमन। उस प्रकृति के परिणमन में प्रकृतिरूप हो जाओ। बस, उदित होना, अस्त होना, यह प्रकृति का धर्म है और संयोग होना, वियोग होना, यह भी प्रकृति का धर्म है; परन्तु संयोग–वियोग में हर्षित होना और दुःखित होना प्रकृति का धर्म नहीं है– यह विकृति का धर्म है, क्योंकि दुःखित प्रकृति नहीं हो रही, दुःखित तेरी विकृति हो रही है। विभाव परिणमन है, स्वभाव परिणमन नहीं है। यदि हम दुःखित होने को प्रकृति कहेंगे, तो दूसरे क्षण में आप दुःखित क्यों नहीं हुए ? दुःख व्यक्ति में नहीं है। भो चेतन ! सँभलना और सँभलकर सुनना। दुःख व्यक्ति में नहीं है, दुःख वस्तु में भी नहीं है। एक वीतरागी योगी है, उसके सामने भी वस्तु है, वह भी एक व्यक्ति है। यदि वस्तु या व्यक्ति में दुःख होता तो, भो ज्ञानी ! वीतरागी संज्ञा कहीं प्रकट ही नहीं होती। जो वस्तु या व्यक्ति को मेरे और तेरे कहने वाला है, वह दुःखी है। इसलिए ध्यान के पहले ध्याता को वस्तु और व्यक्ति से दूर हटना पड़ेगा। वस्तु और व्यक्ति जब तक तेरी दृष्टि में झलकते रहेंगे, तब तक, भो चेतन ! ध्यान की सृष्टि का उद्भव नहीं होगा। अंतरंग शक्ति को जाज्वल्यमान करने वाला कोई द्रव्य है, वस्तु है, आत्मा के अनन्त गुणों को उद्भूत (उत्पन्न) करने वाली यदि कोई वस्तु है, तो वह ध्यान है। आदमी को उद्भूत करने वाली वस्तु है तो, भो ज्ञानी ! ध्यान है। जिसको ध्यान की शक्ति का भान न हो तो वे घर जाकर अनुभव करें कि ध्यान में कितनी शक्ति है? अर्थात् भोजन पकाने वाली बटलोई में नीचे अग्नि जलाकर ढक्कन खोल देना पूरा, फिर देखना कि दाल कितनी देर में पकती है और वैसी–की–वैसी बटलोई का ढक्कन बंदकर फिर देखना कि दाल कितने समय में पकती है, फिर समझना। क्योंकि जब तक ढक्कन बंद नहीं होगा, जब तक भाप नहीं बनेगी। जेम्सबाट ने कितनी बड़ी रेलगाड़ी भाप की शक्ति पर चलाई।

भो ज्ञानी ! इसी प्रकार जब योगी सम्पूर्ण इंद्रियों की खिड़कियों को बन्द करके बैठता

है, तो अंतरंग की भाप अंतरंग में उत्पन्न होती है, निज की ऊर्जा निज में उद्‌भुत होती है। ढक्कन जब भाप से बाहर फिक जाता है तो, भो चेतन ! कर्मों की राख अपने आप बाहर फिकना आरंभ हो जाती है। अतः बगैर ध्यान के कर्मों की निर्जरा संभव नहीं है। जो निर्जरा मोक्ष का साक्षात् हेतु है, उसका एकमात्र आलम्बन ध्यान है। ऐसा मत कहना कि आज ध्यान नहीं होता है। ध्यान तो त्रैकालिक होता है। अतः पहले यह देखो कि हमारा कौनसा ध्यान चल रहा है, धर्म्य या शुक्ल ध्यान, जो मोक्ष के हेतु हैं। आर्त और रौद्र ध्यान संसार के हेतु हैं। क्रूरता का नाम रौद्र ध्यान है। हिंसानन्दि रौद्र ध्यान। हिंसा में कितने प्रकार से शामिल है? कृत, कारित, अनुमोदन, मन, वचन, काय, समरंभ, समारंभ, आरम्भ। जब जागते हैं, तब हिंसा के जाल को फैलाते हैं और जब सो रहे होते हैं, तब भी हिंसा के जाल को फैलाकर सोते हैं। कछुआ–छाप अगरबत्ती लगाकर ही सोयेंगे।

भो मनीषी ! इसी प्रकार जिनेन्द्र की आज्ञा के विरुद्ध जो काम होगा और उसमें जो आनंद होगा, वह चौर्यानन्दि रौद्रध्यान है। बिजली की चोरी, अधिक मुनाफा कामना और प्रसन्न होना, इच्छाओं की पूर्ति के लिए जो छलकपट करना पड़ता है, दूसरे की वंचना करना, बच्चों को झूठ बोलकर बहला देना, दूसरे को घुमा देना, यह सब चौर्यानन्दि रौद्र ध्यान है। यहाँ तक कि एक साधक समय पर अपनी साधना नहीं कर रहा, **यह सब चौर्यानन्दि रौद्र ध्यान** है।

परिग्रह में आनंद मानना **परिग्रहानन्दि रौद्रध्यान** है। अधिक आरम्भ नियम से तिर्यंच और नरक गति का कारण है। जो परिग्रह अभी जोड़ रहे हो, उसको संभालने के लिये नागनाथ भी बनना पड़ेगा, क्योंकि जीवन का तो एक ही लक्ष्य है। परिग्रह तो आने वाले समय का भी एक ही कर्म होगा, उसे सँभाले रखना। इष्ट का वियोग होने पर जो आर्त्त परिणाम होते हैं, वह **इष्टवियोगज आर्त्तध्यान** है। बेटा अमेरिका जा रहा है, प्रसन्नता भी है, लेकिन अपने से बिछुड़ने की जो वेदना है, जो चिंतन चल रहा है, वह आर्त्त–ध्यान शुभबंध का कारण नहीं है। जो हमें अच्छा नहीं लगता उसका संयोग हो जाय, तो **अनिष्ट–संयोग आर्त्त ध्यान** है।

भो ज्ञानी ! आप चाहे रो–बिलख कर सहन करो, चाहे समता से सहन करो, कर्म का विपाक तो समय पर ही होगा। ऋण लिया तब आनंद आया, अब देने में वेदना क्यों होती है ? ज्ञानी व्यक्ति कर्म–विपाक के समय नया कर्म नहीं बाँधता। भो ज्ञानी ! यदि कोई शत्रु

धर्मसभा में आपके बगल में बैठना चाहता है, तो क्या आप सहज तैयार हो जाते हैं ? ध्यान रखना, जब धर्मसभा में साथ में नहीं बैठ सकते, तो अनन्त सिद्धों के साथ भी नहीं बैठ पाओगे। अभ्यास तो यहीं से करना पड़ेगा। अतएव, किसी से ईर्ष्या न करो, ग्लानि न करो। अरे ! जिस कर्म के करने को काली रात खोजते हो, उसका फल भी काला ही होगा। शरीर में बड़ी पीड़ा है, रोने से क्या होगा ? सहन तो आपको ही करना है। परिवार के लोग पीड़ा नहीं बटा सकते, पैर दबा सकते हैं, औषधि लगा सकते हैं। बड़े–बड़े वैद्य भी असफल हो गये कर्म की तीव्रता में। इस समय शरीर और पीड़ा की प्रमुखता को लेकर जो चिंतन चलेगा, वह **पीड़ा–चिंतन नामक आर्त्तध्यान** है। परन्तु ज्ञानीजन कर्म के विपाक को समता से सहन कर लेते हैं। आगामी भोगों की इच्छा की भावना रखना और ऐसी ही भावना से देवाधिदेव की भक्ति करना, पंच परमेष्ठी की आराधना करना और भविष्य में होने वाले भोगादि की कल्पना करना, उनका चिन्तन करना, **निदान आर्त्तध्यान** है।

भो चेतन ! धर्मयुक्त ध्यान को धर्म्य–ध्यान कहा गया है। पूज्यपाद स्वामी ने चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव के उपचार से धर्म्य–ध्यान कहा है। छठवें गुणस्थान में भी शुद्ध धर्म्यध्यान नहीं लिखा है, क्योंकि यहाँ भी आर्त्तध्यान का अंश होता है। शुद्ध धर्म्यध्यान तो सातवें गुणस्थान में ही होता है। इसलिये देवसेन स्वामी 'तत्त्वसार' की इस गाथा में यह कहते हैं, कि ऐसा मत मान लेना कि पंचमकाल में धर्म्यध्यान नहीं होता, ऐसी शंका भी मत कर लेना। संयम और साधना पर अविश्वास उसे ही होता है, जो संयम और साधना से रिक्त होता है। जो विषय–भोगों का कीड़ा है, उसे संयम नहीं दिखता। अपने असंयम और विषय–कषायों के लिये वह पंचमकाल पर दोष थोपता है तथा विषय–कषायों के पोषण के लिये चतुर्थकाल जैसा कार्य करता है।

भो ज्ञानी ! संयम के लिये जो ताकत लगाना होती है, वही असंयम के लिये भी लगाना होती है। ताकत दोनों में लगती है। अतः असंयम में शक्ति का दुरुपयोग मत करो। जो शरीर का ओज है, उसे तुमने विषय–भोग की नाली में फेंक दिया। जब तक शंकालु दृष्टि रहेगी, तब तक सम्यग्दृष्टि नहीं हो सकते।

धर्म्यध्यान के भी आचार्यों ने चार भेद बतायें हैं–

१. जैसा जिनेन्द्रदेव ने कहा, वैसा ही मान लेना कि 'यह इसी प्रकार है', क्योंकि जिनेन्द्र

भगवान् अन्यथावादी नहीं होते। इस प्रकार के श्रद्धान से अर्थ का अवधारण करना **आज्ञाविचय धर्म्यध्यान** है।

२. जो मिथ्यात्व में हैं, वे वहाँ से कैसे निकल सकें, इस प्रकार का चिंतन **अपायविचय धर्म्यध्यान** है।

३. यह जो हमारा उदय चल रहा है, यह हमारे ही पूर्वकृत कर्मों का ही फल है, हम स्वयं ही इसके जिम्मेदार हैं और हमें ही सहन करना होगा। इस प्रकार कर्मों के फल का विचार करना **विपाकविचय धर्म्यध्यान** है।

४. लोक के आकार और उसकी दशा का चिंतन करना **संस्थान–विचय धर्म्यध्यान** है।

सम्यग्दृष्टि जीव, पंचमकाल के योगी इस प्रकार धर्म्यध्यान के माध्यम से अपने कर्मों की निर्जरा करते हुये मोक्षमार्ग पर अचल रूप से चलते रहते हैं।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

पंचमकाल में ध्यान की सिद्धि

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोए ।
तत्थ चुया मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ॥१५॥

अर्थ: आज भी रत्नत्रयधारी मनुष्य आत्मा का ध्यान कर स्वर्गलोक को जाते हैं और वहाँ से च्युत होकर उत्तम मनुष्यकुल में जन्म लेकर निर्वाण को प्राप्त करते हैं।

प्रवचन

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की दिव्यदेशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने आत्मा की उस दशा का कथन किया जो परमार्थ–तत्त्व की ओर ले जाने वाली है। जिस जीव ने चैतन्य के वास्तविक स्वरूप को समझ लिया है, उस जीव को धर्मस्थान खोजने की आवश्यकता नहीं। वह तो धर्मस्थान पर ही विराजता है। अज्ञानी जीव को प्रारंभिक अवस्था में धर्मस्थान की खोज करना पड़ती है, लेकिन ज्ञानीजीव जहाँ है, वहाँ उसे कण–कण तीर्थ नजर आता है।

भो प्रज्ञात्मन् ! वास्तव में आपको खोज धर्मस्थान की नहीं, पापस्थान की करना चाहिए। आप इस बात का चिंतन करें कि इस लोक में ऐसा कौन–सा प्रदेश है, जिस प्रदेश में बैठकर आप पाप कर सकें, उसकी खोज करो। कौन–सी ऐसी भूमि है जो सिद्धभूमि नहीं है, कौन–सा ऐसा प्रदेश है जहाँ से सिद्ध नहीं हुये हों? पूरा ढाईद्वीप सिद्धभूमि है। जिनवाणी कहती है कि जिसने पुण्यक्षेत्र में पाप किया, उसे तो तीव्र पाप का बंध होगा। अतः आप स्वयं चिंतन करना कि ऐसा कौनसा प्रदेश है जिस भूमि पर जिनेन्द्र का ज्ञान न झलकता हो, लोक में ऐसा कौन–सा प्रदेश है जिसे केवली ने अपने समुद्घात में स्पर्श न किया हो ? अतः पुण्यक्षेत्र खोजने की आवश्यकता नहीं है, पापक्षेत्र खोजो।

भो ज्ञानी! अज्ञानी जीव खोजता है, भटकता फिरता है। ज्ञानी जीव खोजता नहीं है। स्वयं में खो जाओगे, तो 'स्वयं' मिल जायेगा। इसलिये धर्म की क्रिया करने के लिये मंदिर चाहिये, पर धर्म करने को मंदिर की आवश्यकता नहीं होती। पूजा के लिये मंदिर की

आवश्यकता पड़ती है, परन्तु पूज्य बनने को मंदिर की आवश्यकता नहीं है। इसी तरह ज्ञानी बनने के लिये भी शास्त्रों की आवश्यकता नहीं है। यदि शास्त्रों से ज्ञानी बना जाता, तो अलमारी कब की ज्ञानी बन चुकी होती। यह ज्ञान शास्त्र या अलमारी का धर्म नहीं है, ज्ञान तो आत्मा का धर्म है। लोग धर्म को जानते नहीं हैं, क्योंकि अनादि से संस्कार तो जाति के हैं, कुल के हैं; धर्म के नहीं हैं। इसलिये समझो कि धर्म क्या है ?

भो ज्ञानी ! हो सकता है कि आपको पूजा करने का समय निकालना पड़े, लेकिन धर्म तो समय न होने पर भी हो सकता है। जिनालय आते समय में अच्छे विचार करने को समय नहीं निकालना पड़ता। यही अच्छे विचार धर्म हैं। मार्ग में किसी जीव पर करुणा करना, किसी की सहायता करना धर्म ही है। प्राणिमात्र के प्रति समदृष्टि होना, परिणामों में निर्मलता का होना ही धर्म है। जिसे आडम्बरों में बाँध कर रखा है, वह धर्म नहीं है। मनीषियो ! धन व धरती धर्म के साधन हो सकते हैं, परन्तु धर्म न जाति का है, न धन का है। यदि दान देते समय आपके परिणाम व्याकुल हो गये, मान–कषाय आ गई, तो धन से भी गये और धर्म से भी गये। धर्म मान में नहीं, धर्म तो मार्दव में है। न तो मान धर्म है और न ही मान का पोषण करना धर्म है। क्रोध धर्म नहीं, धर्म तो क्षमा है और क्षमा करने के लिये धन की, समय की आवश्यकता नहीं होती। धर्म के लिये कोई स्थान निश्चित नहीं होता। धर्म मंदिर में, घर में, जंगल में, राह में, कहीं भी हो जाता है। जैनधर्म में तो ऐसे उदाहरण हैं कि मुनिराज वेश्या के घर में चातुर्मास पर्यन्त ब्रह्मचर्य में रहकर वापिस आए। धन्य हैं ऐसे जीव। ऐसे योगियों की अगवानी करने आचार्यभगवंत खड़े हो जाते हैं, यह है धर्म। हम जब–जब अपने परिणामों को निर्मल करते हैं, तब–तब धर्म होता है। अच्छा करना धर्म है और बुरा करना अधर्म है। जब–जब पीड़ा पहुँचाई जाती है, तब अधर्म होता है और जब–जब करुणाबुद्धि से कार्य किया जाता है, तब–तब धर्म होता है।

भो ज्ञानी ! धर्म तो भगवान् बनने के लिये किया जाता है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव धर्म है। भगवान् की भक्ति पुण्य–क्रिया है, यह कषायों के शमन के लिये ही की जा रही है। **जैनदर्शन भीड़ में धर्म नहीं मानता, हाँ धर्म में भीड़ हो सकती है। इसी प्रकार, भीड़ में समाधि नहीं हो सकती, लेकिन समाधि में भीड़ हो सकती है।** जब संसार की सब क्रियायें बन्द हो जायेंगी, तब धर्म प्रारम्भ हो जायेगा।

भो चेतन ! जब शुभ कर्म करोगे, तो देवगति का बंध होगा और जब अशुभ कर्म करोगे, तो नरक गति का बंध होगा, जबकि शुद्धोपयोग से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः निज में निज का रमण, यह निर्ग्रन्थ योगी की दशा है। अतएव क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्य इन्हें करने के लिये किसी बाहरी तत्त्व की आवश्यकता नहीं, यह तो जीव के स्वभाव हैं, और यही धर्म है। अतएव 'मोत्तूणं राय–दोस वा मोहे' अर्थात् राग–द्वेष और मोह को छोड़कर ध्यान का अभ्यास करो, अपनी शुद्ध–बुद्ध चिदानंदरूप आत्मा का ध्यान करो। भो ज्ञानी ! संसार की स्थिति का भेदन करने के लिए उस समय तक शुभोपयोग में प्रवृत्ति करनी चाहिये जब तक कि शुद्धोपयोग प्राप्त न हो जाय। तदनुसार जिनेन्द्र की जो आज्ञा है, उसको अक्षरसः हृदय से स्वीकार करना **आज्ञाविचय धर्म्यध्यान** है। सिद्ध अनंतानन्त हैं। जीव दो प्रकार के होते हैं, त्रस और स्थावर। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग बनते हैं। गति चार हैं (पंचमगति मोक्ष है), इन्द्रियाँ पाँच होती हैं, अस्तिकाय पाँच होते हैं, द्रव्य छः होते हैं, तत्त्व सात होते हैं, सिद्ध भगवान् के आठ मूलगुण होते हैं, नौ पदार्थ होते हैं, आदि का चिंतन **आज्ञाविचय धर्म्यध्यान** है।

योगी आहार करता दिख रहा है और अन्दर से उसके यह चिंतन चल रहा है कि यह आहार कब बंद होगा, पुद्गल के टुकड़े कब तक खाते रहेंगे, यह **अपाय–विचय धर्म्यध्यान** है। मिथ्यादृष्टि जीव जन्मान्ध पुरुष के समान सर्वज्ञप्रणीत मार्ग से विमुख होते हैं। उन्हें सन्मार्ग का परिज्ञान न होने से वे मोक्षार्थी पुरुषों को दूर से ही त्याग देते हैं। इस प्रकार सन्मार्ग के अपाय का चिन्तन करना **अपायविचय धर्म्यध्यान** है। अथवा ये प्राणी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र से कैसे दूर हों– इस प्रकार का चिन्तन अपाय–विचय धर्म्यध्यान है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ के अनुसार रत्नत्रय की भावना के बल से हमारे तथा दूसरों के कर्मों का विनाश होता है– ऐसा विचार करना अपायविचय धर्म्यध्यान है।

एक व्यक्ति किसी की विभूति को देखकर ईर्ष्या करता है, उसको चुराने के भाव रखता है। दूसरा व्यक्ति उसकी विभूति को देखकर सोचता है कि इसने पूर्व में पंचपरमेष्ठी की आराधना की होगी, मुनियों को आहारदान दिया होगा, जिसके फलस्वरूप इतनी विभूति और सुन्दर शरीर प्राप्त हुआ है। एक व्यक्ति शरीर की पीड़ा के कारण तड़प रहा है, उस समय आपके अन्दर जो करुणा आई है, सहायता करने के भाव पैदा हुए हैं, सहायता भी कर

रहे हैं और यह चिंतन चल रहा है कि उसके कर्मों का उदय तो देखो, तीव्र असाता का उदय आया है। कैसे अशुभ कर्मों का बंध किया जो आज उदय में आये हैं। देखो, जब तक रक्षा कर सकते हो, तब तक जीवों की रक्षा करना। जिनवाणी में दया और अहिंसा प्रमुखता से हैं और जब रक्षा न हो, तब ऐसा चिन्तन हो कि हे भगवन् ! इसके किस कर्म का उदय है, जो इसको ऐसा फल मिल रहा है। प्रभु ! इसकी रक्षा हो। ऐसा विचार करना **विपाकविचय धर्म्यध्यान** है।

असाध्य रोग हो गया है, बिस्तर पर है, लगातार चिंतन कर रहा है, तड़प रहा है, अनर्गल प्रलाप कर रहा है, परिवार को दोष दे रहा है, वहाँ पर अनन्त कर्मों का बंध कर रहा है और दूसरी ओर उसी अवस्था में चिंतन कर रहा है, कि मैंने पूर्व में किसी के निरोग शरीर को अवश्य दुःख दिया होगा, परन्तु कर्म–उदय को साता से भोग रहा है, ऐसा चिंतन कर असंख्यात गुणी कर्म–निर्जरा कर रहा है। यहाँ पर **विपाकविचय धर्म्यध्यान** चल रहा है। एक अशुभ चिंतन करके अशुभ का बंध कर रहा है और दूसरा शुभ का चिंतन करके शुभ कर्म का बंध कर रहा है।

भो आत्मन् ! कंस पूर्व की पर्याय में मुनि का जीव था। उस मुनि का आहार राजा उग्रसेन ने रुकवा दिया था, परिणामतः पुत्र होकर भी पिता उग्रसेन को छींके पर टाँग दिया। अतः कभी पिंजड़े में पक्षियों को बंद मत करना, क्योंकि पालतू पशु–पक्षी यदि हिंसा करता है, तो दोष उसके मालिक को लगेगा। किसी की स्वतंत्रता का हनन मत करना। सीता के जीव ने कबूतर–कबूतरी को अलग किया था। इस कारण जैसे वे बिलखे, वैसी सीता भी बिलखी। भो चेतन ! पालतू पशुओं के आहार–पानी में कमी मत करना। जितना कर्म करोगे, उतना फल भोगना पड़ेगा। यह **विपाकविचय धर्म्यध्यान** है।

इसी प्रकार लोक के आकार और स्वभाव की दशा का निरंतर चिंतन करना **संस्थानविचय धर्म्यध्यान** है। अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं का चिंतन करना भी **संस्थानविचय धर्म्यध्यान** है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रंथ के अनुसार जो पुरुष उपशमभावरूप परिणत होकर लोक के आकार और स्वभाव का निरंतर चिंतन करता है, वह कर्मपुंज को नष्ट कर उसी लोक का शिखामणि होता है।

भो चेतन ! इस धर्म्यध्यान को करने के लिये कौनसी सामग्री चाहिये? क्या पंचमकाल

में धर्म्यध्यान होता है? आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने ग्रंथराज अष्टपाहुड में कहा है कि जो पंचमकाल में धर्म्यध्यान को नहीं मानता, वह अज्ञानी है, अभव्य है। आचार्य देवसेन स्वामी इस १५ वीं गाथा में कह रहे हैं कि आज भी इस पंचमकाल में सच्चे वीतरागी गुरु होते हैं। पण्डित टोडरमलजी ने कुगुरुओं को लक्ष्य कर जो कथन किया है, उसे सतगुरु में मत लगा लेना। उन्होंने 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में लिखा है कि **हंस पक्षी तो होता है, लेकिन प्रत्येक पक्षी हंस नहीं हो सकता। प्रत्येक वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु तो होता है, लेकिन प्रत्येक गुरु वीतरागी निर्ग्रन्थ नहीं होता।**

'अष्टपाहुड' में भी उल्लेख है कि **आज भी तीन रत्नों से युक्त निर्ग्रन्थ मुनि आत्मा का ध्यान कर स्वर्गलोक प्राप्त कर लेता है और वहाँ से आकर मनुष्यपर्याय धारण कर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। वर्तमान में भी मुनि उत्कृष्ट साधना कर ले तो लोकान्तिक देवों के पद को प्राप्त होते हैं और वहाँ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।**

भो मनीषी ! गौतम स्वामी ने महावीर स्वामी से प्रश्न किया कि भगवन् ! इतने वर्ष व्यतीत हो गये, लेकिन मुझे केवलज्ञान नहीं हो रहा है। उत्तर मिला– गौतम ! तुमको अभी वर्द्धमान से राग है, जो केवली नहीं होने दे रहा है। सोचो ! राग का एक अंश केवलज्ञान प्राप्त नहीं होने देता, वह भी भगवान् के समवसरण में उनके ही गणधर को। अस्तु, जब तक प्रशस्त–राग है, तब तक शुभ–आस्रव है और यदि आस्रव है, तो बंध है और बंध है तो उदय है।

भो ज्ञानी ! इससे अनर्थ मत कर बैठना कि बंध के चक्कर में प्रशस्त राग भी छोड़ दो। जीव की योग्यतानुसार ही कर्म का बंधपना अथवा निर्बंधपना है। इसलिये, भैया ! मंदिर मत त्याग देना। क्योंकि अशुभराग को छोड़ोगे तो ही शुभ में आओगे, वीतरागता को पाओगे।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

निज आत्मा ही परम ध्येय

तम्हा अब्भसऊ सया मोत्तूणं राय दोस वा मोहो ।
झायउ णियअप्पाणं जइ इच्छह सासयं सोक्खं ॥१६॥

अर्थः इसलिये यदि शाश्वत/अविनश्वर सुख को चाहते हो तो राग, द्वेष और मोह को छोड़कर, सदा ध्यान का अभ्यास करो और निज आत्मा का ध्यान करो।

प्रवचन

मनीषियो !

भगवान् महावीर स्वामी की पावन देशना हमारे आचार्य भगवन्तों ने जन–जन के कानों तक पहुँचाई। आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव ने भी ग्रंथराज नियमसार की टीका में बहुत सुन्दर बात कही है। अहो ! प्यासा व्यक्ति जब तृषा से युक्त होता है, तो वह अंजुली को लगाकर पानी को पीता है, पर जिसे तत्त्वसार की प्यास लगी है तो वह हाथों की अंजुली नहीं लगाता। भो ज्ञानी आत्माओ ! जिसने तत्त्व को कर्ण–अंजुली बनाकर पिया है, अंतस्थ किया है, हृदयंगम किया है– वही सच्चा ज्ञानी है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने 'तत्त्वसार' की १५वीं गाथा में कथन किया है कि पंचमकाल में जो ध्यान का निषेध है, वह शुक्लध्यान का निषेध किया है। क्योंकि पंचमकाल में उत्तम संहनन नहीं है, उत्तम काल नहीं है, इसलिये उत्तम ध्यान नहीं है। परन्तु धर्म्यध्यान का निषेध नहीं है। धर्म्यध्यान तो पंचमकाल के अन्त–अन्त तक होगा और धर्म्यध्यान को मानने वाले श्रावक व साधु दोनों होंगे। जो इस बात को नहीं मानता है, उसे कुंदकुंद स्वामी ने मिथ्यादृष्टि कहा है। इसलिये यदि शाश्वत सुख को चाहते हो तो राग, द्वेष और मोह को छोड़कर सदा ध्यान का अभ्यास करो और अपने आत्मा का ध्यान करो।

भो ज्ञानी ! अब प्रश्न होता है कि ध्यान तो होता है, पर ध्यान किया कैसे जाये ? ध्येय क्या है ? जब तक ध्येय का ज्ञान नहीं होगा, तब तक ध्यान किसका ? यथार्थ में निश्चयदृष्टि से निज शुद्धात्मा ही हमारा परम ध्येय है, व्यवहारदृष्टि से पंचपरमेष्ठी ध्येय हैं। शेष पदार्थ हेय

हैं, ज्ञेय हैं। परम शुद्ध निश्चयनय से निज आत्मा ही ध्येय है, उपादेय है। ग्रंथराज वारसाणुपेक्खा में भी कुंदकुदाचार्यजी ने कहा है–

अरुहा सिद्धा–इरिया, उवझाया साहु पंचपरमेट्ठी ।
ते वि हु चिट्ठदि आदे, तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१२॥

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पाँचों परमेष्ठी आत्मा में ही विराजे हैं। इसलिये आत्मा ही मेरा परम ध्यान है, आत्मा ही परम ध्येय है, आत्मा ही परम उपादेय है।

व्यवहार दृष्टि से जिस आत्मा ने रत्नत्रय को धारण किया है, स्वानुभव की साधना में लवलीन है, विषय–कषाय से परे हैं, ज्ञान–ध्यान में लीन हैं, वह साधु–परमेष्ठी हमारे ध्येय हैं। जो वीतरागधर्म की देशना में लवलीन हैं, जिनागम के सिद्धान्तों को जान रहे हैं, जिनागम के तत्त्व को निजानुभूति से समझ रहे हैं– ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठी हमारे ध्येय हैं। जो मुनियों में श्रेष्ठ हैं, जो भेदाभेद पंचाचार में लवलीन हैं, जिन्होंने संसार के विषयों को तुच्छ समझकर छोड़ दिया है, स्व–पर में लवलीन होकर जो शिक्षा–दीक्षा दे रहे हैं, वे आचार्यपरमेष्ठी हमारे ध्येय हैं। वे अर्धनारीश्वर अरहंत देव, जिन्होंने चार घातिया और चार अघातिया इन आठ कर्मशत्रुओं में से आधे को नष्ट कर दिया हो, जो लोकालोक को प्रकाशित कर रहे हैं, वे अरहंतपरमेष्ठी हमारे परम ध्येय हैं। जिनने सम्पूर्ण कर्मों को नष्ट कर दिया है, लोक के अग्रभाग में विराजते हैं, जो परमपारिणामिक स्वभाव में लीन हैं, वे ज्ञायकस्वभावी परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी हमारे परम् ध्येय हैं। यह परगत ध्येय–तत्त्व है और इस सबसे रहित जो निज शुद्धात्मा है, वह मेरा निज ध्येय स्वरूप है। अब वह ध्यान, ध्याता और ध्येय क्या हैं?

जिसे किया जा रहा है– वह ध्यान है।

जो कर रहा है – वह ध्याता है।

जिसका ध्यान कर रहा है – वह ध्येय है।

भो ज्ञानी ! सबसे पहले यह जानने की आवश्यकता है कि ध्याता कौन हो सकता है ? **''गुप्त इन्द्रिय मनो ध्याता''** – जिसने इन्द्रिय और मन को गुप्त कर लिया है, वह ध्याता है। यह कोई बाह्य की चर्चा नहीं है। किसी रंग को, किसी पदार्थ को जिनवाणी में ध्यान नहीं कहा।

जहाँ पंचपरमेष्ठी ध्येय हैं, निज आत्मा ध्येय है, यहाँ दीपक कौन–सा ध्येय है ? दीपक कौन–सा परमेष्ठी है ? यह ध्यान शरीर के स्वास्थ्य के लिये नहीं वरन् आत्मा के स्वस्थ होने के लिये किया जा रहा है। जिस ध्यान के माध्यम से आत्मा स्वस्थ होती है, वहाँ शरीर तो स्वयमेव स्वस्थ हो ही जायेगा।

भो ज्ञानी ! जब तब इन्द्रियों की चंचलता रहेगी, तब तक ध्यान नहीं होगा। जब तक मन दौड़ रहा है, तब तक ध्यान नहीं होगा। जब तक मन में स्थिरता नहीं आयेगी, तब तक इंद्रिय–विषयों में भी कमी नहीं आयेगी। जब तक मन के दर्प भंग नहीं होंगे, तब तक निज प्रभु नहीं झलकेंगे। क्योंकि कर्म तेरे शत्रु नहीं हैं, शत्रु तेरा कोई है तो तेरी राग–द्वेष दृष्टि है। वह कर्म तो स्वतंत्र हैं। कर्म का धर्म राग–द्वेष नहीं है। राग–द्वेष तेरा विभाव–धर्म है। कर्म को दोष देकर तुम कब तक संसार में और घूमोगे? यदि कर्म के उदय से ही सब कुछ होता, तो कभी मोक्ष ही नहीं होता। भो ज्ञानी ! विचारो, कर्म के उदय से यदि ध्यान होता है, तो संयम किस बात का ? आप जो मनुष्य बने बैठे हो, कर्म के उदय में लीन न होना, यह पुरुषार्थ का काम है। **कर्म का उदय में आना, यह भवितव्यता है। कर्म के उदय में लीन नहीं होना, पुरुषार्थ है। इसलिए संयम पुरुषार्थसाध्य है, कर्मसाध्य नहीं है।** कर्म की एकाकी दृष्टि को कहकर व्यभिचार में आनंद लूटना, असंयम सेवन करना और कहना कि यह तो कर्म का उदय है– इसमें स्वच्छंदता प्रारम्भ हो जायेगी और जो ईश्वरवादी की दृष्टि है, वही कर्मवादी की दृष्टि हो जावेगी। इसलिए इंद्रिय–मन को वश में करना, इसे कर्म पर मत छोड़ना, पुरुषार्थ लेकर चलना। भो चेतन ! यह मन एक दर्पण है– जैसा चेहरा सामने आता है, प्रतिबिम्ब वैसा ही होता है। मन के सामने जो वस्तु आती है, मन उसी ओर चला जाता है। इसलिये इस मन को योग की ओर मोड़ दो। **आप मन को तोड़ नहीं सकते, मन को मोड़ा ही जाता है। भोग की ओर जाते हुए मन को योग की ओर मोड़ लो, इसी का नाम मन का वशीकरण है।**

भो ज्ञानी ! अब आ गया होगा समझ में कि ध्यान का वास्तविक शत्रु कौन है। व्यक्ति शत्रु नहीं है, कर्म भी शत्रु नहीं है, तेरा मन ही शत्रु है, जो निज ध्येय की ओर नहीं जाने दे रहा है। भगवान् के सामने खड़े हैं, पर भगवान् नहीं दिख रहे हैं, क्योंकि परिणति प्रभुचरणों में बैठकर भी परचरणों में चली गई है। यदि परिणति प्रभुचरणों में होने लग जाये तो इसी का नाम ध्यान है।

आपको पता है, जम्बूस्वामी के गृह में एक ऐसा जीव भी प्रवेश कर गया था जो इस उद्देश्य के लिये बैठा था कि मैं कुछ हरण करके ले जाऊँगा, चोरी करके ले जाऊँगा। पर देखो सच्चे योग और ध्यान की दशा को। सच्चा योगी वही है, जिसको देखकर भोगी का मन भी योग के लिये मचलने लग जाये। जब योगी कह रहा है कि सूर्योदय होते ही मेरा चैतन्य–चमत्कार चारित्र का उदय होने वाला है, तब चोर के भाव बदल गये कि धिक्कार हो मुझे। मैं ऐसा अधम हूँ कि ऐसे योगी के उद्दिष्ट को बटोरने आया हूँ। अरे ! जम्बूस्वामी नहीं पहुँच पाये, उसके पहले वह चोर मुनि बन गया। भो ज्ञानी ! देखो, एक चोर को वैराग्य हो गया। उसने उपदेश को सुना नहीं था, उसने उपदेश को साक्षात् देखा था। अतः स्पष्ट है कि जिसने इंद्रिय और मन को गुपित कर लिया है, वही ध्याता है।

चित्त की एकाग्रता ही ध्यान है, संवर व निर्जरा ध्यान का फल है और इस फल (संवर–निर्जरा) का फल मोक्ष है। इसलिए जिनागम में बार–बार ध्यान करने के लिये प्रेरित किया गया है। पर वैसा ध्यान नहीं करना जैसा कि पुष्पडाल मुनिराज ने बारह वर्ष तक किया। वह सम्यक् ध्यान नहीं था। पुष्पडाल मुनिराज को बारह वर्ष तक कानी स्त्री की याद सताती रही और एक जीव को एक अंतर्मुहूर्त में केवलज्ञान हो गया। धन्य हैं वे वारिषेण मुनिराज, सब कुछ छोड़कर गये, फिर उस ओर सोचा भी नहीं।

अस्तु, आचार्य देवसेन महाराज इस गाथा में कह रहे हैं कि जो निश्चय ध्येय है, वही मेरा आत्मा है और इस निश्चय ध्येय की प्राप्ति तब होगी जब तुम हेयरूप देह को छोड़ दोगे। अब तुम किसी को दोष मत देना, किसी पर दोषदृष्टि मत फेंकना, किसी पर रागदृष्टि भी मत फेंकना।

भो ज्ञानी ! तूने रूप को देखा और रूप को देखने के पीछे तेरा घात हो गया। आज विश्व जितना रो रहा है, तड़प रहा है– यह सब रूप के पीछे रो रहा है, रूप के पीछे तड़प रहा है। जो रूप है, वह पौद्गलिक है, जड़ है। जड़ में ही तू अपने आपको जोड़े हुए है। रावण का भी सीता ने घात नहीं कराया, इस रूप ने ही घात कराया था। जो योगी सर्वांग को देखकर भी रूप में न जाता हो, उसका नाम स्वरूप–ज्ञाता है। रूप को देखने के लिये आँखें खोलनी पड़ती हैं, परन्तु स्वरूप को देखने के लिए आँखें बन्द करना पड़ती हैं। जब तक भवन के दरवाजे खुले हुए हैं, तब तक पिक्चर साफ नहीं दिखती है। इसी प्रकार जब तक

तेरी इंद्रियों की खिड़की खुली हुई हैं, तब तक निज का चित्र तुझे झलकने वाला नहीं है। ये आत्मा का चित्र तभी झलकेगा जब इंद्रिय–मन की खिड़कियाँ बन्द कर दोगे, तभी निश्चय ध्येय की प्राप्ति होगी। अतः राग, द्वेष, मोह को छोड़ने का अभ्यास करो। जब तक मोह दूर नहीं हो रहा है, तब तक राग–द्वेष भी नहीं छूटेगा एवं निज आत्मा का ध्यान भी नहीं होगा।

अतः विवेक से काम करो और आगम के अनुसार काम करो, तभी छूटेगा राग, तभी छूटेगा मोह। अभी किसमें बैठे हो ? घर में नहीं, राग–द्वेष–मोह में बैठे हो। भो ज्ञानी ! यदि शाश्वत सुख को चाहता है तो फिर तू राग–द्वेष–मोह को छोड़कर अपनी आत्मा का ध्यान कर। राग–द्वेष–मोह छोड़ने के लिये प्रथमानुयोग में प्रवेश करो। पाण्डव मुनिराजों के शरीर पर गर्म–लोहे के आभूषण पहनाये गये हों, शरीर झुलस रहा हो, देखने वाले तड़प रहे हों, परन्तु मुनिराज ध्यान में लीन हैं– ये है समयसार। क्या उनका शरीर नहीं था ? क्या वेदना भी नहीं थी? क्या वेदन नहीं हो रहा था ? सब कुछ था, वेदना भी थी, परन्तु वेदन गौण था। जिसकी दृष्टि में उपयोग झलकता हो, उसकी दृष्टि में योग क्या होगा ? भो ज्ञानी! योग और उपयोग में भेद कर लेना ही मुमुक्षु का परम कर्त्तव्य है। पीड़ा योग में थी और उपयोग चिन्मय में था। जब योग में उपयोग चला जाता है, तब इस चेतन को तड़पना पड़ता है। जब उपयोग योग से हट जाता है, तो यह अयोगी–दशा को प्राप्त कर लेता है। आप लोग यदि उस दशा तक नहीं पहुँच पाओ तो कम–से–कम योगियों को तो निहार लेना। अरहंत भगवान् भी योगी हैं– परम योगी। जैसे हम 'दर्पण को' देखने के लिये नहीं जाते, वरन् 'दर्पण में' देखने जाते हैं, वैसे ही हम प्रभु को देखने नहीं जाते, वरन् प्रभु में प्रभुता देखने जाते हैं और प्रभु में निज के प्रभु को जानने जाते हैं। यही मुमुक्षु का दर्शन है।

अतएव, निश्चय से निज आत्मा और व्यवहार में पंचपरमेष्ठी ही ध्येय हैं, तीसरा कोई ध्येय नहीं है। जो तीसरे ध्येय की बात करता है, वही मिथ्यादृष्टि है। इसलिये दृष्टि को स्वरूप पर ले जाना, रूप पर मत ले जाना, वरना बिलखना पड़ेगा। जिनवाणी ठहरने की बात करती है। अतः पर से हट जाओ, निज में ठहर जाओ। यही तो संयमाचरण है। यह संयमाचरण ही स्वरूपाचरण में प्रवेश करा पायेगा।

।। महावीर भगवान् की जय ।।

१ १ १

दर्शन-ज्ञानस्वभावी आत्मा

दंसण–णाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो ।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥१७॥

अर्थ: निश्चयनय से आत्मा दर्शन और ज्ञानगुण–प्रधान है, असंख्यातप्रदेशी है, अमूर्तिक है, अपने द्वारा गृहीत देह–प्रमाण है। ऐसे स्वरूप वाली आत्मा जानना चाहिए।

प्रवचन

भो मनीषियो !

यदि दृष्टि निर्मल है, तो हर वस्तु में आपको परमात्मा दिखाई देंगे और यदि दृष्टि विकृत हो गई, तो भगवान् में भी कमी दिखाई देने लगेगी। पुण्य का योग था, इसलिये जिनबिम्ब को स्थापित करने के भाव हुए और जैसे पवित्र भाव निजबिम्ब को विराजमान करते समय थे, वैसे अब नहीं हैं। वैसे भाव जीवनपर्यंत होना चाहिये, क्योंकि भगवान् को विराजमान किया है, आपने ईमान को विराजमान किया है। भो चेतन! भगवान् को विराजमान करना, ईमान को विराजमान करना, लेकिन अभिमान को विराजमान मत करना। देखो ! किसी भी प्राचीन वेदी पर नाम नहीं लिखे होते कि किसने भगवान् को विराजमान किया था। अब सभी नवीन वेदियों पर नाम लिखे हैं। आपने नाम लिखवाकर भगवान् विराजमान किये हैं कि अभिमान विराजमान किया है ? आचार्य वसुनन्दि महाराज ने 'वसुनन्दि श्रावकाचार' में लिखा है कि जिस जीव ने धनिया के बराबर मंदिर और राई के दाने के बराबर प्रतिमा स्थापित की हो, उसे तीर्थंकर–प्रकृति जैसे पुण्य की प्राप्ति होती है। लेकिन, यह सब तब ही होगा जब अभिमान को छोड़कर भगवान् विराजमान करने के भाव हों। जब हमारा उपादान प्रबल होगा, तो निमित्त आप ही छोड़ देंगे। परन्तु, भो ज्ञानी ! चाहे निमित्त छोड़ो, चाहे उपादान जोड़ो, शैली का अन्तर है। जो लोग निमित्त छोड़ने में घबराते हैं, वे लोग उपादान छोड़ दें, और जो लोग उपादान छोड़ने से घबराते हैं, वे निमित्त को छोड़ दें। यदि उपादान निर्मल होगा, तो त्याग के भाव बनेंगे ही, घर में थोड़े–ही बैठे रहोगे। लेकिन घर से रागभाव न रहे, इसलिए घर तोड़कर नहीं जाओगे।

भो मनीषी ! तेरा स्वरूप स्पर्श, रस, गंध, वर्ण नहीं, यह तो दर्शन–ज्ञान का दुरुपयोग है। इसी कारण आपको स्पर्श, रस, गंध का मिश्रण होकर रहना पड़ रहा है। अन्दर की दृष्टि जैसी होगी, बाह्य की सृष्टि भी वैसी ही होगी। एक बार शुद्धोधन से द्रोणाचार्य ने टोकनी भर लड्डू देकर किसी अच्छे आदमी को देने के लिये कहा, लेकिन शुद्धोधन को अच्छा आदमी नहीं मिला। उसने गुरु द्रोणाचार्य को लड्डू यह कहकर वापिस कर दिये कि गुरुजी ! प्रत्येक व्यक्ति दोषों से भरा हुआ है, इसलिये मैं यह टोकनी वापिस ले आया। वही टोकनी द्रोणाचार्य जी ने युधिष्ठिर को देकर कहा कि यदि कोई अच्छा आदमी मिले तो यह लड्डू खिला देना। युधिष्ठिर टोकरी लेकर जैसे ही आश्रम से निकले, दरवाजे पर कुत्ता बैठा हुआ दिखा। युधिष्ठिर ने सोचा इसमें कितनी अच्छाई है, यह कितना वफादार है? देखो, डाँटने पर भी यह अपना ईमान नहीं छोड़ता। युधिष्ठिर ने वे लड्डू कुत्ते को खिला दिये और लौटकर द्रोणाचार्य से सारा विवरण कह दिया। द्रोणाचार्य शुद्धोधन से कहने लगे कि तुम्हें किसी भी व्यक्ति में अच्छाई नहीं दिखी और युधिष्ठिर को कुत्ते में अच्छाई दिख गई। तुम्हारा नाम शुद्धोधन न होकर दुर्योधन होना चाहिए।

भो ज्ञानी ! विचारो तो, हम मंदिर जी में एकसाथ पूजन नहीं कर पाते। अरे ! सोचो तो जरा, जिनके चरणों में सर्प और नेवला एकसाथ बैठते हैं, हम वहाँ पर भी एक नहीं हो पा रहे हैं। अपने भावों का आकलन तो करो। दूसरे को दोष क्यों देते हो ? जहाँ–जहाँ द्रव्य होगा, वहॉं नियम से राग होगा और जहाँ द्रव्य नहीं होगा, वहाँ राग होगा भी और नहीं भी। लोगों ने आचार्य उमास्वामी के सूत्र 'मूर्च्छा परिग्रह' का दुरुपयोग कर डाला। तन पर वस्त्र रहें, घर पर बैठे रहें और मूर्च्छा न हो, ऐसा हो ही नहीं सकता। पानी में रहने वाला गीला न हो, कैसे संभव है ? यह तो जिनवाणी के साथ खिलवाड़ है। ऐसे अर्थ को मत जोड़ो, जो अनर्थ कर डाले और यही अर्थ अन्त में अर्थी बन जाये। ऐसे कार्य कदापि न करो।

भो चैतन्य ! जड़–अर्थ की छोड़ो, चैतन्य–अर्थ को पकड़ो। धर्म तो सहज अवस्था है। पूर्ण दृष्टि निज पर लाओ, तो आपको अपना भान होने लगेगा। मैं अमुक देश का, अमुक जाति का हूँ, अमुक मेरे रिश्तेदार हैं, अमुक मित्र हैं, अमुक शत्रु हैं–यह सब व्यर्थ की बातें हैं। वास्तव में तू पंचेन्द्रिय जाति का है। अध्यात्म कहेगा कि तू चैतन्य जाति का है। दर्शन–ज्ञान ही तेरे सगे–सम्बन्धी हैं। देह तो विजातीय है, पुद्गल है। विजातीय के चक्कर में सजातीय

को क्यों छोड़ रहा है, सगों को क्यों छोड़ रहा है ? विजातीय से सम्बन्ध न तो कभी तेरे हुये हैं और न हो सकते हैं।

भो ज्ञानी ! जब सब्जी की चम्मच दूसरी सब्जी में नहीं डालते, क्योंकि लगार का दोष आ जाता है, तो दर्शन–ज्ञानस्वभावी आत्मा 'पर' में कैसे रम सकती है ? यह राग–द्वेषभाव तो उसके हैं ही नहीं, वे तो विजातीय ही हैं। अरे ! मूर्तियों पर राग करता है, चर्म की मूर्तियाँ अपनी आत्मा में चिपकाये बैठा है और जिनबिम्ब को छोड़ता जा रहा है, कैसा ज्ञानी है ? तारण श्रावकाचार में आया है कि जिस प्रकार पानी छानते हो, उसी प्रकार अपने भावों को छानो। निश्चय से आत्मा स्वदेहप्रमाण, परम–शुद्ध, अभेदस्वरूप जो सम्पूर्ण देह से परे है। आत्मा ऐसी परमपारिणामिक है, जो अतुलनीय है।

भो चैतन्य ! पहले स्पर्श–रस–गंध से युक्त मूर्तियों में राग कम करो। यह जो चर्म की मूर्तियाँ हैं। इनसे राग हटाओ तो पत्थर की मूर्तियों से राग अपने आप हट जायेगा। यदि चर्म की मूर्तियों से अपनी रक्षा कर ली, तो अचर्म शरीरी (अशरीरी) बन जाओगे। यह सिद्धान्त है कि जिसके शक्त्यांश अधिक होते हैं, वह कर्म को अपने रूप परिणत करा लेता है। यदि विशुद्धांश अधिक हैं, तो अशुभकर्मांश भी शुभकर्मांश रूप परिणत हो जाते हैं और जब शुभ के कर्मांश अल्प होते हैं, तो पापास्रव ज्यादा कर लेते हो, वह शुभ–कर्म भी पाप में परिणत हो जाता है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने सूत्र दिया है कि साम्यभाव का जन्म पदार्थों के मिलने से नहीं होगा, पदार्थों के बिछुड़ने से भी नहीं होगा। घर में विसंवाद हुआ और आप मंदिर आ गये। निमित्तों से बचे, झगड़ा तो समाप्त हो गया, लेकिन मन शांत नहीं हुआ। सामायिक करने बैठे, तो पूरा चिंतन आ गया कि मैंने ऐसा क्यों किया ? ऐसा क्यों हो गया ? मन से आप मंदिर में बैठे हो, लेकिन कर्मों का आस्रव जारी है। स्थान छोड़कर भाग जाने में शान्ति नहीं मिलेगी, शान्ति तो चिंतन को बदलने में मिलेगी। वस्तुतः यह तो प्रकृति का परिणमन था कि मेरे अन्दर विभाव की दृढ़ता बढ़ी, इसलिये ऐसा हुआ, सामने वालों का कोई दोष नहीं। यदि अपने आपको आपने निर्दोश घोषित किया, तो कषाय की तीव्रता में चले जाओगे और यदि स्वयं को दोषी घोषित करना शुरू कर दिया, तो दोष घटना शुरू हो जायेंगे। दोषों की आलोचना अपने आपको ऊपर उठाने के लिए है।

भो ज्ञानी ! जिनवाणी कहती है कि यदि आप दूसरे की आलोचना कर रहे हैं, और अपनी प्रशंसा कर रहे हैं, तो नियम से नीचगोत्र का बंध कर रहे हैं। मुमुक्षु जीव प्रतिक्षण यह देखता है कि मेरा हित किसमें है। दूसरे की निन्दा करके अपना निर्मल समय नष्ट क्यों करूँ?

भो चैतन्य ! जब राग–द्वेष छोड़ने की बात होती है, तब उस बात में भी राग–द्वेष है कि हम जिसके यहाँ जा रहे हैं, क्या उसके वास्तविक हितैषी हैं ? हम उसके राग–द्वेष को तो नहीं भड़का रहे हैं ? जिसके यहाँ झगड़ा हुआ वह शान्त हो गया, क्योंकि व्यक्ति की दृष्टि समीचीन हो गई और तभी आपने जाकर यह कह दिया कि उसने अच्छा नहीं किया। भो मनीषी ! विचार करना कि दृष्टि में परिवर्तन आया कि नहीं ? आप हितैषी हुये या कि अहित करने वाले ? अच्छा होता यदि आप कषाय भड़काने नहीं जाते। इस कलिकाल में यदि कोई जीव कषाय कम करना चाहे तो कर सकता है, लेकिन कषाय को पूर्णतः समाप्त नहीं कर सकता। महामुनि की भी कषाय नष्ट नहीं होगी। जिस प्रकार अँगारे पर राख पड़ती जाती है, बढ़ती जाती है और अँगारे की उष्णता मंद, मंदतर होती जाती है, तब अंगारा समाप्त होने की स्थिति में आ जाता है।

यह कषायी है, इसको देखकर मेरे परिणाम खराब होते हैं, इसलिए इसको भगा दो। अरे ! अपने परिणाम सुधारने के लिये किस–किसको भगाते फिरोगे ? मोक्षमार्ग कहता है कि निमित्तों को मत भगाओ, अपने उपादान को सुधारो। निमित्त न कभी नष्ट हुये हैं और न कभी नष्ट होंगे। उपादान की निर्मलता को प्राप्त करना है। अतः देखो और विचारो, निमित्त तो वही हैं, लेकिन उन्हें देखने की दृष्टि में परिवर्तन हो गया। राजा ने अपने बेटे सोम को बुलाकर उसे राज्य सौंपकर युद्धभूमि में हाथी पर बैठे–बैठे केशलोंच कर लिये। यहाँ निमित्त की प्रधानता है या उपादान की ? भरत–बाहुबली को ही लें। चक्रवर्ती बनने के लिये वे भरत अपने भाई बाहुबलि पर चक्र चलाकर उन्हें समाप्त करना चाहते हैं और वे भी भरत उन्हीं बाहुबली के दीक्षा लेने पर, उनके चरणों में अपना मुकुट रखकर निवेदन करते हैं। दृष्टि तो देखो, जब भरत बाहुबली से अधीनता स्वीकार करने की बात करते हैं, तो बाहुबली अपने भाई की अधीनता स्वीकार नहीं कर पाते। भरत को यह बात स्वीकार नहीं है। दोनों भाई समरभूमि में समर के लिये तैयार हैं। दृष्टि के ही कारण यह स्थिति हुई। और–तो–और, दृष्टि के ही कारण भाई ही भाई पर चक्र चलाता है, संबंध भूल जाता है। यह भी भूल जाता है कि

भाई पर चक्र नहीं चलता।

भो ज्ञानी ! कामदेव और चरमशरीरी जैसे जीव भी दृष्टि के कारण सब भूल गये। बाहुबली की परिवर्तित दृष्टि उनके वैराग्य का कारण बनी। कामदेव मेरा स्वरूप नहीं है, मेरा स्वरूप तो ज्ञान–दर्शन है। जो भरत अपने भाई पर चक्र चलाते हैं, वे ही भरत उनके चरणों में अपना मुकुट रखकर नमन् करते हैं। पोदनपुरी वही है, अवधपुरी वही है, भरत भी वही हैं, सब तो वही हैं, मात्र दृष्टि का परिवर्तन हो गया। पदार्थ तो अपने स्थान पर हैं, दृष्टि में परिवर्तन हुआ है। कहीं कुछ भी नहीं छूटा, सब अपने चतुष्टय में विराजते हैं।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

निरंजन-स्वभावी आत्मा

रागादिया विभावा बहिरंतर–उहयवियप्पं मोत्तूणं ।
एयग्गमणो झायउ णिरंजणं णियय–अप्पाणं ॥१८॥

अर्थ: रागादि विभावों को तथा बाहरी और भीतरी दोनों प्रकार के विकल्पों को छोड़कर और एकाग्र मन होकर, कर्मरूप अंजन से रहित, शुद्ध अपने आत्मा का ध्यान करना चाहिए।

प्रवचन

मनीषियो !

तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की दिव्यदेशना को हमारे आचार्यभगवंतों ने अपनी सहज लेखनी के माध्यम से अपने सहजस्वरूप को लखने का उपाय बताया। दिगम्बराचार्यों ने संसार की विशेष भाषाओं पर जोर न देकर आत्मा के भावों को प्रकट करने के लिये भावों पर बल दिया है।

तत्त्वसार ग्रन्थ में आचार्य देवसेन स्वामी ने १७ वीं कारिका में संकेत दिया था, कि ज्ञाता– दृष्टा भाव में जो राग–भाव प्रवेश कर जाता है, उसका नाम बंध है। यदि ज्ञाता–दृष्टा भाव से देखने से बंध होता, तो सर्वाधिक बंध केवली भगवान् को होता, क्योंकि उनके ज्ञान में तो तीनों लोक दिख रहे हैं। जो जीव जानने–देखने के साथ जानना–देखना चाहता है, वह बंध को प्राप्त करता है। क्योंकि जो जानने–देखने के साथ देखने की चाह रखता है, वह रागी है और जो मात्र जानता–देखता है, वह वीतरागी है। अतएव 'चाहना' ही बंध का हेतु है, क्योंकि 'चाह' में राग है, 'चाह' में द्वेष है। इसलिये बंध से बचना चाहते हो तो 'चाह' को समाप्त करो।

भो ज्ञानी ! साधना करना सही है, पर साधना स्वभाव को देख–देखकर करना। ऐसा न हो कि हम धोके में बैठे हों कि मेरे विकार तो समाप्त हो गए हैं, कषाय समाप्त हो चुकी है। लेकिन, भो ज्ञानी ! यह तो तब कहना जब निमित्त प्रबल खड़े हों और तू अपने–आप में शान्त बैठा हो। क्योंकि जब विषयों की बीन बजना शुरू होती है, तो इन्द्रिय–मनरूपी सर्प झूमना प्रारम्भ कर देते हैं, तब पता चलता है कि इनमें विकार कितना तेज है। इसलिए आचार्य

देवसेन स्वामी कहते हैं कि ध्यान करना चाहते हो तो विषयों की बीन बन्द कर देना और इस मन को तुम टोकनी में बन्द कर देना, पर ऐसी टोकनी में बंद करना जैसे सपेरा साँप को टोकनी में बन्द कर लेता है और थैली में ढँक लेता है।

भो ज्ञानी ! एक बार इन्द्रिय अपने विषय को स्पर्श भले ही न कर पाए, पर मन सात सागरों को एक–क्षण में पार कर जाता है। तन वृद्ध हो जाता है, इन्द्रियाँ वृद्ध हो जाती हैं, पर मन कभी बूढ़ा नहीं होता। चक्षु–इन्द्रिय से दिखना भले ही बन्द हो जाये, पर मन की आँखें बन्द नहीं होती। जब तक मन की आँखें बन्द नहीं होगीं, तब तक तू महामानव नहीं बन पाएगा। इसलिए ध्यान की जो चर्चा है, वह वास्तव में मन की आँखों को बन्द करने की चर्चा है। किसी से यह मत कहना कि इसके माध्यम से मेरे साथ ऐसा हुआ। यदि मन तुम्हारा न जाता तो कुछ नहीं होता।

भो चैतन्य ! शुद्ध उपयोग की दशा भी मन–आश्रित है। जब तू तेरहवें गुणस्थान में प्रवेश कर जायेगा, तो वहाँ मन भी नहीं है। बारहवें गुणस्थान तक ही मन की दशा चलती है। शुक्लध्यान के प्रथम दो पाया हैं, वह भी मन के आश्रय से चलते हैं।

आचार्य देवसेन स्वामी ने 'आराधना सार' ग्रंथ में इस मन को ऊँट की संज्ञा दी है। जहाँ कोई नहीं चल पाता, वहाँ ऊँट चलता है। ऊँट को रेगिस्तान का जहाज कहा जाता है। हे मन ! जहाँ पुष्ट इन्द्रियाँ नहीं पहुँच पाती, जहाँ प्रकाश नहीं पहुँच पाता, वहाँ मन का प्रवेश आसानी से हो जाता है।

भो चेतन ! मेरी बातों को सुनकर भटक नहीं जाना, सत्य समझना। साधना करना, लेकिन ध्यान रखो, मन से करना। मन नहीं होगा तो साधना भी नहीं होगी और मन जब तक मचलता रहेगा तो भी साधना नहीं होगी। मन बड़ा मित्र है, मन बड़ा शत्रु है। इसे सँभाल लिया तो मित्र का काम करेगा और न सँभाल पाये तो शत्रु का काम करेगा। जब तक यह मन शील से बँधा है, तब तक चारित्र की फसल लहलहाती है और मोक्ष के फल लगते रहेंगे। जिस दिन मन का बाँध टूट गया और शील का नीर बह गया, उस दिन से तेरा संयम का भवन उजड़ जायेगा, खाक नहीं बचेगी।

भो ज्ञानी ! इसलिये बार–बार कह रहे हैं कि इस निरंजन–स्वभावी आत्मा को देख, निरंजन–स्वरूप को देख, इन संबंधों को तू अपना मत मान। जहाँ बैठा है, वह भी तेरे नहीं हैं। अभी तक जहाँ–जहाँ बैठ कर आया, वह भी तेरे नहीं थे। जब संजोग–संबंध मेरा नहीं

है, तो संश्लेष–संबंध मेरा कैसे हो सकता है ? और तू जब संश्लेष–संबंध नहीं है, तो संयोग–संबंध कैसे है ? मेरा कोई संबंध है तो एकमात्र अविनाभावी संबंध है। वह भी गुण–गुणी का है। अविनाभाव संबंध कहता है कि एक–दूसरे के बिना ज्ञान–दर्शन से भिन्न कभी आत्मा हो ही नहीं सकती और आत्मा से भिन्न ज्ञान–दर्शन भी नहीं होगा। अतएव उस निरंजन आत्मस्वभाव को प्राप्त करना है तो आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि तेरी आत्मा वास्तव में है क्या ? कमरे में रहते हुए भी कमरे से भिन्न है, पक्षी पिंजड़े में रहते हुए भी पिंजड़े से भिन्न है, फिर भी बंद है। भिन्न– यही तेरा और कर्म का संबंध है।

भो ज्ञानी ! तुम तो तीनलोक के नाथ के चरणों में भगवान् की भक्ति करते हो, पंखे खोलकर बैठ जाते हो और फिर कहते हो **''दिपै चाम चादर मढ़ी, हाड़–पिंजरा देह, भीतर या सम जगत में और–नहीं घिनगेह''।** यह कैसी अशुचि – भावना है ? इसमें कैसा वैराग्य है ? तनिक भी राग नहीं छूट रहा है। स्वाध्याय–भवनों में पंखे लगे हैं।

मनीषियो ! ध्यान रखना, समीचीन ढँग से उत्पन्न सम्पत्ति का ही सदुपयोग होता है, अन्यथा गैर के धन का दुरुपयोग। एक जीव तीर्थक्षेत्र में प्रतिमा विराजमान कर रहा है और एक उसी क्षेत्र में संडास हेतु धन दे रहा है, मंदिर में पंखा लगवा रहा है। उसका धन कैसा होगा जो यहाँ भी अनाचार के भाव उत्पन्न हुए हैं ? भगवान् की भक्ति का पंखे से क्या संबंध ? इसी पंखे से किसी तिर्यंच का घात हो जाये तो तुम्हारी साधना कैसी कहलायेगी ? भो ज्ञानी ! यह शब्दज्ञान नहीं, यह तो आचरण (चारित्र) ज्ञान है। यदि करुणा हो, दया हो, तो इतना विचार अवश्य करना कि जब तक जिनालय में बैठेंगे, तब तक पंखे–कूलर का उपयोग नहीं करेंगे। क्रिया करने के पहले विवेक का उपयोग करो। क्रिया का निषेध नहीं है, क्रिया के पहले यह ध्यान रखना कि विवेक हमारा कितना है। अतः, करुणा कहने मात्र से काम नहीं चलेगा, क्रिया भी करुणा की ही करना पड़ेगी।

एक सज्जन मेरे पास आए और बोले– आपके प्रवचनों में लोग शांत बैठे रहते हैं, कुछ चुटकुले सुना दिया करो, मनोरंजन होता है। भो ज्ञानी ! मनोरंजन के साधन तो घर–घर में विराजे हैं। यह तो धर्मक्षेत्र है, यहाँ मनोरंजन को स्थान नहीं है, यह तो आत्मरंजन का स्थान है। घर और मंदिर में भेद होता है। घर की सुविधाएँ मन्दिर और तीर्थक्षेत्र में नहीं होना चाहिए। सोचो, अरिहन्तदेव की वंदना चल रही है या धनदेव की ? कोई निर्धन और धर्मात्मा कब आए, कब गए, पता ही नहीं चला। अहो ! यह दशा है जीव की। कम–से–कम इतना

नियम तो ले ही लेना चाहिए कि हम मंदिर में अपने हाथ से पंखा नहीं चलायेंगे।

अन्यक्षेत्रे कृतम् पापम्, पुण्यक्षेत्रे विनश्यति ।
पुण्यक्षेत्रे कृतम् पापम्, बज्रलेपो भविष्यति ।।

अन्य क्षेत्र में पाप किया था, इसलिये श्री जी के चरणों में आते हो और यहीं तुम पाप करने लग गए, तो फिर छोड़ने कहाँ जाओगे? शिथिलाचार की बात जिनवाणी की गद्दी पर बैठकर मत करना, जिनवाणी की गद्दी पर तो ऊँची बातें कही जाती हैं। जिनागम में छलकपट किसी के चल नहीं सकते। देवसेन स्वामी यहाँ १८वीं कारिका में कह रहे हैं, कि रागादिभाव विभाव हैं, स्वभाव नहीं है, बहिरंग है। पर इतना अवश्य है कि अशुभ संकल्प–विकल्प होंगे तो अशुभ आयु का बंध होगा और शुभ संकल्प–विकल्प होंगे तो शुभ आयु का बंध होगा।

भो ज्ञानी ! द्रव्यदृष्टि से द्रव्य त्रैकालिक शुद्ध है, परन्तु द्रव्य वास्तव में वर्तमान में शुद्ध नहीं है। शुद्ध होता तो हम इन अशुद्ध/अशुचिमय शरीरों के बीच में नहीं बैठे होते। मैं तो चाहता हूँ कि कब निकल जाऊँ, लेकिन करूँ तो क्या करूँ ? निकल नहीं पा रहा हूँ, जकड़ा हूँ। निकल जाऊँ, कहने से नहीं निकलने वाले। निकलने का मार्ग देख लो और धीरे से निकल जाओ। यह पंचमकाल है। पंचमकाल के लोगों के बीच में बैठकर इनमें संबंध स्थापित मत करो। यहाँ व्यापार का संबंध है और व्यापार में भाई अपने भाई का व्यापार आगे नहीं बढ़ने देना चाहता, ऐसी दशा है संसार की। जननी, जिसने तुझे जन्म दिया, वह भी तेरा कल्याण नहीं चाहती, न मानो तो परीक्षा करके देख लेना। कौन माँ चाहती है कि मेरा बेटा सिद्धालय में पहुँच जाए?

भो चेतन ! हम कहते हैं कि पिच्छी–कमण्डलु के साथ निकलो, वरना डंडा–कंडा के साथ तो निकलना ही पड़ेगा, यह तो निश्चित ही है। संसार की दशा ही ऐसी है, इसमें आश्चर्य करने की बात नहीं है। यह सब तो होता आया है और होता रहेगा। भो ज्ञानी ! यह तो संसार की विडम्बना है, इसलिए अंतरंग–बहिरंग रागादि को त्यागकर एकाग्र मन से अपने निज आत्मतत्त्व का ध्यान करो, यही आत्मा शाश्वत है। कर्ममल से रहित, चिद्रूप मेरी चेतन आत्मा है। यही परम ध्येय है, वही उपादेय है, वही ज्ञेय है, और–सब हेय है।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय ।।

१ १ १

निरंजनस्वरूप को देख

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेस्साओ।

जाइ जरा मरणं चिय णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥१९॥

अर्थ: जिसके क्रोध, मान, माया, लोभ, शल्य, लेश्या और जन्म, बुढ़ापा और मृत्यु भी नहीं है, वही निरंजन मैं (आत्मा) कहा गया हूँ।

प्रवचन

मनीषियो !

अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान स्वामी की पावन दिव्य–देशना जन–जन की कल्याणी, अन्तस् के तम को नष्ट करने वाली तथा मनुष्य के जन्म–मरण की व्याधि को शमन करने के लिये परम औषधि है। भगवान् जिनेन्द्रदेव ने बड़ी करुणा–बुद्धि से हम सबके लिये उस औषधि का पान कराया है। जिसके अंतस् में संसार से उदासीनता है, उसे तो जिनेन्द्र की वाणी परम–औषधि–स्वरूप है।

भो ज्ञानी ! संसार की दशा तो देखो कि वीतरागवाणी को सुनकर भी जीव मिथ्यात्व का पोषण कर रहा है। प्रभु की देशना को सुन–सुन करके एक जीव आत्मकल्याण की खोज कर रहा है और दूसरा जीव कामशास्त्र लिख रहा है। एक जीव उसी द्रव्य से मोक्षमार्ग को देख रहा है और दूसरा जीव उसी द्रव्य से संसार की ओर जा रहा है। एक जीव आया, अरहंत बिम्ब को देखकर नमस्कार किया, कर्मों की असंख्यात गुण–श्रेणी निर्जरा करके चला गया। कुछ नहीं दे गया, कुछ नहीं ले गया, फिर भी सबकुछ ले गया। दूसरा जीव आता है, देखता है, 'अहो ! यह नग्न प्रतिमा किसने यहाँ पर रख दी? हटाओ इसे यहाँ से' – कहकर कर्म का बंध कर लेता है।

भो चेतन ! जो सोच कृत्य करने के बाद बनता है, वह सोच यदि कृत्य करने के पूर्व बन गया होता, तो आज तुम कृत्य–कृत्य हो गये होते। पश्चात्ताप क्रिया करने के बाद होता है। यह मोक्षमार्ग चिन्ता का मार्ग नहीं, चिंतन का मार्ग है। भावुकता का मार्ग नहीं, वैराग्य का

मार्ग है। सोच लो, जो कृत्य आप लोग कर चुके होंगे, जिसका विवेक नहीं था, तो आपको रोना आयेगा कि भगवन्, यह मैंने क्या किया, क्योंकि आवेश व्यक्ति को विवेकशून्य कर देता है। यदि उस आवेश को तुमने मोड़कर मोक्षमार्ग में लगा दिया होता, तो आज सिद्धत्व की प्राप्ति हो गई होती। परन्तु पंचमकाल में भी आने के लिये यह मत सोचना कि आपको कम ताकत लगानी पड़ी हो। कैसे–कैसे छलकपट किये होंगे? कैसे–कैसे पाप किये होंगे कि वज्रवृषभनाराच संहनन को प्राप्त करके भी हीन संहनन में आना पड़ा है। वे दिन भी याद करो कि कभी तीर्थंकर–बालक के साथ भी हमने क्रीड़ा की है, लेकिन प्रभु ! आप कहाँ और मैं कहाँ ?

भो ज्ञानी ! स्वयं सोचो, आपके बीच का कोई व्यक्ति मुनिराज बन गया हो और जब कभी आप सामने टकरा जाते हो, तो कैसा लगता है ? अहो ! मैं वही धूल छान रहा हूँ, और यह जिनवाणी को छान रहे हैं। यह मेरे आत्मबल का अभाव है। यदि आत्मबल है, तो तनबल काम कर जायेगा और यदि आत्मबल नहीं है, तो शरीर का बल पहले ही क्षीण हो जायेगा। आत्मबल होने पर ८० वर्ष का वृद्ध भी सम्मेदशिखर जी की वन्दना करके नीचे उतर आयेगा, और किसी का आत्मबल यदि पहली सीढ़ी पर ही क्षीण हो जाये तो वह २८ वर्ष का युवा लाठी टेककर भी वन्दना पूर्ण नहीं कर पाता। यह बल कहीं बाहर से नहीं आयेगा, तेरे पास में है। **उत्साह विश्व की सबसे बढ़ी शक्ति है। जीवन में उत्साह क्षीण हो गया, तो ध्यान रखो, किसी भी मार्ग में जाना, सफलता प्राप्त होने वाली नहीं है। यह जिनेन्द्र की वाणी भी मुमुक्षु के लिये कभी मोक्ष में नहीं ले जाती, यह तो वास्तव में मोक्षमार्ग का उत्साह ही बढ़ाती है।**

भो ज्ञानी ! इस प्रसंग में महाराजा श्रेणिक के पुण्य को निहारना। एक सामान्य आचार्य, उपाध्याय, साधु से जब हम साक्षात् धर्मोपदेश सुनते हैं, दो बातें कर लेते हैं, तो बड़ा आनंद आता है कि आज हम महाराज के प्रवचन सुनकर आये हैं। फिर सोचो, जो साक्षात् जिनेन्द्रदेव के मुख से देशना सुनता हो, साठ हजार प्रश्न जिसने किये हों, उस जीव के पुण्य को देखो, कितनी अनुभूति होती होगी, जब कि हम परोक्ष में सुन रहे हैं, ग्रंथों से सुन रहे हैं, विद्वान् मुनियों के मुख से सुन रहे हैं। लेकिन जहाँ साक्षात् परमगुरु जिनेन्द्रदेव विराजमान हों, वहाँ की अनुभूति कैसी होगी, उत्साह कैसा होता होगा?

भो चेतन! आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि चित्स्वरूप की ओर दृष्टिपात करो, उस निरंजन–स्वभावी आत्मा का चिंतन करो। कषायें आत्मा का सत्यधर्म नहीं हैं, लेकिन यह सिद्धस्वरूप चेतन आत्मा कर्मों के संयोग से विषयों की भट्टी में जल रही है और जला रही है। यह संयोग ही दुःख है, संयोग ही बंध है, संयोग ही अनंत संसार है। संयोग आत्मा का धर्म नहीं है, चैतन्य ही ज्ञानपिण्ड आत्मा का सत्य धर्म है। आगम में इस आत्मा को ज्ञानमूर्तिक कहा है, परन्तु उपचरित असद्भूत व्यवहार नय से, कर्मबंध की अपेक्षा से आत्मा मूर्तिक कही गई है। निश्चय से आत्मा अमूर्तिक है, परन्तु अनादि से कर्म का संबंध है, अतः बंध की अपेक्षा आत्मा मूर्तिक है। इस प्रकार संसारी आत्मा मूर्तामूर्तिक है अर्थात् स्वभावदृष्टि से अमूर्तिक है, विभावदृष्टि से मूर्तिक है। अतः हमें सिद्धस्वरूप को समझना है।

भो ज्ञानी आत्माओ ! जो मैं दिख रहा हूँ, वह मैं नहीं हूँ। रागदृष्टि से लगता जरूर है कि सब मेरे हैं, पर मेरे नहीं हैं और मेरा शब्द भी मेरा नहीं है। जिसे मैं 'मैं' कह रहा हूँ, वह 'मैं' दिखता नहीं हूँ और जो दिख रहा है, वह मैं नहीं हूँ। परन्तु कर्म की शैवाल (काई) इतनी छायी हुई है कि मेरा निज धर्म समझ में नहीं आ रहा है। भो ज्ञानी ! तात्कालिक पर्यायों के संबंध के पीछे तू त्रैकालिक भगवती–आत्मा को भूल रहा है। ओहो ! कितनी अज्ञानता है ? माँ कहती है कि, बेटा ! तू मर जाता। अरे माँ ! तेरे कहने से कोई मर गया होता, तो आज विश्व में कोई जीवित ही नहीं बचता। जैन सिद्धान्त कहता है कि आयुकर्म के क्षय से ही मृत्यु होती है, तुम्हारे कहने से मृत्यु नहीं होती। परन्तु तुमने मरण शब्द का जो उपयोग किया है, उससे तुम्हारा शुभभाव जरूर मर गया। जो दूसरे के मरने की बात कर रहा है, उसका शुभभाव तो मर गया, साथ ही उसका पुण्य भी मर गया। उसके घर में पाप का जन्म हो गया। तुम किसी को मार नहीं सकते, किसी को जीवित भी नहीं सकते। भो ज्ञानी ! इस जन्म–मरण के अहम् को भी हम छोड़ें तथा तत्त्व को हँसी का स्थान न बनायें, अनुभूति का स्थान बनायें। 'आत्मा' शब्द को मत चिल्लाओ, 'आत्मा' शब्द के स्वभाव की खोज करो। 'भगवान्' शब्द का दुरुपयोग मत करो, बल्कि भगवत्ता को समझो।

भो चेतन ! जीवन में एक बात का ध्यान रखना कि किसी को बदलने का विचार मत लाना। अपने आपको बदल लोगे तो पता नहीं कितने लोगों का जीवन बदल जायेगा। तीर्थेश वर्द्धमान ने किसी को नहीं बदला, अपने आपको बदला, तभी सारा विश्व उनकी जन्मजयंती

मना रहा है, उनके पंचकल्याणक मना रहा है, परन्तु लोभकषाय इतनी प्रबल है कि आप उसे छोड़ नहीं पा रहे हैं। पाप के बाप को पुण्य कहने वालो ! तुम कैसे भगवती आत्मा को प्राप्त कर पाओगे ? भूल मत जाना अपने आपको। जिसमें क्रोधादि कषायें नहीं हैं, वह निरंजन आत्मा है।

समता सर्व भूतेषु, संयमे शुभ–भावना ।
आर्त्त–रौद्र–परित्याग–स्तद्धि सामायिकं मतं ॥ वृहद् प्रतिक्रमण ।।

प्राणिमात्र के प्रति समतापरिणाम होना ही शुभभावना है। जिसके संयम में ऐसी शुभ भावना लगी हुई है, जिसने आर्त्त–रौद्र ध्यान को छोड़ दिया, उसका नाम सामायिक है। ध्यान कर रहा हो, आँख बंद किये बैठा हो, परन्तु मन में किसी चक्रव्यूह की रचना चल रही हो, तो वह सामायिक नहीं है। भो ज्ञानी ! तू कैसा पुरुष है जिसको क्रोध आ रहा है, जिसको मानकषाय सता रही है, मायाचारी चल रही है। वीतरागवाणी उसे पुरुष नहीं कहती, वह तो नपुंसक है। 'अस्ति पुरुष चिदात्मा', चैतन्य पुरुष ही आत्मा है। इसलिये क्रोध कुशील है और क्षमा शील है, मान कुशील है और मार्दव शील है। देखो, मान का पुतला बड़ा विचित्र होता है एवं मनुष्यगति में तो मान विरासत में मिला है। यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है कि देवों के लोभ, नारकियों के क्रोध, तिर्यंचों के मायाचारी तथा मनुष्यों के मान प्रचुर–रूप में होता है।

भो ज्ञानी आत्माओ ! अभी तुम सोचोगे कि धर्म में तल्लीन हो, परन्तु वस्तु के धर्म में लीन नहीं। जिस समय वस्तु के धर्म में लीन हो जाओगे, उस समय यदि शरीर भी चला जायेगा, तो सोचोगे कि मेरा कुछ नहीं गया। महिलाओं में माया/छलकपट प्रचुर मात्रा में पाई जाती है। आचार्य कुन्दकुन्द देव ने 'प्रवचनसार' जी में लिखा है कि मायाचारीधर्म स्वभावतः स्त्रियों में पाया जाता है। वे कितने भी श्रेष्ठ पद पर पहुँच जायें, आर्यिका माता भी बन जायें, परन्तु मन की छलछिद्र भावना पूर्णरूपेण समाप्त नहीं होती। इसलिये दिगम्बर आम्नाय कहती है कि स्त्रीपर्याय से मोक्ष नहीं होता है, क्योंकि इनकी माया–कषाय जाती नहीं है। ध्यान रखो, यह आत्मा का धर्म नहीं है। तीनों शल्य (माया, मिथ्या, निदान) तथा तीन अशुभ लेश्यायें (कृष्ण, नील, कापोत) आत्मा का धर्म नहीं हैं।

भो चेतन ! जन्म, जरा, मृत्यु इनसे रहित मैं निरंजनस्वभावी आत्मा हूँ। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'इष्टोपदेश' में बहुत सुन्दर कारिका लिखी है–

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोहं, न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

भय किस बात का, जब मेरी मृत्यु ही नहीं है और जिसकी मृत्यु है, उसे तुम बचा नहीं सकते हो। आयुकर्म यदि शेष है तो औषधि निमित्त है और आयुकर्म ही शेष नहीं है तो औषधि भी कुछ नहीं कर सकती है। 'कार्तिकेयानुपेक्षा' में आचार्य कार्तिकेय स्वामी द्वारा कही गई गाथा देखो –

तत्थ भवे किं सरणं, जत्थ सुरिंदाण दीसदे विलओ।
हरि–हर–बंभादीया, कालेण य कवलिया जत्थ ॥२३॥

अंतिम समय में आप अपने घर पर कुटुम्बियों से कह देना कि मुझे कहीं मत ले जाना, क्योंकि कोई मेरी रक्षा कर नहीं पायेगा। अंतिम समय मिला है– प्रभुगुण गाने को, निज आत्मतत्त्व को समझने को। यह अंतिम समय तूने गँवा डाला, अरे ! हॉस्पिटल में तू पहुँच गया। वहाँ पर तुम्हें कौन सुनायेगा णमोकार मंत्र? कह देना अपनी संतान से कि तुम मेरे पुत्र/आत्मज हो तो अन्तिम बिदा में अपशकुन मत करना, मुझे अस्पताल नहीं ले जाना। जब देवों का राजा इन्द्र, हरिहर, ब्रह्मा आदि को भी काल ने कवलित कर लिया, तो मेरी शरण क्या होगी ? तीर्थंकर नहीं बचे, चक्रवर्ती नहीं बचे, नारायण नहीं बचे, फिर मैं कैसे बचूँगा?

भो ज्ञानी आत्माओ ! जन्म हुआ, तो कोई थाली बजाने वाला नहीं मिला और मृत्यु हुई तो दो आँसू टपकाने वाला नहीं मिला। देखो उस पुण्यशाली नारायण श्रीकृष्ण की दशा। यह पुण्य के वैभव विलय को कब प्राप्त हो जायें, इनमें मत मुस्कुराओ, अन्दर की मुस्कुराहट को देखो। दो ही स्थान हैं यहाँ, व्यवहार से पंचपरमेष्ठी और निश्चय से आत्मा की शरण में चले जाना, लेकिन तीसरे की शरण में कभी मत चले जाना।

इसलिये उस निरंजन आत्मा को समझना। आज अपने–अपने घर जाना और कम–से–कम थोड़ा अभ्यास करके देखना, कि क्रोध मेरा धर्म नहीं, मान, माया, लोभ मेरा धर्म नहीं है। मैं तो एक चैतन्य–रूप, निरंजन, भगवती–आत्मा हूँ।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

देह-धर्म आत्मधर्म नहीं

णत्थि कलासंठाणं मग्गण गुणठाण जीवठाणाइं।
ण य लद्धिबंधठाणा णोदयठाणाइया केई ॥२०॥

अर्थ: उस निरंजन आत्मा के कोई कला नहीं है, कोई संस्थान नहीं है, कोई मार्गणास्थान नहीं है, कोई गुणस्थान नहीं है और न कोई जीवस्थान है, न कोई लब्धिस्थान है, न कोई बंध–स्थान है और न कोई उदयस्थान आदि है।

प्रवचन

मनीषियो !

आचार्य देवसेन स्वामी ने १९ वीं कारिका में निरंजन–स्वरूप आत्मा का कथन किया। कर्मों से रहित यह चिद्रूप अवस्था चेतन की वास्तविक अवस्था है। परन्तु इस देहजन्य धर्म को आत्मधर्म मानना ही सबसे बड़ा मिथ्यात्व है। 'पज्जयमूढ़ा परसमया' जो पर्याय में मूढ़ है, वही परसमय है। जो जीव दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित है, वही स्वसमय में है और जो पौद्‌गलिक पर्यायों में रत है, लीन है, वही परसमय में है। अतएव जब तक आत्मा रत्नत्रय से मंडित नहीं होगी, तब तक स्वसमय नहीं होगा। जब तक अज्ञानता नहीं हटेगी, तब तक मोक्षमार्ग प्रशस्त नहीं होगा।

भो चेतन ! जिस भोग के प्रति आपकी आस्था लगी हुई है, जिस पुद्‌गल में आस्था लगी हुई है, जिस राग में आपकी आस्था लगी हुई है, उसके प्रति अनास्था को जन्म देना होगा। भोगों के हेतु आप जो डिग्रियाँ प्राप्त करने में लगे हो और जिनके आप विशेषज्ञ बनते जा रहे हो, लाखों और करोड़ों के भवन खड़े कर रहे हो, हजारों–लाखों की फीस दी जा रही है, वह मोक्ष की प्राप्ति के लिये नहीं है। देखो तो, संसार के गड्ढे में गिरने के लिये व्यक्ति पढ़ने जाता है। कभी चिन्तन ही नहीं किया कि जीवन का आधा भाग विषयों की पढ़ाई में लगा दिया, फिर कुछ अंश उसकी प्राप्ति में लगाता है। देखो ! जिस समय राजा दशरथ को वैराग्य हुआ, तो भरत के पास राज्य–अभिषेक हेतु समाचार भेजा। तब भरत ने कितना सुन्दर उत्तर

दिया, 'हे तात ! जिस विषय को, जिस राज्य को, जिस भोग को आप अशुभ मानते हैं, क्या उस राज्य को आप अपने बेटे को देना चाहते हैं?' **अरे ! जो संसार से तारता है, उसका नाम तात है।** आप मुझे संसार के गर्त में डालना चाहते हैं। यह है मुमुक्षु की अवस्था, ऐसा होता है मुमुक्षु का चिंतन। लेकिन हमारी वृत्ति कहाँ जा रही है ? ज्ञान का भी अशुभ उपयोग चल रहा है, आस्था का भी अशुभ उपयोग चल रहा है और वृत्ति तो आप देख ही रहे हैं।

भो ज्ञानी आत्मन् ! आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि देखो इस पर्याय की दृष्टि को, संयम में तल्लीन हुआ योगी अब देह से विरक्त होता है, मगर मान–कषाय को नहीं छोड़ पा रहा है। आचार्य योगीन्दु स्वामी 'परमात्म प्रकाश' में कह रहे हैं कि जिस भुजबली ने अपनी भुजाओं के बल से सागर पार कर लिया, वह सागर (समुद्र) से निकला और गोस्पाद (गाय के खुर के बराबर पानी) में जाकर डूब गया। हे योगी ! तूने परिवार–जैसे राग के सागर को पार कर लिया, परन्तु यशःकीर्ति की खाई में आकर डूब गया।

कुंदकुंद स्वामी ने 'समयसार' जी की दूसरी गाथा में कहा है–

जीवो चरित्त–दंसण णाणट्ठिउ तं हि ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मपदेसट्ठियं च, तं जाण परसमयं ॥

स्वसमय में तो आत्मा रत्नत्रय से मंडित है और रत्नत्रय से खंडित आत्मा पर–समय है। देखो ! यदि बेटा विजातीय से विवाह कर लेता है तो पिताजी की दृष्टि देखना, 'बेटा ! तूने मेरे कुल को कलंकित कर दिया, तूने अच्छा नहीं किया।' अहो ज्ञानी आत्माओ ! तुम्हारा आत्मपिता तुमसे कह रहा है कि यह सब तेरी जाति के नहीं हैं, तू तो ज्ञान–दर्शनस्वभावी है। यह स्पर्श, वर्ण, गंध, रस तेरे स्वभाव नहीं, तूने पर–जाति के साथ संबंध स्थापित कर लिया है। तुझे शर्म नहीं आती ? तूने विजातीय संबंध किया है, इसलिए तू सिद्धों की पंक्ति से बाहर बैठा है। चैतन्य चिद्रूप आत्मा ही मेरी जाति है, अन्य सब पुद्गल की ही जातियाँ हैं।

भो चैतन्य ! जैसा तू सुन रहा है, जैसा तू समझ रहा है, वैसा अनुभव में आने लग जाए तो वास्तव में अपनी जाति में जाने लग जाओगे। माँ जिनवाणी कह रही है कि मेरी अंक (गोद) में आ जाओ। संसार की जननी तो जनम देकर संसार का काम सिखाती है, पर वह जिनवाणी माँ गर्भातीत कर देती है, संसार के जन्म–मरण से मुक्त कर देती है। जन्म देने

वाली ममता की माँ है, जबकि जन्म का नाश करने वाली यह समता की माँ है।

भो ज्ञानी ! जीवन में फूलना मत और कूलना मत, क्योंकि हम सब जिनवाणी को सीख रहे हैं। इस चंचला लक्ष्मी को देखकर प्रसन्न मत होना, क्योंकि यह लक्ष्मी कभी किसी की नहीं हुई। भिक्षु भी राजा हो सकता है और राजा भी भिक्षु हो सकता है। जो करोड़पति थे, वे आज रोडपति हैं और जो रोडपति थे, वे करोड़पति हैं। यह तो संसार की दशा है। आत्मज्ञानी तो कहता है कि न मैं स्वामी था और न ही भृत्य। मैं तो अपने चतुष्टय में तब भी था और अपने चतुष्टय में आज भी हूँ। यह सब तो द्रव्य का परिणमन है। पुण्य एक द्रव्य था, वह क्षीण हो गया, चला गया। पाप एक द्रव्य था, वह क्षीण हो गया, चला गया। यह पुण्य भी तेरा शत्रु बना बैठा है कि भूख अच्छे से नहीं लग पाती, उसके पहले भोग मिल जाता है। न तुम्हें गरीबी का भान है, न अमीरी का भान है। तुम कभी गरीब बन कर भी जियो, कभी तिर्यंच और कभी नारकी बन कर भी जियो, जिससे कि कभी अहम् में न डूब सको। क्योंकि जिसे रागी–मोही मरण कहता है, योगी उसे पर्याय का परिणमन कहता है। मरण शब्द अपने आप में बहुत कटु है, लेकिन जैनधर्म में मरण का बहुत महत्त्व है। इसलिए तो समाधिमरण है, वह भी सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण।

भो चैतन्य ! भाषा कहीं–कहीं कटु हो जाती है, अशोभनीय हो जाती है, पर हम अशुभ वचन क्यों बोलें ? जैसे 'व' का पेट चीर दो तो 'ब' हो जाता है, पर सम्यग्दृष्टि कहता है कि पेट मत चीरना, पेट भर देना। शब्द की दृष्टि देखो, लेकिन भाषा के चक्कर में आकर अपने भावों का हेर–फेर मत करना। भाषा के फेर के चक्कर में हम संसार में भटक रहे हैं। सूत्र को मत भूल जाना। चेतन–स्वभाव की ओर दृष्टिपात करो। कर्ताभाव है तो अशांति है। कर्ताबुद्धि कहती है–बेटे को जन्म मैंने दिया। जबकि बेटे को जन्म तूने दिया ही नहीं। तूने तो अपनी वासना को पूर्ण किया। आयु–कर्म का बंध उस जीव ने किया था। पर्यायों की पूर्णता जीव ने की है। तुम तो चेतन हो और यह शरीर तो जड़ है, रज–वीर्य का पिण्ड है। तुमने बेटे को जन्म कहाँ दिया? उसका आयुकर्म कहाँ गया ? तुम कर्ता बन कर क्यों जी रहे हो ? उसका पुण्य कहाँ गया ?

भो ज्ञानी ! पहले ही सँभल जाओ और यदि नहीं सँभल पाए तो ऐसे तड़पोगे जैसे नीर के अभाव में मछली तड़पती है, क्योंकि यह राग/मोह ही दुःख उत्पन्न कराता है। रागसामग्री

के अभाव में तुम राग के ही कारण तड़पोगे। तुम चिन्ताओं को खोजते फिरते हो, क्योंकि बिना चिन्ता के जी नहीं सकते। अरे! चाहता तो माला लेकर फेरता रहता, एक दो रोटियाँ तो कहीं भी मिल जाती, चिन्ता क्यों करता है ? जैनधर्म में तो भिखारी हैं ही नहीं, भिक्षु शब्द है । अहो ! संसार के चारित्र का चमत्कार तो देखो, बेचारे दोनों हाथों से कमाते हैं और एक हाथ से भी शांति से नहीं खा पाते हैं। दुनियाँ रोटी के चक्कर में परेशान है और ये (मुनि महाराज) रोटियों को तीन–तीन चक्कर लगवाते हैं। यह है चारित्र का चमत्कार। मालूम है, मुनिराज एक हाथ से भी नहीं कमाते और दोनों हाथों से खाते हैं।

भो ज्ञानी ! जब कोई खूँखार प्राणी तुम्हें भक्षण करने आये, उस समय आप चिन्तन करना कि यह देह तो पुद्गल है, मैं तो अजर–अमर हूँ, मुझे कौन खा सकता है ? और दूसरी ओर सुकौशल मुनि को निहारना और कहना, प्रभु ! सारी भूमि रक्त से रंग गई, पर तुम वीतरागता से रंगे बैठे थे। क्या खाया ? किसने खाया ? किसको खाया ? यह एक भेदविज्ञान है। बस, ज्ञानी और अज्ञानी की यही पहचान है। तुमने शरीर को छीला, मुझे नहीं छीला, यह है अध्यात्म विद्या। क्योंकि अध्यात्म कहता है कि तू शरीर की रक्षा नहीं कर पाएगा, परंतु अपने परिणामों की रक्षा कर सकता है। सुकुमाल–सुकौशल मुनिराज अपने शरीर की रक्षा नहीं कर पाये, परन्तु ज्ञानशरीरी आत्मा के परिणामों की रक्षा उन्होंने कर ली। जो जड़शरीर की रक्षा में लीन है, वह ज्ञानशरीर की रक्षा नहीं कर पा रहा है। जो ज्ञानशरीर की रक्षा में लीन है, वह कभी जड़शरीर की रक्षा कर ही नहीं पायेगा।

भो चेतन ! यदि आत्मा का उपकार चाहता है तो आत्मा का उपकार होगा त्याग तपस्या से, पर जिससे शरीर सूखेगा, सो आप सुखाना नहीं चाहते और आत्मा–आत्मा की बात करके भगवान् बनना चाहते हो। कैसे संभव है ? देखो ! जहाँ जीव का उपकार है, वहाँ शरीर का अपकार निश्चित है। पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि तेरे पास एक देह–उद्यान है और एक आत्म–उद्यान है। पानी उतना ही है तेरे पास। जिसमें देगा वह हरा रहेगा, जिसमें नहीं देगा वह सूख जाएगा।

ज्ञान–दर्शन–चारित्र रूपी अनुभूति ही आत्मा का नीर है और राग–मोह ये शरीर के संग हैं। अब तुम कौन–सा बगीचा भरना चाहते हो? एक चैतन्यवन है और एक पिंजर हड्डियों का मुकाम है। पोषण तो विषय का चल रहा है। न अष्टमी को देखते हैं, न चतुर्दशी। भक्ष्य–

अभक्ष्य का भी विवेक नहीं, आत्मा की रक्षा कैसे संभव है ? न दिन देख रहा है, न रात देख रहा है। ये तो मद है, मद। जब तक मोह–मद है, तब तक आत्मा की बातें अच्छी नहीं लगती। वीतरागवाणी में कहा है कि मोह–मद पीने वाले जीव की बातें प्रामाणिक नहीं होती। वह कभी साँप को साँप कह देता है और कभी रस्सी को साँप कह देता है।

मनीषियो ! मार्गणास्थान, गुणस्थान, जीवस्थान यह सब संसारी आत्मा की अशुद्ध अवस्थाएँ हैं, परन्तु शुद्ध आत्मा इन सब से अलिप्त है, जो मेरा नित्य निरंजन चिद्रूप है। यह है उस योगी की दशा का निःशंक चिंतन। उपसर्ग/परीषह को तो वह एक क्षण में जीत लेता है। ऐसा नहीं कि उपसर्ग कुछ ही योगियों पर आये हैं। प्रत्येक तीर्थंकर के काल में दस–दस उपसर्ग–केवली हुये। अन्तःकृत केवली होते हैं, वे घोर उपसर्ग सहन करके निर्वाण को प्राप्त करते हैं। तुम्हें कितना कष्ट है ? परेशान मत होना, उन संतों को तो निहार लो कि जिन्हें घानी में पेल दिया है, फिर भी कह रहे थे – 'तू तो शरीर को पेल रहा है, मुझे नहीं पेल रहा। तूने तो मुझे इसी भव में पेला है, कर्म तो मुझे अनंत भवों से पेल रहे हैं और यदि तू कर्मों से छुटा देता है तो मुझे पिलना स्वीकार है।' चिन्तन करना, मुझे कौन–सा कष्ट है ?

भो ज्ञानी ! तुमने न जीवन को समझा, न कर्म को। इसका कोई ज्ञान भी नहीं है। अरे ! वह कष्ट आना श्रेष्ठ है जिससे बंधे कर्म निकल रहे हैं। जो ऋण लिया था, वह चुका रहा हूँ। खुशी–खुशी चुकाना है। कोई तुम्हें कष्ट भी दे, गाली भी दे, सुन लेना, बड़े प्रेम के साथ सुन लेना। तुमने तो बहुत दिया, लेकिन मैंने उसे स्वीकार ही नहीं किया। जैसे मैं आहार लेने खड़ा हुआ और दाता कहे कि ले लो महाराज ! ले लो, और मैं न लूँ, तो वह किस के पास गया ? जिसने दिया था उसी के पास। जब स्वीकार ही नहीं किया, तो गाली गई कहाँ ? शब्दवर्गणाएँ थीं, निकल गई। तत्त्वसार को समझ रहे हो तो सम्यक्त्व को प्राप्त करो। यही तत्त्वसार है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

परम-उपादेय निरंजन भाव

फास रस रूव गंधा, सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो ।
सुद्धो चेयण–भावो, णिरंजणो सो अहं भणिओ ।।२१।।

अर्थ: और जिसके स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द आदिक नहीं हैं वह शुद्ध चेतन–भाव–रूप मैं निरंजन कहा गया हूँ।

प्रवचन

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी ने जन–जन के कल्याण हेतु परम वीतरागवाणी प्रदान की, जिसे आचार्यभगवंतों ने अपने निर्मल ज्ञान के माध्यम से ग्रंथ का आकार प्रदान किया। ऐसी जिनेन्द्र की वाणी का देवसेन स्वामी ने इस ग्रंथराज तत्त्वसार में कथन किया है। मनीषियो ! अन्तर में इतना ज्ञान हो जाये, इतना विचार करने लग जाएँ कि मैं जहाँ जी रहा हूँ, उससे भी कुछ भिन्न है और जिसे मैं अपना जीवन मान रहा हूँ, उससे भी भिन्न कोई जीवन है। एक जीव कहता है कि मेरा जन्म हुआ है और ज्ञानी कहता है कि मरण प्रारंभ हो चुका है। माँ जिनवाणी कहती है कि गर्भ से ही मरण प्रारम्भ हुआ है, क्योंकि जिस दिन मनुष्य–आयु का बंध हुआ था, तदुपरांत जिस दिन गर्भ में आए, उसी दिन से मनुष्य–आयु का प्रारंभ हो चुका है। पता नहीं ऐसी कितनी पर्यायें प्राप्त की हैं, कितने भव प्राप्त किये हैं, लेकिन उन भवों में भव के विनाश के भाव प्राप्त नहीं किये। भो ज्ञानी ! इन भवों में भव के विनाश का भाव कर लिया होता तो आज पुनः इस भव में तुझे नहीं आना पड़ता।

भव प्राप्ति के उपरान्त तूने यह तो विचार किया कि मेरा भव नष्ट हो गया, यह तो बार–बार सोचा कि मेरी पर्याय चली गई। इस प्रकार इस पर्याय में त्याग का चिंतन तो किया, लेकिन मोहवश अथवा रागवश किया है।

भो ज्ञानी ! जिस–जिस की प्राप्ति होती है, वह निश्चित बिछुड़ती है और जो अविनाशी होता है, उसे कभी प्राप्त नहीं किया जाता है। वह तो शाश्वत है, पास रहता है, परन्तु प्रगट किया जाता है। बाजार में प्रतिमा कहीं से पैदा करके नहीं लाई गई है, वरन् पाषाण में प्रतिमा

को प्रकट किया गया है। इसी प्रकार तेरे अंदर भी प्रतिमावान् विराजमान है, उसे तू निकाल। उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं है। अज्ञानी बाहर खोज करता है और ज्ञानी अपने प्रभु को अपने अंदर देखता है। पाषाण में प्रतिमा है, लेकिन जो व्यर्थ का पाषाण है उसे अलग हटा दीजिये, तब देखिये–प्रतिमा निकल आयेगी। इसी तरह कर्मों के पत्थर लगे हैं, इनको हटा देना, तो तेरा प्रभु निकल आयेगा।

कभी–कभी प्रतिमावान् के पीछे प्रतिमा को भी ढूँढ़ो। प्रतिमावान् को जानने के लिये प्रतिमा है। उस प्रतिमावान् की प्रतीति कैसे होगी ? भो ज्ञानी ! चित्र पिता नहीं है, परन्तु पिता के अभाव में चित्र भी तो नहीं बनता, पिता का ज्ञान करने के लिये चित्र निर्मित किया गया है। फिर भी चित्र तो चित्र है, पिता ही पिता है। लेकिन पिता ऐसे थे, इस बात को जानने के लिए चित्र रखा है। प्रभु ऐसे थे, जैसी प्रभु की प्रतिमा है। परन्तु प्रभु अमूर्तिक होते हैं, प्रतिमा मूर्तिक है। अमूर्तिक को हम जान नहीं पाते, इसलिये मूर्तिक में देखते हैं। इसी का नाम समयसार है। **जो अमूर्तिक को मूर्तिक में दिखा दे, यही तत्त्वसार है।**

भो मनीषियो ! मूर्ति की पूजा मूर्ति बनने के लिये नहीं की जाती और जो अपनी मूर्ति बनाने के लिये मूर्ति की पूजा कर रहा है, उससे बड़ा अज्ञानी कोई नहीं। प्रतिमा की आराधना/भक्ति हो रही है और भक्ति का परिणमन भगवान् बनने के लिये है। परन्तु ध्यान रखना, भगवान् की भक्ति भगवान् बनने के लिये साधन तो है, पर साध्य नहीं है।

भो आत्मन् ! तुम कर्मों के बीच में तो हो, किन्तु कर्मस्वरूप नहीं हो। तुझे कर्मों ने कभी बाँधा नहीं है, न कर्म तुझे कभी बाँध पाएँगे। कर्म बहुत ईमानदार हैं। आचार्य अमृतचंद स्वामी कहते हैं कि–

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्म भावेन ॥१२॥ पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ॥

जीव स्वयं के परिणामों से बंध को प्राप्त होता है। कर्म कभी जीवरूप हुआ नहीं, जीव कभी कर्मरूप हुआ नहीं। कर्म कर्म है, जीव जीव है। कर्म कभी बंध नहीं कराता है, किन्तु कर्मबंध में निमित्त होता है। ''जड़कर्म घुमाता है मुझको, यह मिथ्या भ्रांति रही मेरी'' यह कथन सत्य है, पर सर्वथा सत्य नहीं है। समयसार ग्रंथराज की गाथा नं. ८० कहती है–

जीव परिणाम हेदुं, कम्मत्तं पुग्गला परिणमंति ।
पुग्गलकम्मणिमित्तं, तहेव जीवो वि परिणमदि ॥

हे जीव ! यदि कर्म नहीं घुमाते हैं, जीव ही घूमता है, तो सिद्धों को भी घूमना चाहिए। यदि कर्म घुमाता है तो वे कार्माण–वर्गणाएँ सिद्धशिला पर भी हैं। भो ज्ञानी आत्माओ ! संसार की दशा देखो, हम सिद्धों के बगल में बैठकर आ गये, सिद्धशिला पर पहुँच चुके हैं, परन्तु सिद्धानुभूति नहीं कर सके, क्योंकि वे निरंजनस्वभावी थे और हम अंजन से युक्त। यदि कर्म घुमाता ही रहा तो, भो ज्ञानी ! कभी संसार का अन्त भी नहीं होगा। देखो तो, तत्त्व में चारों तरफ भूलें चल रही हैं। यह मानकर बैठे हैं कि मेरे कर्म का उदय जब तक चलेगा, मैं कुछ कर भी नहीं पाऊँगा। ठीक है, पर यह बताइये कि कर्म का उदय बंद कब होगा ? अरे ! कर्म बंद होगा तो तेरे द्वारा होगा और यदि कर्मबंध होगा तो वह भी तेरे द्वारा होगा।

भो ज्ञानी ! अब बहुत अच्छी तरह समझना, क्योंकि हम सिद्धांत को समझ नहीं पाते हैं और कहते हैं कि मैं सही हूँ। यदि तुम सही होते तो, भो ज्ञानी ! सही वस्तु शुद्ध ही होती है, अतः तुम यहाँ होते ही नहीं। कर्म जो हैं वे रागादिक भावों में निमित्त हैं और रागादिकभाव कर्मबंध के कारण हैं। हम उस जड़कर्म के पीछे अपनी सत्ता को न खो दें। कर्म कर्म हैं, कर्म निजधर्म नहीं है। जो कर्म को निजधर्म मानकर बैठा है, वह कभी कर्मातीत नहीं होगा। इसलिए आप कभी कर्म को रोक नहीं सकते एवं न कभी कर्म को टाल सकते। आपका पुरुषार्थ कर्म को रोकने का नहीं होता, अशुभ भावों को रोकने का होता है। व्यवहार से कहा जाता है कि मैंने कर्म को रोका है। भो ज्ञानी ! जब तेरा पुरुषार्थ अशुभ भावों को रोकने का हो जायेगा, तो अशुभ कर्मों का आना स्वयमेव रुक जायेगा। स्वाध्याय, पठन–पाठन, संयम धारण, व्रत का पालन, पूजन–विधान करना, इन सबका उद्देश्य अशुभ से बचना मात्र है, इन क्रियाओं से नियम से पुण्यास्रव होगा और पाप का संवर होगा तथा पूर्व में किये अशुभ कर्म की निर्जरा होगी। वह पुण्य तेरा परम्परा से मोक्ष का कारण है और यदि यह निर्मल उद्देश्य नहीं है तो वह पुण्य तेरा संसार का कारण है।

जड़ कर्म घुमा रहे हैं– यह तेरी मिथ्या भ्रांति है और जड़ कर्म नहीं घुमा रहे– यह भी तेरी मिथ्या भ्रांति है। 'समयसार' की गाथा क्रमांक ८० को समझें। भो ज्ञानी ! जब हम तेरे परिणाम की प्रधानता से कथन करेंगे, तब मैं यही कहूँगा कि 'जड़कर्म घुमा रहे' यह मिथ्या

भ्रांति है। क्योंकि कर्म का परिणमन स्वतंत्र है, वे अपने आप में अर्थ–पर्याय में परिणमन कर रहे हैं, भिन्न–भिन्न पर्याय में परिणमन कर रहे हैं।

'संघात' नामकर्म की एक प्रकृति है, जिसके उदय से पुद्‌गल वर्गणाएँ (कर्म–नोकर्म वर्गणाएँ) संघटित हैं, लेकिन उनके मध्य में बेचारी आत्मा फँसी है। उसी को सिद्धान्त की भाषा में बन्ध कहते हैं। जिसे अध्यात्म कहेगा स्वतंत्र है, उसे आगम कहेगा परतंत्र है। कर्मवर्गणाएँ स्वतंत्र हैं, जीव भी स्वतंत्र है, क्योंकि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का उपादानकर्त्ता नहीं है, मात्र परिणमन में निमित्त–कारण तो बनता है, प्रेरक अथवा उदासीन निमित्त है।

भो ज्ञानी ! परिणमन चल रहा है, आपकी उमर ढल रही है। परन्तु किसकी उम्र ढल रही है ? व्यवहार से आप यही कहेंगे कि हमारी ढल रही है, स्वयं के परिणमन से ढल रही है। भो ज्ञानी ! जैसे देह में परिणमन चल रहा है, ऐसे ही वृद्धावस्था परिणमन तेरे में आ रहा है और तू शिथिल होता चला जा रहा है। इंद्रियाँ शिथिल हो गईं, पर कामनाएँ बढ़ती जा रही हैं। कौन वृद्ध हो रहा है ? पुद्‌गल अपने धर्म से परिणमित हो रहा है और जीव अपने धर्म से परिणत हो रहा है। रागादिक भाव जीव के हैं, जिनके माध्यम से कार्माण वर्गणाएँ आती हैं। वे रागादिकभाव सिद्धों में नहीं हैं। इसलिए संसार में कर्म उन्हें नहीं घुमा रहे हैं। लेकिन कर्मों को दोष देकर स्वच्छंदी मत बन जाना। रागादिक भावों पर ही तेरा पुरुषार्थ चलेगा। रागादिक भाव तेरे छूटेंगे, तो कर्म छूटेंगे। बंध का चिंतन करने से कोई बंध से नहीं छूट सकता। जब बन्ध का छेद कर दोगे तो बंधन से मुक्त हो जाओगे। इसलिए पुरुषार्थ जरूरी है। तेरे भाव ही बन्ध से छुड़ाते हैं और तेरे भाव ही बंध को बढ़ाते हैं।

''भावेण बंधो, भावेण मोक्खो''।

भो चेतन ! भव से बंध होता है और भाव से ही मोक्ष होता है। भाव हेतु है, भाव कारण है, परन्तु कार्य कर्म है। उदाहरण देखिये–जेलर ने जेल में डाल दिया, जेलर ने बाँध दिया, जेलर ने बाँध करके रक्खा है; पर बंद तुम कोठरी में हो। बँधा तू हथकड़ी–बेड़ियाँ से है, पर वास्तव में न हथकड़ियों ने बाँधा, न बेड़ियों ने बाँधा। बन्ध तूने अपने दुष्कर्मों से किया है। वह दुष्कर्म तेरे ही कारण से हो गये। ऐसे ही जड़कर्म आत्मा को बंधन में डाले हुए हैं, पर वास्तव में बन्ध कर्मों ने नहीं किया, तेरे कार्यों ने किया है। इसलिए निर्मलता कार्यों में लानी पड़ेगी।

भो ज्ञानी ! हर व्यक्ति को अपराध करने के बाद पश्चात्ताप होता है। अतः किसी अपराधी को प्राणदंड मत देना, अपराध का दंड मत देना, मगर अपराध का बोध करा देना। यदि अपराध–बोध करा दिया तो वह दण्ड को हँसते–हँसते स्वीकार करेगा। वह स्वयं कहेगा कि मुझे दण्ड दो, प्रायश्चित्त दो। एक शिष्य आचार्य के पास पहुँचकर कहता है, हे नाथ ! मैंने दुष्कर्म किया है, मैंने दुश्चिंतन किया है, मैं अन्तरंग में झुलस रहा हूँ, उस अंतरंग पश्चात्ताप की अग्नि से मेरी रक्षा कर लो। अतः जब कर्म–बोध/अपराध–बोध हो जाता है, तो प्रायश्चित्त से निज का शोध करना प्रारंभ कर देता है, उसका नाम साधु होता है।

जब तक अपराध–बोध नहीं होता है, तब तक प्रतिशोध सामने खड़ा रहता है कि उन्होंने मेरे साथ ऐसा क्यों किया ? मैं इनको देख लूँगा। भो चेतन ! तेरा आत्मबोध कहाँ चला गया, तत्त्वज्ञान कहाँ चला गया, जो यह कह रहा है कि मैं प्रतिशोध लेकर रहूँगा ? तू प्रतिशोध मत ले। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कितनी सुंदर बात लिखी है–

विराधकः कथं हंत्रे, जनाय परिकुप्यति ।
त्र्यङ्गुलं पातयन्पद्भ्यां, स्वयं दण्डेन पात्यते ।।१०।। इष्टोपदेश।।

तू अपराधी को क्यों मारना चाहता है? क्यों विरोध कर रहा है? क्यों रोष कर रहा है? अरे भाई ! खलिहान में भूसा खींचने वाले यंत्र को त्र्यंगुल कहते हैं। यदि किसान उसके नीचे लगी लकड़ियों के ऊपर पैर रख दे तो उसका ऊपरी हिस्सा (वेंट) सिर में आकर लगता है। अतः अपराधी स्वयं कर्मबंध कर फल भोग रहा है, तुम क्यों चिंता करते हो? जिसने जिनशासन को नहीं समझा, वह प्रतिशोध की भावना लिये बैठा रहता है। परन्तु नमोस्तुशासन में जीने वाला प्रतिशोध नहीं लेता, प्रायश्चित्त करता है। अपराध–बोध हो जाना ही सबसे बड़ा दण्ड है। निष्कर्ष यह है कि जीव के परिणाम कर्मबंध में निमित्त हैं। एक–दूसरे का निमित्त–नैमित्तिक संबंध है। बिना कर्म–बंध जड़कर्म घुमा नहीं सकता और बिना रागादि भावों के जड़कर्मबंध हो नहीं सकता। यह आगम की व्यवस्था है।

भो ज्ञानी आत्मा ! तू ज्ञान का भी कर्त्ता है, तू दर्शन का भी कर्त्ता है, तू चारित्र का भी कर्त्ता है, तू मिथ्यात्व का भी कर्त्ता है और तू किसी का भी कर्त्ता नहीं है। व्यवहारदृष्टि से तू सबका कर्त्ता है और निश्चय दृष्टि से तू किसी का भी कर्त्ता नहीं है। व्यवहारनय से (अशुद्ध निश्चयनय से) रागादिक भावों का कर्त्ता है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावों का कर्त्ता हैऔर

परम शुद्ध निश्चय नय से तू किसी का भी कर्त्ता नहीं है। भो चेतन ! तू कर्त्ता भी है और तू भोक्ता भी है। इसलिए व्यवहारनय से यह जीव सुख–दुःख का भोक्ता है और अशुद्ध निश्चयनय से रागादिक फल का भोक्ता है। शुद्ध निश्चयनय से यह जीव शुद्ध भावों का भोक्ता है। और परम शुद्ध निश्चयनय से न कर्त्ता है, न भोक्ता है, कोई विकल्प नहीं है।

देवसेन स्वामी इस गाथा में कह रहे हैं कि स्पर्श, रस, रूप, गंध, शब्द आदि वास्तव में इस चेतन के धर्म नहीं हैं, पुद्गल के धर्म हैं। इसलिए मैं जड़ नहीं हूँ, मैं चेतन हूँ। मैं अरस हूँ, अगंध हूँ, अस्पर्श हूँ, अशब्द हूँ, अलिंगी हूँ। यही आत्मा का स्वरूप है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

अनुपचरित-असद्भुत व्यवहारनय से कर्मादि-भाव जीव के हैं

अत्थि त्ति पुणो भणिया णएण ववहारिएण ए सव्वे ।
णोकम्म–कम्मणादी पज्जाया विविहभेयगया ॥२२॥

अर्थ: पुनः व्यवहारनय से अनेकभेदगत ये सब नोकर्म और कर्मजनित पर्याय जीव के हैं, ऐसा कहा गया है।

प्रवचन

मनीषियो !

आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही सुन्दर सूत्र दिया है कि मौसम पाकर समुद्र का नमक जलरूप हो जाता है और समुद्र का वही जल मौसम पाकर लवण–रूप में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार नमक जल–रूप भले ही हो जावे और जल नमक–रूप हो जाए, लेकिन चेतन का परिणमन जड़ नहीं हो सकता। भो ज्ञानी ! चेतन की जड़ में कितनी ही तन्मयता हो, लेकिन चेतन जड़ नहीं हो सकता। चेतन तो चेतन है, चेतन ही रहेगा। कर्म का आत्मा से संश्लेष–संबंध है, संश्लेष–सम्बन्ध से बंध है, लेकिन बंध जीव का स्वभाव नहीं है, कर्मसंबंध आत्मस्वभाव नहीं है।

भो चेतन ! दुःख का मूल हेतु शरीर है, शरीर में इन्द्रियाँ है, इंद्रियों के विषय है। हमने शरीर के पोषण में इतना समय एवं ऊर्जा लगा दी कि पता नहीं चला कि शरीर के अलावा भी कुछ–और है। अतएव चित्र को चित्र मान, चेतन मत मान। चित्र को जिसने चेतन समझ लिया, वह कभी चैतन्य–चमत्कार–अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं सुन्दर हूँ, मैं असुन्दर हूँ, मैं अमुक वंश का हूँ, मैं अमुक क्षेत्र का हूँ। इस प्रकार पुद्गल के पीछे परस्पर के मैत्रीभाव को, वात्सल्य–भाव को समाप्त कर रहा है। सिद्धान्त कहता है कि तू पंचेन्द्रिय जाति का है, अध्यात्म कहता है कि तू एक जीवमात्र है। शरीर, शरीर है; न

हाथ शरीर है, न पैर शरीर है, न सिर शरीर है, लेकिन इन सबसे रहित भी शरीर नहीं है।

जिस प्रकार पक्षी को उड़ने के लिये दोनों पंखों की आवश्यकता है, एक के अभाव में दूसरा कार्यकारी नहीं होता, उसी प्रकार निश्चय और व्यवहार है। जब तक पक्षी उड़ान भरता है, तब तक उसके लिये पंख ही सर्वोपरि हैं। एक पंख के क्षतिग्रस्त होने पर पक्षी उड़ान नहीं भर सकता। चाहे वह दाहिना पंख हो, चाहे बायाँ। दोनों पंखों के बीच में पक्षी है। ऐसे ही मोक्षमार्ग के लिये निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि है। चाहे निश्चयदृष्टि विनाश को प्राप्त हो, चाहे व्यवहारदृष्टि विनाश को प्राप्त हो, उड़ान तो तेरी समाप्त हो ही गई। अतः गमन तो करना, परन्तु गमन पर दृष्टि रखना। गमन हो तो ऐसा हो कि पुनः आगमन न हो, अभीष्ट ही प्राप्त हो।

भो ज्ञानी ! निश्चय और व्यवहार एक नहीं होते, बल्कि निश्चय–व्यवहार में भी निश्चय–व्यवहार होते हैं, वैसे ही जैसे एक पंख में अनेक पंख होते हैं। पंख, पंख हैं; पक्षी नहीं, लेकिन पंख के अभाव में पक्षी नहीं, उस प्रकार नय, नय है; प्रमाण नहीं। लेकिन नय के अभाव में प्रमाण नहीं और प्रमाण के अभाव में नय नहीं। जो है, वह प्रमाण है और जिससे कहा जा रहा है, वह नय है। वस्तु के सम्पूर्ण अंशों का जो एकसाथ जानना हो रहा है, उसका नाम प्रमाण है और वस्तु के एक अंश का कथन जिसके द्वारा हो रहा है, उसका नाम नय है। जो अभेद में ले जा रहा है, उसका नाम निश्चय और जो भेद कथन कर रहा है, उसका नाम व्यवहार।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने समयसार जी ग्रंथराज में कहा है–

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
णवि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

दर्शन–ज्ञान–चारित्र का नाम व्यवहार है। ज्ञायकस्वरूप भगवंत–आत्मा निश्चय है। आप कितने अंश व्यवहार में जी रहे हैं? क्या आपके पास दर्शन–ज्ञान है ? या व्यवहार के विसंवाद में जी रहे हो? न निश्चय में जी रहे हो और न व्यवहार में जी रहे हो। दर्शन–ज्ञान–चारित्र की भेद–अवस्था व्यवहार है और दर्शन–ज्ञान–चारित्र की अभेद निश्चल अनुभूति का नाम निश्चय है। दर्शन–ज्ञान–चारित्र यह आत्मा के गुण हैं और आत्मा गुणी है। गुण तो गुण है और गुणी गुणी है। गुण कहाँ होंगे? गुण तो गुणी में ही होंगे।

भो ज्ञानी ! दर्शन–ज्ञान–चारित्र व्यवहार–चर्या में दिखेगा, यही है व्यवहारचारित्र। जिसने धूपदानी में धूप डाली है, उसके हाथ में सुगंध अवश्य होती है। जिसके अंतस् में भेद की लहरें उत्पन्न हो रही हैं, उसके सामने अभेद नियम से दिखेगा। रक्त में विकार था, तो फोड़े ने आकार लिया। अंतस् में विकार आया, तो वासना ने जन्म लिया। यह बात अलग है कि वासना दिख नहीं रही है, क्योंकि वह वस्त्र पहने बैठी है। अन्तरंग में निर्मलता थी, ऋजुता थी, तो जीव भगवान् की भक्ति या स्वाध्याय कर रहा है, गुरु–चरणों में बैठा है। यह जिनेन्द्र की वाणी सबको सुहावनी नहीं लगती। कुछ ही जीव हैं जो भव्य हैं। देखो! सूर्य के उदय होने पर सभी पुष्प प्रफुल्लित नहीं होते, मात्र कमल–जाति के ही पुष्प प्रफुल्लित होते हैं। तुम देव–शास्त्र–गुरु के उपासक हो, अतः देव–शास्त्र–गुरु की सुगन्ध तो दिखनी चाहिये।

भो ज्ञानी ! देव–शास्त्र–गुरु की श्रद्धा में डुबकी तो लगाकर आए हो, पर भीगे नहीं दिख रहे हो। वही कषाय, वही क्रूरता। यह सब क्या है ? क्योंकि जिसके प्रशमभाव नहीं, आस्तिक्य भाव नहीं, संवेग भाव नहीं, अनुकंपा भाव नहीं, वह तो व्यवहार से भी सम्यग्दृष्टि नहीं, निश्चय का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अज्ञानी कहता है कि मैंने आत्मा को देख लिया। भो मनीषी ! आत्मा दिखने की वस्तु नहीं, आत्मा तो अनुभूति की वस्तु है। यह मिथ्यादृष्टि–पना है जो अनुभूति की विषय–वस्तु को आँखों से देखना चाहता है। यह आत्मा ज्ञाता–दृष्टा है, पर आत्मा चक्षु–दृष्टव्य नहीं है।

भो मनीषी ! धर्म और धर्मात्मा की संगति तो चंदन की संगति की तरह है। जैसे, कड़वी नीम भी चंदन के संपर्क में हो तो सुगंधित हो जाती है, वैसे ही धर्म–धर्मात्मा की संगति हो और वात्सल्यभाव न आए, प्रशम और आस्तिक्य भाव न आए, कषाय में मंदता न हो, भद्रता न हो, तो यह कैसी चंदन की संगति है?

भो ज्ञानी! ध्यान देना, नय कोई अव्यवस्था फैलाने की वस्तु नहीं, अव्यवस्थित को व्यवस्थित करने का नाम नय है। वे जीव अज्ञानी हैं, जो नय को न समझ अव्यवस्था फैला रहे हैं। हम नय को परमात्मा पद का हेतु समझ बैठे। नय परमेश्वर नहीं है, परमेश्वर को बताने वाला मार्ग है, कथन–शैलियाँ हैं। दृष्टि को देखो। जहॉं दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, उसका नाम व्यवहार है और जहाँ इनकी एकता (अभेद) है, उसका नाम निश्चय है। शेष सब

व्यवस्थाएँ हैं। वे व्यवस्थाएँ उपचरित हैं, सजातीय, विजातीय हैं। सद्भूत व्यवहारनय से दर्शन–ज्ञान–चारित्र हैं और शुद्ध सद्भूत केवलज्ञान–दर्शन हमारा धर्म है। निश्चयनय अखंड ज्ञानस्वरूपी आत्मा है।

दर्शन–ज्ञान–चारित्र धर्मों से कैसे भिन्न हो सकते हैं? यह तो अविभक्त हैं। धर्मात्मा शरीर के पीछे कषाय को प्रगट नहीं करता। शरीर पर रागभाव तो राख रखने जैसा है, क्योंकि इस शरीर को तो राख होना ही है। लेकिन यह आत्मा न जलेगा, न गलेगा और न विभक्त ही होगा। यह है ज्ञानी की दृष्टि। यह आत्मा जिससे सब जान रहे हो, उसे भी जान रहे हो। इससे बड़ा आश्चर्य और–क्या हो सकता है?

भो ज्ञानी ! भोगों के मार्ग पर दौड़ रहे हो, कषायों के मार्ग पर दौड़ रहे हो। दौड़ने वाले को नहीं पकड़ रहे हो, शरीर का नाम ले रहे हो। पुद्गल का परिणमन चल रहा है, पर परिणमन वही होगा और फल भी वैसा ही मिलेगा, इसको कोई टाल नहीं सकता। दौड़ता भले ही पुद्गल है, लेकिन दौड़ाने वाला पुद्गल नहीं है। परमात्मा की ओर जब दौड़ होगी, तब मंजिल मिल जाएगी। उस दिन यह सारे पुद्गल परमाणु बाहर पड़े रह जायेंगे और वह स्थान सिद्धक्षेत्र बन जाएगा और तू सिद्धालय में विराजमान हो जायेगा। इसलिए ज्ञानी निरन्तर मौन रहना चाहता है। अज्ञानी लड़ता–झगड़ता अधिक है, काम नहीं कर पाता, मार्ग पर नहीं चल पाता, विसम्वाद अधिक करता है।

आचार्य देवसेन स्वामी इस बाईसवीं गाथा में कह रहे हैं कि व्यवहारनय से जीव के कर्म अनुपचरित असद्भूत हैं, कोई अलग नये नहीं हैं। स्वयं बंध किया, अतः स्वयं सुख–दुःख भोग रहा है। नो–कर्म शरीर आदि कहलाते हैं। स्त्री क्यों बनना पड़ा है ? नपुंसक क्यों बनना पड़ा ? नींद क्यों नहीं आती है ? ऐसे प्रश्नों के उत्तर जानने के लिये कर्मसिद्धान्त पढ़ना चाहिए। जो व्यक्ति घर में लड़ाई–झगड़ा करता है, लम्बे–लम्बे बाल बढ़ाता है, स्त्रियों जैसे वस्त्र पहिनता है, भो चेतन ! जिनवाणी कहती है कि यह सब नोकर्म का स्त्री–वेदकर्म है। जो व्यक्ति गरिष्ठ भोजन करता हो, मट्ठा, छांछ, भैंस का दूध आदि का सेवन करता हो और कहे कि मुझे बहुत नींद आती है, अरे ! नींद तो आएगी ही। लड़ना–झगड़ना अथवा लड़ने–झगड़ने में निमित्त बनना, कर्म तो दोनों को बँधते हैं। किसी को चिढ़ाने के लिये मुँह में कुछ बोला या इशारे से चिढ़ा दिया तो वह चिल्लाने लगा। इससे तीव्र कर्म का बंध दोनों को होता है।

कर्म करने के अनेक प्रकार हैं। जितने प्रकार के कर्म हैं, उतने ही प्रकार के बंध होते हैं और जैसा बंध होगा, वैसा ही उदय में आएगा। इसलिए, भो ज्ञानी ! हमेशा ऐसी भावना भाना चाहिए कि, हे भगवान् ! वह दिन कब आएगा जब मैं इन सब कर्मों से मुक्त हो जाऊँगा। ऐसे ही जब तक कर्मबंध रहे हैं, ऐसा यत्न करते रहना चाहिए कि शुभ कर्मों का ही बंध हो। यही कर्म निर्बंध होने में सहयोगी बनेंगे।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

देहधर्म आत्मधर्म नहीं

संबंधो ऐदेसिं णायव्वो खीर–णीरणाएण ।
एकत्तोमिलियाणं णिय–णिय सा ब्भाव–जुत्ताणं ।।२३।।

अर्थ: अपने–अपने सद्भाव से युक्त, किन्तु एकत्व को प्राप्त इन जीव और कर्म का संबंध दूध और पानी के न्याय से जानना चाहिए।

प्रवचन

मनीषियो !

भगवान् श्री महावीर स्वामी ने आत्मा की उस अनुपम दशा का कथन किया, जिस दशा का इस जीवन ने आज तक अनुभव नहीं किया। यह जीव तो आज तक देह में धर्म समझता रहा, शरीर के संबंधों को ही यह अपना स्वभाव समझता रहा। यही कारण रहा कि इस कलिकाल में इसको जन्म लेना पड़ा। लेकिन कलिकाल में जन्म लेकर भी यदि अपने परिणामों को नहीं सुधार पाया, तो आने वाले भविष्य को याद कर लेना जब एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को कच्चा खाएगा, अग्नि का लोप हो जाएगा, धर्म का नामोनिशान नहीं होगा। अभी आपके पास बहुत कुछ है। इस पंचमकाल में बैठकर भी आप पंच परमगुरु की आराधना/भक्ति कर, आत्ममंथन कर आज भी परमार्थ को सिद्ध कर सकते हो।

मनीषियो ! इस परमार्थ की सिद्धि तभी होगी जब हमारी दृष्टि निर्विकार होगी। क्योंकि शरीर की साधना के साथ–साथ जब तक मन की साधना नहीं होगी, तब तक मानव से महामानव नहीं बन सकते। मानव से महामानव–अवस्था अरिहन्त अथवा सिद्ध–अवस्था ही है।

भो ज्ञानी ! आत्मा में अशुभ भावों के छिद्र हो रहे हैं, रागादि परिणाम बढ़ रहे हैं। जब तक तू अन्तरंग में भेद–विज्ञान के माध्यम से अथवा आत्मतत्त्व की दृष्टि के माध्यम से नहीं रमेगा और चर्या नहीं करेगा, तब तक विकारों के छेद समाप्त होने वाले नहीं। देखो, इतिहास में चर्या की चर्चा है, जिन्होंने अच्छी चर्या की उसकी भी और जिन्होंने बुरी चर्या की उसकी

भी। चर्चा दोनों की है। जिन्होंने समीचीन चर्या की, उनकी आराधना हो रही है।

भो चेतन ! आप अपनी प्रशंसा के लिए व्याकुल न होना और न ही किसी की आलोचना करना, क्योंकि जिसकी आलोचना करने जा रहे हो, जिसको बुरा कह रहे हो, वह भावी तीर्थंकर भी हो सकता है, पूज्य हो सकता है। जिस पर्याय में उस जीव ने पाप किया था, उसकी वह पर्याय बुरी थी; परन्तु ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जब जीवन भर के शत्रु भी मित्र बन गये। ज्ञानीजीव हमेशा कहता है कि ''न मे शत्रुर्न च मे प्रियः'' संसार में मेरा कोई शत्रु नहीं, संसार में कोई मित्र नहीं। रावण निन्दनीय नहीं था, **रावण का कृत्य निन्दनीय था, पर आपने कितनी सीताओं के प्रति दृष्टिपात किया, क्या वह कृत्य निन्दनीय नहीं?**

भो ज्ञानी ! रावण को जलाने से पहले अपने मन से यह पूछ लेना कि तुम रावण– जैसे हो कि राम जैसे? आप जब रावण को जलाने जा रहे हो तो संकल्पी–हिंसा करने जा रहे हो। धन की लिप्सा और मान की पिपासा व्यक्ति को दुष्कर्म से दुष्कर्म करा देती है। इसलिये हमारे आचार्यों ने जिनवाणी कहने का अधिकार ऐसे हाथों में सुरक्षित रखा है जो धन और मान दोनों से रिक्त हैं, क्योंकि लोभी और मानी व्यक्ति कभी सत्य नहीं बोल सकता है। हे ज्ञानी आत्मन् ! तूने क्या–क्या कृत्य नहीं कर डाले? शरीर से भले ही न किये हों, पर मन से तो कितना–कितना कर लिया। मन की बात तुम अपनी माँ को नहीं बता देना, वरना वह बेटा कहने में संकोच करने लगेगी।

दूसरों के दोषों के लिए हम तुरन्त समझदार बन जाते हैं और अपने दोषों के लिये हमारी समझ कहाँ होती है ? हे निर्दोष भगवान् आत्माओ ! तुम कैसे दोषी हो ? अपने को जब निर्दोष मान बैठोगे, तब निर्दोष परमात्मा कब प्रकट होगा ? अपने कृत्य पर विचार करो। जब बाजार में जलेबियाँ बड़े चाव से खा रहे थे, तब तनिक भी सोचा था कि वह मैदा का बर्तन कितने दिन से साफ नहीं हुआ होगा? उसमें लट– जैसे कितने जीव होंगे ? मैदा के बोरे में कितने जीव होंगे ? वह कितने दिन की रखी थी ? तुम्हारे स्वाद के लिये कितने जीवों का घात किया गया ?

भो चेतन ! विचार तो करो, जिन जीवों का घात किया गया, वे भगवान्–स्वरूप आत्मा थे कि नहीं ? उनमें ईश्वर–सत्ता थी कि नहीं ? अभक्ष्य का त्याग नहीं कर पा रहे हो, द्विदल खा रहे हो और प्रसन्न हो रहे हो। रसन–इंद्रिय में लिप्सा है। भेदविज्ञान यह नहीं कहता कि

जब तूने शुद्ध सत्ता का अनुभव कर लिया है तो विषयों को छोड़ दो। भेदविज्ञान यह नहीं कहता कि अशुभ करो और शुद्ध को देखो।

जैसे घड़ियाल मछलियों को खाता है, वैसे ही आप अभक्ष्य भोजन में जीवों का घात कर रहे हो। जीभ के स्वाद के लिये क्या–क्या खा रहे हो, जरा विचार तो करो। बिना छना पानी पी लिया, तुमने कितने जीवों को पी लिया ? यह जीव क्या तुम्हारे जैसे नहीं थे, भगवंत स्वरूप नहीं थे ? भेदविज्ञान है तो, ज्ञानी ! चित्त स्वस्थ रखो, चारित्र स्वस्थ रखो, जिससे आत्मा स्वस्थ हो जायेगा। जब तक चित्त स्वस्थ नहीं, तो चारित्र स्वस्थ नहीं होगा। श्रीपाल से पूछ लेना, कुष्ट रोग कैसे हुआ ? **तन का कोढ़ी तो संसार से पार हो सकता है, पर मन का कोढ़ी कभी संसार पार नहीं कर सकता ?** श्रीपाल के मन में जब परमेष्ठी के प्रति (गुरुओं के प्रति) अश्रद्धान हुआ था, तब ही अन्तर में कुष्ट हो गया था। सात–सौ लोगों ने अनुमोदना की थी और अब उन्हीं सात सौ लोगों के साथ तुझे कुष्ट हो गया है।

भो चेतन ! जैनदर्शन न हँसने की अनुमति देता है, न रोने देता है। यदि हँसोगे, तो कर्मास्रव होगा और रोओगे, तो भी कर्मास्रव होगा। साम्यभाव ही एक अनुपम औषधि है। भगवान् के चरणों में निवेदन कर लेना कि, हे जिनवर ! हे जिनवाणी ! हे निर्ग्रन्थ गुरु ! मेरे मन में कभी कुविचार–रूपी कुष्ट उत्पन्न न हो।

आचार्य देवसेन स्वामी समझा रहे हैं कि जिस तरह नीर और क्षीर मिश्रित होने पर भी क्षीर क्षीर है, नीर नीर है, उसी तरह जीव व कर्म मिश्रित होने पर भी जीव जीव है, कर्म कर्म हैं। कर्म के बंध को देखकर तुम भयभीत मत होना। पुण्य और पाप का फल सब जानते हैं– एक पालकी में बैठा है और दूसरा पालकी को उठा रहा है।

भो चेतन ! दृष्टि को निर्मल करो, कर्मों के कपाटादिक को खोल दो। इसे खोलने का पुरुषार्थ स्वयं ही करना पड़ेगा। जितने भी पाप करोगे, उनका फल भोगना ही पड़ेगा। शीतलनाथ भगवान् के चरणों में माथा टेक देने से आपके पापों का प्रक्षालन करने शीतलनाथ भगवान् नहीं आएँगे। स्वयं करोगे, स्वयं भोगना पड़ेगा। इसलिये भगवान् और भाग्य को छोड़ो, स्वयं अपने को देखो। भाग्य और भगवान् के चक्कर में तुमने अनर्थ कर डाला। संयम के लिये भाग्य सामने खड़ा हो जाता है और विषयों के लिये कैसे–कैसे पुरुषार्थ करते हो तथा कहते हो कि जब काललब्धि आ जायेगी तो संयम ग्रहण कर लेंगे। भो चेतन ! ऐसे

काललब्धि को आप बदनाम मत करो। काललब्धि तो सत्य है, पर तुम्हारा सोचना सत्य नहीं हैं। आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि आत्मा कर्म से संश्लेषित है, परन्तु कर्म का धर्म 'जड़' है, आत्मा का धर्म 'चेतन' है। जड़ के संबंध में तू चेतन को मत भूल जाना। सत्य बताना, चौबीस घंटों में तुम चेतन को कितना समय देते हो ?

भो मनीषी ! एकसाथ मिले होने पर भी दोनों अपने–अपने स्वभाव से युक्त होते हैं। कर्म का कर्मस्वभाव है, आत्मा का आत्मस्वभाव है। परन्तु आत्मा ने कर्म–स्वभाव नहीं दिया, लेकिन आत्मा ने अपने निजस्वभाव को खो दिया। इसलिये परस्वभाव में बँधा पड़ा है। हे ज्ञानी ! निज की अनुभूति पर दृष्टि क्यों नहीं जाती ? कर्मों से बँधे होने की बात करते हो। अरे ! बँधा तो वास्तव में बैल है। रस्सी से बँधा है, खूँटे से बँधा है, लेकिन जब मौका देखता है, तब तोड़ने का प्रयास करता है। वह देखता है कि कब रस्सी–खूँटा टूट जाए और कब मैं छूटकर स्वतन्त्र हो जाऊँ। पर बिना सींग–पूँछ के बैल अर्थात् मनुष्य की दशा देखो। न खूँटा है, न रस्सी है, फिर भी बेचारा घूम–घाम कर वहीं आ जाता है, कहीं नहीं जाता।

भो ज्ञानी आत्मा ! मोह की रस्सी और राग के खूँटों को तोड़ दो, तो तेरी आत्मा त्रैकालिक ध्रुव अवस्था को प्राप्त हो जाएगी। जब तक राग की रस्सी और मोह के खूँटें नहीं उखाड़ पा रहे हो, तब तक भगवती आत्मा की बातें करते रहना, लेकिन भगवान् नहीं बन सकोगे। लोक में मेरा कोई मित्र नहीं है। राग शत्रु है, द्वेष शत्रु है। निज शुद्धात्मतत्त्व मेरा मित्र है, शेष सब हेय है, निज आत्मतत्त्व ही परम उपादेय है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

भेदज्ञान से आत्मज्ञान

जह कुणइ को वि भेयं पाणिय–दुद्धाण तक्कजोएणं ।
णाणी वि तहा भेयं करेइ वरझाण–जोएणं ॥२४॥

अर्थ: जैसे कोई पुरुष तर्क के योग से पानी और दूध का भेद करता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष भी उत्तम ध्यान के योग से चेतन और अचेतन–रूप स्व–पर का भेद करता है।

प्रवचन

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के पावन जिनशासन को जाज्वल्यमान करने वाला आचार्यशासन तब प्रारंभ हुआ जब आचार्यभगवन्तों ने चारों अनुयोगों पर अविच्छिन्न ज्ञान की धाराओं को बहाया। उन्हीं आचार्यों की श्रेणी में देवसेन स्वामी हैं, जिन्होंने अनुपम अनुकम्पा कर ऐसे अभूतपूर्व ग्रंथ का सृजन किया जिसमें तत्त्व का सार निहित है।

वास्तव में तत्त्व को जिसने समझा है, वही तत्त्वसार है। जिसने तत्त्व को नहीं समझा, वह तत्त्व का ज्ञाता तो हो सकता है, तत्त्वसार नहीं हो सकता; क्योंकि सार अपने आप में सत्–स्वरूप है। जब बाहर का सब निकल जाता है, अंत में जो बचता है, वह सार है। ऐसे ही साधना का चरम सार ध्यान है। उस ध्यान की सिद्धि जिसे हो चुकी है, वही अनंतज्ञान के धारी अरिहन्त हैं, वही सिद्ध हैं। उस ध्यान की सिद्धि हेतु आचार्य देवसेन स्वामी अपने विषय को आगे बढ़ाते हुये संकेत कर रहे हैं कि आपको विश्वास तो हो गया, श्रद्धा तो हो गई, किन्तु नीर को क्षीर में कितना ही मिला दो, परन्तु सत्ता दोनों की स्वतन्त्र है। क्षीर क्षीर है, नीर नीर है। यह भेदविज्ञान बहुत जरूरी है। आज तक संसार में भटका, तो उसका मूल हेतु भेदविज्ञान का अभाव है।

भो ज्ञानी ! भेदविज्ञान अर्थात् क्या ? मिलावट को मिलावट समझना, वास्तविक को वास्तविक समझना। मिलावट को समझ लिया बस, उसी का नाम भेदविज्ञान है। आत्मा में कर्म मिल गए, जिसने एक मान लिया, उसके भेद–विज्ञान का अभाव है। जिसने यह मान लिया

कि कर्म भिन्न हैं, आत्मा भिन्न है– ऐसे अनुभवन करता है ज्ञानी। संसार का जो भ्रमण है, वह मिश्र–अवस्था के कारण ही है। देखो, तिल को पिलना पड़ता है, क्योंकि उसके अन्दर स्निग्धता है। तुम्हें संसार में क्यों रुलना पड़ रहा है ? क्योंकि तुम्हारे में राग की स्निग्धता है। भो चेतन ! तेल की चिकनाई तो जल्दी दूर हो जाती है, पर राग की चिकनाई बड़ी प्रबल है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने 'अध्यात्म अमृत कलश' में कहा है –

भेदविज्ञानतः सिद्धाः, सिद्धा ये किल केचन।
अस्यैवाभावतो बद्धा, बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

जितने जीव आज तक सिद्ध हुए हैं, वे सभी भेदविज्ञान से हुए हैं और जितने जीव आज बंध रहे हैं, वह भेदविज्ञान के अभाव में बंध रहे है। आचार्य देवसेन महाराज उसी भेदविज्ञान की चर्चा कर रहे हैं। जब तक भेदविज्ञान नहीं होगा, तब तक वीतरागविज्ञान का जन्म नहीं होगा और जब तक तुम भौतिकविज्ञान में जी रहे हो, तब तक भेदविज्ञान होने वाला नहीं।

भो ज्ञानी ! पहले वीतरागविज्ञान नहीं होता, पहले भेद–विज्ञान ही होता है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी कहते हैं कि कर्म का बंध ज्ञान से किया है आपने, अज्ञान से नहीं किया। भो चेतन ! हिंसा करना पाप है– यह जानते हैं आप लोग। हिंसा से कर्म–आस्रव भी होता है, कर्मबंध भी होता है, उसका विपाक भी होता है, फल भी मिलेगा। इतना सब जानते हो, फिर भी हिंसा करते हो आप लोग। इसी प्रकार अब्रह्म भी पाप है। एक बार के अब्रह्म–सेवन से ९ करोड़ जीवों की हिंसा होती है। इतना जानते हुये भी आप अज्ञानी बन जाते हो। पाँचों पाप आप अच्छी तरह जानते हो, तो पाप का बंध आपने अज्ञानता में किया है कि जानकर किया है ? अतः उमास्वामी महाराज से पूछ लेना कि कैसा कर्म–आस्रव होगा।

तीव्र–मन्द–ज्ञाताऽज्ञात–भावऽधिकरण–वीर्य विशेषेभ्यस्तद्विशेषः॥ तत्त्वार्थ सूत्र॥६/६॥

तीव्र, मंद, ज्ञात, अज्ञात भाव से बंध किया उसी प्रकार का तीव्र या मंद आस्रव होगा।

भो ज्ञानी ! आप जानते रहे हैं कि मैं गलत करने जा रहा हूँ, अशुभ समझ रहा हूँ, फिर भी पाप–आस्रव कर रहे हो और कहते हो कि, हे प्रभु ! मेरे पापों का क्षय हो जाये। जिनदेव कहते हैं कि पापकर्मों का क्षय करो, पापक्रियाओं का समापन करो, तब पाप का क्षय होगा। संयम में दो काम होते हैं– अशुभ की निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति अर्थात् पूर्व में रखे अशुभ कर्मों

की निर्जरा और वर्तमान में आने–वाले कर्मों का संवर। अतः जिस साधना में संवर नहीं है, वह साधना मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है, मुक्तिरानी मिलने वाली नहीं है। संवर अर्थात् आते हुए कर्मों को रोक देना और कर्मों की सेना को वहीं थाम देना।

भो ज्ञानी ! मन, वचन, काय ये तीन गुप्तियाँ हैं। इंद्रियों के समाचार देने वाला, विषयों की सेना से संकेत कराने वाला, घर का भेदी यह मन है तथा कषायों को जाज्वल्यमान कराने वाला भी मन ही है। यहाँ जो तेरा मन बाहुबलि है, उस मन पर विजय प्राप्त नहीं की, तो आप ध्यान रखो–पूरी दिग्विजय करके आ जाना, फिर भी अधूरे हो। भोजन छोड़ देना, शरीर सुखा देना, घर छोड़ देना, परिवार छोड़ देना, मगर जब तक मन को नहीं छोड़ा तो कुछ भी नहीं छोड़ा। मन को छोड़ना पड़ेगा तथा मन की छोड़ना पड़ेगी। ध्यान रखो, आस्रव की सेना बहुत प्रचंड है, अनुशासनहीन है। जो क्रूर पापी होते हैं, उनमें अनुशासन नहीं होता, वे तो घुसपैठ ही करते हैं। देखना, आप सामायिक करने बैठते हैं बिल्कुल शांत होकर, पर धीरे से प्रवेश कर जाता है आस्रव, कि दुकान की चाबी तो मेरी जेब में है। यह कौन प्रवेश कर गया ? इतनी अनुशासनहीन है आस्रव की सेना। आपको न तो सोते छोड़ती है न जागते और तुझे भगवान् के चरणों में भी नहीं छोड़ती है यह आस्रव की सेना।

भो चेतन ! यही बंध की अवस्था है। जैसे ही आप मिले और उसने फैलाया अपना जाल एवं कर्म से बाँध लिया। शत्रु तो छिद्र ही देखता है। जैसे ही छिद्र मिला कि पानी ने प्रवेश किया। इंद्रियाँ जरा भी शिथिल होती हैं कि मन जैसे ही उड़ा और विशाल रूप धारण कर लिया। जब पिटता है, तो पता चलता है कि यह क्या हो गया। अतः, मन को वश में करो। वचन भी छोटे–मोटे नहीं हैं। विश्व में जितने बड़े–बड़े युद्ध हुए, उनका कारण वाणी–असंयम था। अतः, जितना प्राणी–संयम का पालन करते हैं, उससे कई गुना वाणी–संयम का पालन जरूरी है। जिन–शासन कहता है कि व्यक्ति की पहिचान वर्ण से मत करो, वाणी से करो। अज्ञानी वर्ण को देखता है, जबकि ज्ञानी वाणी को देखता है। वर्ण तो भगवान् नेमिनाथ स्वामी, भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी का कैसा था? अरे तुम शरीर को देखकर मुमुक्षु की खोज मत करना। **अहो ! शरीर के काले का तो मोक्ष हो सकता है, पर मन के कलूटे का कभी मोक्ष नहीं होता। जो शरीर से गोरा हो और मन से काला हो, उसको तो परमेश्वर भी नहीं सुधार सकते।**

भो ज्ञानी ! जयसेन स्वामी ने 'पंचास्तिकाय' की टीका में इसका बड़ा सुन्दर समाधान किया है कि धर्म से दुःख नहीं है। धर्म से दुःख होने लग गया तो क्या सुख कर्म से मिलेगा? महाराजश्री ! देखा तो यही जाता है कि जो बड़ा दुष्कर्मी है, उनकी पूजा हो रही है, मालाएँ पड़ रही हैं और जय-जयकार हो रही है, समाज भी सबसे आगे उसी को रखती है। भो ज्ञानी ! यह पूर्व में किये गये सद्कर्मों का प्रभाव झलक रहा है, ये दुष्कर्म का प्रभाव नहीं है। इसने पूर्व में ऐसा सुकृत किया था जो कि आज उदय में सामने दिख रहा है। उसको तीव्र पुण्य का उदय चल रहा है, इसलिये पाप अभी दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। दूसरी तरफ आप पूजा करते दुःखी नजर आ रहे हो, तो आप पूजा के फल से दुःखी नहीं हो, आपने पूर्व में ऐसे दुष्कर्म का बंध किया था कि आज तुम्हारी पूजा उतनी प्रतिफलित नहीं हो रही है। पर यह पूजा तुम्हारी नियम से फलीभूत होगी।

भो ज्ञानी ! यदि आप विभूति को सर्वस्व मान रहे हो तो भेदविज्ञान क्या है ? आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में इस बात को स्पष्ट करते हुए कहा है कि राजा की सेवा वही करता है जिसको कुछ चाहिये। जिसके रागद्वेष की निवृत्ति हो चुकी है, उसको क्या राजा और क्या रंक ? किसी से भी मतलब नहीं है। **जो विभूति के लिये तंत्र-मंत्र के पीछे दौड़ रहे हैं, उन्हें न तो अपने पुण्य पर विश्वास है और न जिनवाणी पर । चमत्कार में लुट रहे हो, पर आत्म-चमत्कार को खो रहे हो। यदि संसार के देवी-देवता कुछ देते होते, तो वे स्वयं अपनी आयु को क्यों नहीं बढ़ा लेते ? ध्यान रखना, अज्ञानी चमत्कारों में घूमता है, ज्ञानी चैतन्य-चमत्कार में रमण करता है। जिससे शांति मिले, सुख मिले, वही तो विभूति है।** जिससे अशांति मिले, वह विभूति किस काम की ? आचार्य समन्तभद्र स्वामी कहते हैं -

यदि पाप निरोधोऽन्य सम्पदा किं प्रयोजनम् ।
अथ पापास्रवोऽस्त्यन्य सम्पदा किं प्रयोजनम् ॥ र.क.श्रा.॥२७॥

यदि पाप का निरोध हो गया है, तो सम्पदा का क्या प्रयोजन है और पापास्रव जारी है तो सम्पदा से क्या प्रयोजन है ? इसी तरह कहा गया है कि-

''पूत सपूत तो क्या धन संचय, पूत कपूत तो क्या धन संचय ?''

अर्थात् बेटा सुपुत्र है तो धन जोड़ने से क्या फायदा, वह स्वतः कमा लेगा और यदि बेटा कुपुत्र है तो धन जोड़ने से क्या फायदा, वह सब धन बर्बाद कर देगा।

भो ज्ञानी आत्माओ ! भेदविज्ञान कहता है कि अपने अंदर झाँककर देखो, वाणीसंयम पर दृष्टिपात करो। ऐसे वचन मत बोलो जिससे किसी के मर्म पर ठेस पहुँचे। क्योंकि गोली का घाव भर सकता है, किंतु बोली का घाव बहुत गहरा होता है। इसलिए वाणी वीणा का काम करे, प्रेम की भाषा का उपयोग करो। प्रेम में आस्था होती है, श्रद्धान होता है। मुमुक्षु जीव किसी को सिर पकड़कर जबरन नहीं झुकाता, वह प्रेमभरी वाणी द्वारा प्राणी के हृदय में परिवर्तन करता है। जिनवाणी कहती है कि हृदय में परिवर्तन करना है तो हृदय की भूमि पर तुम प्रेम के नीर को बहा दो, परन्तु किसी के ऊपर पत्थर बनकर मत बरसो। प्रिय वाक्य सुनने से हर व्यक्ति पिघल जाता है, संतुष्ट हो जाता है। अरे भाई ! किसी से झगड़ो तो भी प्रेम की भाषा में बोलो। जोधपुर (राजस्थान) में जो लोग हैं, झगड़ते हैं तो वे कहते हैं– 'मेरी चरणपादुका आपके सिर–माथे विराजे'। कितनी सुंदर भाषा में कितनी मधुर गाली दे डाली। परंतु यदि भेद–विज्ञान की दृष्टि है, तो उदासीनवृत्ति होना जरूरी है। उदासीन का अर्थ है संसार के भोगों से विरक्ति होना।

आचार्य देवसेन स्वामी इस गाथा में कह रहे है कि हंसदृष्टि बनो। हंस दूध में से नीर को छोड़ देता है और दूध को पी लेता है। बस, मुमुक्षु भी वही होता है जो संसार की असारता को छोड़ देता है और सार (रत्नत्रय धर्म) को ग्रहण कर लेता है। इसके लिए श्रेष्ठ ध्यान करना जरूरी होता है। जीव अन्य है, पुद्‌गल अन्य है, यही तत्त्व का सार है, शेष इसका विस्तार है। यदि ऐसा भेदविज्ञान हो गया तो भगवान् बनने में देर नहीं लगेगी। देर तो पाषाण को तराशने में लगती है। भगवान् के संस्कार करने में इतनी देर नहीं लगती। सूरिमंत्र तो एक मिनिट में हो जाता है, लेकिन प्रतिमा को कैसा बनाया जाता है वह शिल्पकार से पहले पूछना, आचार्य से बाद में पूछना।

भो ज्ञानी आत्माओ ! अब हमें स्वयं शिल्पकार बनना होगा, स्वयं आचार्य बनना होगा, तभी भगवती आत्मा को प्राप्त कर सकोगे।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय ।।

१ १ १

स्व आत्मा ही ग्रहण करने योग्य

झाणेण कुणउ भेयं पुग्गल–जीवाण तह य कम्माणं ।
घेत्तव्यो णिय अप्पा सिद्धसरूवो परो बंभो ॥२५॥

अर्थ: ध्यान से पुद्गल और जीव का और उसी प्रकार कर्म और जीव का भेद करना चाहिए। तत्पश्चात् सिद्ध–स्वरूप, परम ब्रह्मरूप अपना आत्मा ग्रहण करना चाहिए।

प्रवचन

मनीषियो !

हमें जानना मात्र नहीं है, जानने के साथ–साथ जाना भी है। **सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र मोक्ष का मार्ग है,** यह जानने मात्र से मोक्ष नहीं होगा, जाने से मोक्ष होगा। जानना तो अनंत भवों से है और अनंतों को जाना है, परन्तु जहाँ जाना है वहाँ एक बार भी नहीं गये और जिसे जानना है उस एक को नहीं जाना। एक को जान लिया होता और एक बार चले गये होते, तो पंचमकाल की इन काली–कलूटी आत्माओं के बीच में बैठना नहीं पड़ता। इसलिये, यदि विश्वज्ञाता–विश्वदृष्टा बनना है तो विश्व के अज्ञाता बनना पड़ेगा। वे ही विश्व के ज्ञाता बन सकते हैं, जो विश्व के अज्ञाता होते हैं तथा वे ही विश्व के दृष्टा बनते हैं जो विश्व के अदृष्टा होते हैं। जिसने विश्व को जानना–देखना बंद कर दिया, वही विश्वज्ञाता, विश्वदृष्टा बन गया। जितने योगी हुये, मनीषी हुये, तत्त्वज्ञ हुये हैं, वे विश्व को जानना नहीं चाहते थे, इसलिये विश्वज्ञाता, विश्वदृष्टा बन गये।

भो चेतन ! 'पर' का परिचय स्वयं से अपरिचय करा देता है। जब तक दुनियाँ से परिचय रहेगा, तब तक स्वयं से अपरिचय रहेगा। स्वयं का परिचय चाहते हो तो दुनियाँ से अपरिचित बनकर जीना पड़ेगा। मुमुक्षु जीव परिचय नहीं कराता, उनका परिचय तो हो जाता है। सुमन कभी नहीं कहता कि मैं यहाँ खिला हूँ। सुगन्ध है, तो भ्रमर स्वयमेव आ जाते हैं। इसी प्रकार योगी के अंतस् में ज्ञान–वैराग्य की अखण्ड ज्योति जाज्वल्यमान है एवं जिस दिन केवलज्ञान प्रकट हो जायेगा, उस दिन मनुष्यों की क्या कहें, देव भी जाकरके चरणों में लोट जायेंगे।

यही कारण है कि जिनशासन में गुणहीनों की वंदना नहीं है। **'वन्दे तद्गुण लब्धये'**। यहाँ गुणों की वंदना है, गुणों की पूजा है। वे गुण गुणी के बिना होते ही नहीं हैं। **न धर्मो धार्मिकैर्विना** अर्थात् धर्म कभी धर्मात्मा के बिना नहीं होता। जिसने धर्मात्मा की अवहेलना की, उसने धर्म की अवहेलना की है। जिसने धर्मात्मा का विनाश किया, उसने अपने धर्म का विनाश किया है। इसलिए धर्म को समझने के लिए धर्मात्मा आवश्यक है। जबकि आत्मा का धर्म आत्मा में ही है, लेकिन उस आत्मा के धर्म को समझने के लिए भेदविज्ञान की दृष्टि प्रवेश करानी होगी। भेदविज्ञान शरीरधारियों के ही होता है। भो ज्ञानी ! शरीर का नाश करके भेदविज्ञान मत करना, शरीर में प्रवेश करके भेदविज्ञान करना। ज्ञान का श्रद्धा में प्रवेश कर जाना ही भेदविज्ञान है।

परोपकारमुत्सृज्य, स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन्परस्याज्ञः दृश्यमानस्य लोकवत् ।। इष्टोपदेश ।।३२।।

भो चेतन ! आचार्यश्री बार–बार कह रहे हैं– आप दुःखी क्यों हो ? क्योंकि आप कर्म–निरपेक्ष दृष्टि से देख कर दूसरे के कर्ता स्वयं बने बैठे हो और कहते हो कि मैं दुःखी हूँ। इसका कारण है कि आप भेदविज्ञान की बातें तो बहुत करते हो, पर वास्तव में भेदविज्ञान का स्वरूप नहीं जानते।

एक माँ महाराजश्री के पास फूट–फूट कर रो रही है, बिलख रही है कि कैसे भी आप मेरे बेटे को सुधरवा दो, वह न तो मेरी बात मानता है, न कुछ भी करता है। दूसरी ओर एक पिता भी रो रहा है, कह रहा है कि मैं अपने बेटे को करोड़पति बना देता, बहुत पुरुषार्थ किया मैंने, स्वयं कमा–कमा कर दिया है, लेकिन सब राख हो गया। भो ज्ञानी ! सोचो, कौन रो रहा है ? यह मोह नहीं रो रहा, आत्मा ही रो रही है, पर रुलाने वाला मोह है। इसलिये मोह रोता नहीं, रुलाता है; मोह भटकता नहीं, भटकाता है। भटकती–आत्मा में पंचपरावर्तन पौद्गलिक तो हो सकते हैं, परंतु इनका भोक्ता पुद्गल नहीं है, आत्मा है। अशुद्ध निश्चयनय से आत्मा रो रही है, व्यवहारनय से मोह रो रहा है, क्योंकि उपचरित–असद्भूत–व्यवहारनय कभी जड़ को चेतन कह देता है तथा कभी चेतन को जड़ कह देता है। भो चेतन ! एक जीव कहता है कि बेटा मेरी बात नहीं मानता है। अरे ! आप उससे मनवाना क्यों चाहते हो ? यदि उस जीव का ऐसे कर्म का बंध हो चुका है कि जिसकी भवितव्यता बिगड़ चुकी है, उसे आप

क्या सुधारोगे ? मुमुक्षु जीव यह सोचता है कि मैं इसके पीछे अपने परिणामों का विघात क्यों करूँ, इसका तो ऐसा होना ही है, अब मैं अपने परिणामों को विकृत क्यों करूँ? **ज्ञानी किसी को सुधारता नहीं है, समझाता है। सुधार तो उसकी निज की उपादान की योग्यता से ही होगा।**

भो चेतन ! यदि कोई अवधिज्ञानी वीतरागी मुनि मिल जायें तो उनके चरणों में जाकर निवेदन करना– हे प्रभु ! पुत्र ऐसा क्यों कर रहा है ? तो वह कह देंगे कि ऐसा इसलिये हो रहा है कि जब धर्मोपदेश चल रहा था, जिनवाणी चल रही थी, तब इसने शोरगुल करके विघ्न पैदा किया था। उस समय इसने तीव्र लाभांतराय कर्म का बंध किया था, अब उस कर्म का विपाक उदय में आ गया, तब कितना ही कमाएगा, पर कुछ हाथ में नहीं आयेगा। रोने से क्या फायदा। अतः **भक्ति तो करना, पर विवेक के साथ करना ताकि अन्य श्रावकों को अन्तराय नहीं पड़े।** हम कभी–कभी भक्ति करते समय विवेक खो देते हैं– कि हमने तो नियम लिया है कि भगवान् की वेदी के सामने खड़े होकर ही जाप करेंगे, लेकिन उसके बाद आपने सोचा कि कितने लोग मन मसोस करके आपकी पीठ की ही वंदना कर चले जाते हैं, काश ! मैं भगवान् के चेहरे को देख लेता। यहाँ आपने दर्शनावरणी कर्म का बंध कर लिया। जिनवाणी में लिखा है कि एक व्यक्ति पाठ कर रहा है और आपने इतनी जोर से आवाज कर दी कि पाठी की आवाज दब गई, वह असमाधि का कारण है।

माँ सोच रही कि मेरे बेटे को ज्ञान नहीं हो रहा। हे माँ ! तू क्यों सोच रही है? तू विद्या–अध्ययन के साधन तो जुटा सकती है, लेकिन विद्वान नहीं बना सकती। अहंकार को भूल जाना, आप कालेज तो खुलवा सकते हो, अध्यापकों को खड़ा कर सकते हो, परन्तु किसी के अंदर आप विद्या को प्रवेश नहीं दिला सकते। ये जिनशास्त्र, जिनवाणी भी निमित्त बन सकती है, पर प्रज्ञा तो स्वयं की ही काम करेगी। उपादान की योग्यता वाले को ही निमित्त कार्यकारी हो सकता है। जिसके पास उपादान ही नहीं है, तब निमित्त को दोष क्यों देते हो ? अतः परिवार के मोह में पड़कर अपनी आत्मा का बलिदान मत कर बैठना।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी करुणादृष्टि से कह रहे हैं कि, भोले प्राणियो ! तुम संसार में रक्षक के पीछे मत भटको। जब रक्षक का भी रक्षक नहीं है, तो तेरी रक्षा कौन करेगा ? जिस दिन तेरा सुकृत समाप्त हो जायेगा, उस दिन सिंहासन भी सूली का काम करेगा और

जब पुण्य था, तो सूली भी सिंहासन हो गई।

भो ज्ञानी ! स्वयं के कर्म पर विश्वास करो। जो कुछ हो रहा है, वह कर्मविपाक से हो रहा है। गुरु, मित्र, पिता, दादा के रिश्ते तेरे नहीं हैं, न कभी तुम्हारे होंगे और जो रिश्ता निज का निज से है, वह कभी छूटने वाला नहीं है ।

भो चेतन ! ध्यान से समझना, सम्यग्दृष्टि जीव को मृत्यु से भय नहीं होता। फिर आप दूसरे के रक्त को भी अपने शरीर में चढ़वा लेते हो। गम्भीर विषय है। उस रक्त में पंचेन्द्रिय सम्मूर्च्छन मनुष्य हैं तथा वह रक्त माँस का भाग है। अब सोचना कि क्या मैं हिंसक भी हूँ ? क्या माँस–भक्षण का त्यागी माँस को अपने शरीर में चढ़वा सकता है ? भगवान् महावीर स्वामी का तो एक ही सूत्र है – सल्लेखना स्वीकार कर लेना, पर किसी के माँस या रक्त को स्वीकार मत करना। भूख लगे तो समाधि कर लेना, लेकिन अभक्ष्य का सेवन मत करना। पापीजीवों के राग के वश होकर तुम तो पाप मत करो। यही है भेदविज्ञान।

भिलाई में घर के लोगों से छिपकर एक बालक मेरे पास आया, बोला– महाराज श्री ! मेरी माताजी ने अंडे तो चढ़वा ही दिए, लेकिन आज बकरे की बलि की बात हो रही है। माता को किसी ने बता दिया कि ऐसा कर लो तो तुम्हारे कष्ट दूर हो जायेंगे, धन मिल जायेगा। महाराजश्री ! जैसे बने मेरे परिवार की रक्षा कर लो। समाज के एक प्रमुख श्री कोमलचंद्र जी नाहर हैं भिलाई सेक्टर–६ में, हमने उनको बुलाकर कहा– भैया ! एक काम करो, इस बालक को भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के पास बिठाकर जाप करवा दो, थोड़ी शांति मिले, जिससे इसके साता का उदय हो जायेगा और यदि एक मुहूर्त तक तुमने परिणामों की रक्षा करा दी तो समझो कि आपने उसका बहुत बड़ा जीवन बदल दिया। बस, वह बालक भगवान् के चरणों में जाप करने बैठ गया, अतः बलि करने से बच गया। पश्चात् उसने माता–पिता के पास जाकर उन्हें डाँटा, क्योंकि शक्ति मिल गई थी उसको। कहने लगा कि मैं तुम्हारा घर छोड़ सकता हूँ, लेकिन कुकृत्यों में सहगामी नहीं हो सकता।

भो चेतन ! घोर मिथ्यात्व से बचाने के लिये णमोकार मंत्र और भगवान् पार्श्वनाथ की जाप बता देना और घर से भटके हुये जीव को बचा लेना। जब घर में आ जाए, फिर समझाना– भैया ! निःकांक्षित भाव से जाप करो, आगम की विधि को समझो, असाता के उदय से तुम मिथ्यात्व में जा रहे हो, तुम भगवान् की भक्ति करो। आप जानते हैं कि बच्चे को

सर्वप्रथम बताशे में गोली खिलाई जाती है, जब समझदार हो जाता है तो फिर सीधे गोली खिलाई जाती है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के बच्चे बने बैठे हैं, सम्यक्त्व जिनके पास है ही नहीं, उनको कैसे तुम लाओगे पास में ? उनको बताशे में गोली खिला दो। प्रथमानुयोग कहता है कि बताशे में सिद्धान्त और अध्यात्म मिलाकर तुम पिला दो। लेकिन पिला तभी सकते हो, जब वह पीना चाहे। ऐसे ही जिनदेव, जिनगुरु आपके कान तक तो वाणी पहुँचा सकते हैं, पर अंतःकरण में तो तुझे ही पीना पड़ेगी। इसलिए परिवार के राग के पीछे तुम मिथ्यात्व का पोषण मत करना, वह तुम्हारे निजभाव नहीं हैं। ये चर्म के संबंध हैं, धर्म के नहीं हैं।

भो ज्ञानी ! निश्चयनय से निज शुद्धात्मा ही मेरी शरण है और व्यवहारनय से पंचपरमेष्ठी। तीसरा कोई मेरी आत्मा का शरण नहीं है। **जो शरीर के पीछे आत्मा को भूल जाए, उससे बड़ा अज्ञानी संसार में कोई नहीं ।** रक्त और जैविक द्रव्यों की औषधि को सेवन करने वाला जीव मुमुक्षु हो, ऐसा वीतरागी भगवान् कभी नहीं कह सकते। रत्नकरण्ड श्रावकाचार में आचार्य समंतभद्र स्वामी कहते हैं– **''सम्यग्दर्शनशुद्धा संसार शरीर–भोगनिर्विण्णः''**, सम्यग्दृष्टि जीव वह होता है जो संसार, विरक्त शरीर, भोग से है। अतः हमें प्रतिज्ञा करना है कि, प्रभु ! मरण स्वीकार है, परन्तु किसी के कलेवर को ग्रहण करना स्वीकार नहीं है ।

भो चेतन ! यदि परमसिद्धस्वरूप को प्राप्त करना चाहता है तो आचार्य देवसेन स्वामी की बात को स्वीकार कर लेना। प्राण चले जाएँ, पर प्रण मत तोड़ देना। प्राण महत्त्वशाली नहीं है, प्रण महत्त्वशाली है। विश्व में बिरले जीव मिलेंगे जो आत्मा को परमात्मा बनाने का पुरुषार्थ कर रहे हों। लाखों–करोड़ों में अंगुलियों पर गिनने लायक मिलेंगे।

हमें सोचना है कि हम डूबे कहाँ हैं ? अतः ध्यान के माध्यम से पुद्गल और जीव का भेद–ज्ञान करो, तब तुम सिद्धस्वरूप परमब्रह्म को प्राप्त कर सकोगे।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

निज ब्रह्म को पहचान

मलरहिओ णाणमओ, णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो, परमो बंभो मुणेयव्वो ॥२६॥

अर्थ : जैसा कर्म–मल से रहित, ज्ञानमय सिद्धात्मा सिद्धलोक में निवास करता है, वैसा ही परम ब्रह्मस्वरूप अपना आत्मा देह में स्थित जानना चाहिए।

प्रवचन

भो हंसात्माओ !

अंतिम तीर्थेश वीर जिनेन्द्र के शासन में हम सभी विराजते हैं। वीर जिनेन्द्र की पावन पीयूष वाणी जन–जन की कल्याणी है। भव्य जीवों के भव का विनाश भगवत् अर्हत् परमेश्वर के प्रवचन से ही सम्भव है। अतः अपनी भव्यता को पहिचानना है तो भक्तिपूर्वक श्रुत का पान करना चाहिए। बिना श्रुताभ्यास के परिणामों में विशुद्धता का उद्‌भव नहीं होता। मनीषियो ! पंचमकाल में विशेष ध्यान–साधना नहीं है। इसका तात्पर्य ध्यान का अभाव नहीं है, परन्तु अल्प रूप से होता है, वह भी धर्म्य–ध्यान ही होता है। साक्षात् कर्मक्षय का हेतुभूत शुक्ल–ध्यान वर्तमान काल में नहीं होता। धर्म्यध्यान भी श्रुताभ्यास के माध्यम से ही घटित होता है। कारण समझना चाहिए– कि मन अति चंचल है, उसे वश में करने के लिए आगमज्ञान और वैराग्य की रस्सी का होना अनिवार्य है, जो कि शास्त्राभ्यास से सहज ही प्राप्त हो जाती है। अतः मुमुक्षु जीवों को अशुभवृत्ति से आत्मरक्षा हेतु आगम–ग्रंथों का पठन–पाठन सतत् करते रहना चाहिए।

भो चेतन ! आचार्य देवसेन स्वामी श्रुत के माध्यम से समझा रहे हैं। निज–ब्रह्म को न समझने के कारण तू संसार में आवर्तन कर रहा है, क्योंकि लोक में अज्ञ प्राणियों ने बाह्य ब्रह्म की कल्पना कर निज की वञ्चना की है। कोई शब्द को ही ब्रह्म मानकर उसी की आराधना करने लगे, उससे मोक्ष की कल्पना कर विशाल जनसमूह को भ्रमजाल में डाल दिया। जो शब्द आत्मब्रह्म में ले जाए, वे भी उपचार से भाषा–ब्रह्मरूप कहे गये हैं। अमृतचंद्र स्वामी ने

'शब्दब्रह्म' शब्द का उपयोग किया है। परन्तु शब्द को सत्यार्थ–ब्रह्म नहीं कहा जा सकता, वह तो जड़ पुद्गल की पर्याय है और जो ब्रह्म है, वह चैतन्य–धर्म है। बिना चैतन्य के ब्रह्म कहाँ ? अतः यथार्थ में कर्मातीत शुद्धात्मा ही परमब्रह्म है। वह ब्रह्म दो प्रकार का है– कारण ब्रह्म और कार्य ब्रह्म। इसे ही कारण–कार्य समयसार समझना चाहिए। भेदाभेद रत्नत्रय से परिणत आत्मा कारण–समयसार है और रत्नत्रय का फल कर्मरहित शुद्ध सिद्ध अवस्था कार्य–समयसार है। वही परमब्रह्म है, जो कि द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म रहित, सम्यक्त्वादि अष्टगुण युक्त है। जैसे सिद्धालय में सिद्धपरमेश्वर विराजते हैं, वैसा अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से निज देह में परमब्रह्मस्वरूप सिद्धपरमात्मा विराजमान है। मनीषियो ! उस निज ब्रह्म का ही ध्यान करो।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

चिद्रूप निरालम्ब

णोकम्म–कम्मरहिओ, केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो।
सो हं सिद्धो सुद्धो, णिच्चो एक्को णिरालंबो ॥२७॥

अर्थ : जो सिद्धजीव नो–कर्म और कर्म–मल से रहित हैं, केवलज्ञानादि अनंत गुणों से समृद्ध हैं, वही मैं सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, नित्य हूँ, एक–स्वरूप हूँ और निरालम्ब हूँ।

सिद्धोहं सुद्धोहं अणंतणाणाइसमिद्धो हं।
देहपमाणो णिच्चो असंखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

अर्थ : मैं सिद्ध हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं अनंतज्ञानादि से समृद्ध हूँ, मैं शरीरप्रमाण हूँ, मैं नित्य हूँ, मैं असंख्य–प्रदेशी हूँ और मैं अमूर्त्त हूँ।

प्रवचन

मनीषियो !

तीर्थंकर भगवान् की देशना को जन–जन तक पहुँचाने के लिये आचार्य देवसेन स्वामी ने इस अमृत–वाणी को विशेष रूप प्रदान किया है। वास्तव में करुणा करुण–वाणी का विषय नहीं है, करुणा शरीर का विषय नहीं है, करुणा अन्दर का विषय है। करुणा की परिभाषा दया नहीं है। दया करुणा की क्रिया है और करुणा अन्दर की आवाज है।

आचार्य देवसेन स्वामी ने मुमुक्षु जीवों पर करुणा करते हुये संकेत दिया है– ब्रह्मस्वरूप आत्मन् ! शब्दब्रह्म शांति नहीं है, आत्मब्रह्म शांति है। शब्दब्रह्म कषाय का भी कारण हो सकता है कि मेरा शब्द कितना सुन्दर है, मेरी वाणी कितनी सुन्दर है। अतः वाणी में नहीं बहना है, उस वाणी में क्या है, उस पर दृष्टि रखना है। क्योंकि महावीर का राग गौतम स्वामी को कैवल्य–प्राप्ति में बाधक बना।

भो चेतन ! परमब्रह्म को समझने के पूर्व अब्रह्म को समझो। किसको छोड़ूँ, किसको ग्रहण करूँ, यह सोचना भी अब्रह्म है। हमें कर्म–कलंक से रहित होना है। जले हुए दीपक के पास जाकर बुझा दीपक झुककर स्तुति करता है, तो वह भी जल जाता है। ऐसे ही वीतरागी के

चरणों में बैठोगे, उनके चरणों में विश्वास करोगे, तो तेरा ज्योतिदीप भी जल जाएगा। यदि आप पूर्व से ही जले हो, तो ज्योति को बढ़ा लो और यदि बुझे हो, तो जल जाओ, परन्तु बुझ मत जाना।

भो ज्ञानी ! लालटेन को बुझाने में एकमात्र कारण वायु का झोंका है। परन्तु अंतरंग की ज्योति को बुझाने वाले झोंके अनंत प्रकार के हैं। इसलिए जब तक आपके जीवन में श्रद्धा–काँच नहीं रखा जाएगा, तब तक तेरे अंतरंग का वह दीप जाज्वल्यमान हो नहीं सकेगा। क्योंकि बुझाने वाले बहुत हैं, जलाने वाले कम हैं। इसलिए प्रभु से प्रार्थना करते रहना कि, हे जिनदेव ! यह संयोग–संवित्ति मिले तो ऐसी मिले, कि मेरी ज्योति वृद्धि को प्राप्त होती रहे। जो ज्योति को बुझा दे, ऐसी संवित्ति से दूर भाग जाना। अपनी ज्योति को सुरक्षित रखना। ध्यान रखना, अंधकार में यही ज्योति काम आयेगी। अखण्ड ज्योति मेरे में नहीं है, यही तो अज्ञानता है। मेरी ज्योति है कहाँ ? तू शरीर पर हाथ रखता है एवं पुद्गल में अखण्ड ज्योति को देखता है।

भो ज्ञानी ! आप शरीर को लेकर क्यों डरते हो ? इस शरीर को भी मत कहो कि ज्योति मेरे में है। भो मुमुक्षु आत्माओ ! चिंतन करके बताओ कि क्या ज्योति दीपक में है या ज्योति ही दीपक है ? ज्योति के बिना दीपक नहीं है, दीपक–बिना ज्योति नहीं है। अतएव, आत्मा ही दीपक है, आत्मा ही ज्योति है। इसलिए आत्मा स्वयं ज्ञाता है, स्वयं ज्ञेय है और स्वयं ज्ञानी है। यही परमब्रह्म है।

तत्त्वसार की यह गाथा कह रही है कि जैसे सिद्धपरमेश्वर सिद्धालय में विराजमान हैं, वैसे ही सिद्धपरमेश्वर सिद्धभूमि में विराजमान हैं। भो ज्ञानी आत्माओ ! सिद्धभूमि में बैठकर कभी दुराचार मत करना। जहाँ सिद्धप्रभु विराजे हों, वहाँ छल मत करना, कपट नहीं करना, मायाचारी नहीं करना। कभी–कभी जीव को दुःख भी होता है कि सबकुछ जानता हूँ, फिर भी मन में गलत क्यों होता है ? अज्ञानी भी अज्ञान को अज्ञान जानता है, इसलिये जानकार को जिनवाणी में ज्ञानी नहीं कहा। क्योंकि बारहवें गुणस्थान वाले मुनिराज को भी अज्ञानी कहा है। सिर्फ ध्यानी को ज्ञानी कहा है, न कि जानने वाले को ज्ञानी कहा है। इसलिए सम्यग्दृष्टि ही ज्ञानी है और मिथ्यादृष्टि बहुत शास्त्रों का जानकार होकर भी अज्ञानी ही है।

भो मनीषी ! जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि सम्यग्दृष्टि जो जानता है, वही ज्ञान है, वही सत्य

है, बाकी कुछ सत्य नहीं है। श्रद्धानी तो निर्वाण को प्राप्त कर लेगा, पर ज्ञानी श्रद्धा के अभाव में तर्क–वितर्क करते–करते नरक को चला जाएगा। यह वीतरागवाणी स्वतंत्र बनाती है, स्वच्छंद नहीं बनाती। कर्मों से स्वतंत्र बनाती है, न कि देह से स्वच्छंद बनाती है। मैं तो अभोक्ता हूँ, तो भोग कौन रहा है? आचार्य कुंदकुंद जैसे जीव को तुम छल रहे हो। तूने निज को छला है। तू कहता है कि राग छोड़ो, द्वेष छोड़ो, आलू छोड़ने में क्या रखा है ? पर यह तो बताओ कि राग के अभाव में आलू खाया किसने ? यदि राग–द्वेष छूट ही गया होता, तो खाने कौन बैठता ? जो देख रहा है, वह खाता ही नहीं और जो खाता है, वह रागी है। इसलिए तूने राग को नहीं छोड़ा, तू तो मात्र शब्दों को रटकर बैठा है।

आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि ज्ञानी तो बहुत हैं, परंतु ज्ञायक–ज्ञानी नहीं हैं। भो ज्ञानी ! ज्ञायक बन जाओ। बंधो मत, छोड़ो मत, छूट जाओ ; क्योंकि बंधन में आपको कष्ट होता है, छोड़ने में आपको दुःख होता है। अतः न छोड़ो, न बंधो, छूट जाओ, इससे आपको खुशी होगी। भोगों से ऐसे ही हाथ छुड़ा लेना। बंधन तेरा स्वभाव नहीं है। एक दिन मुनि बनकर देख लो। पर ध्यान रखना, बने तो बने, फिर मिटा नहीं जाता। इसलिए यदि तू परमात्मा–पद प्राप्त करना चाहता है तो आनंद–भोग छोड़ दे, परमात्मा मिल जाएगा। एकसाथ दोनों की संवित्ति नहीं है। भोग–आनंद में परमानंद कहाँ ? मैं शरीर आदि नोकर्म तथा ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मों से रहित हूँ। निश्चय से मैं नित्य हूँ, मेरा कभी नाश नहीं होगा। देह के संबंधों ने मुझे भटकाया है, पर मैं तो देही के रूप हूँ। एक ही रहूँगा, एक ही था। जो कुछ भोगूँगा, मैं अकेले ही भोगूँगा, अकेले ही भोगा था।

भो ज्ञानी ! यदि दीक्षा के भाव बनें, तो कह देना माता–पिता से कि हे तात् ! जिसके तुम जनक बने हो, वह मैं नहीं हूँ। मैं तो अजन्मा हूँ। आपके द्वारा प्रदत्त इस पुद्गल से मैं अपनी आत्मा का कल्याण करना चाहता हूँ। आप स्वीकृति दे दीजिये। परन्तु मैं अपनी स्वतंत्रता की स्वीकृति नहीं माँग रहा हूँ, मैं तो स्वतंत्र ही हूँ।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति

थक्के मणसंकप्पे रुद्धे अक्खाण विसयवावारे ।
पयडइ बंभसरूवं अप्पा झाणेण जोईणं ॥२९॥

अर्थ: मन के संकल्पों के बन्द हो जाने पर और इन्द्रियों के विषय–व्यापार के रुक जाने पर योगियों के, ध्यान के द्वारा, ब्रह्मस्वरूप आत्मा प्रकट होता है।

भो मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। जिसमें आचार्य भगवन्तों ने अनेक प्रेरणात्मक सूत्र हमें प्रदान किये हैं, उसी क्रम में एक साधु जल में पड़े हुए बिच्छू को बार–बार बाहर निकाल रहा है और वह बिच्छू बार–बार डंक मार रहा है। आप परेशान क्यों हो रहे हो ? अहो ! साधु का उत्तर यही होगा कि, भाई ! एक तिर्यंच अपने धर्म को नहीं छोड़ रहा है, तो फिर मैं अपने धर्म को क्यों छोड़ दूँ ? बिच्छू का स्वभाव डंक मारना है और उसने डंक मार ही दिया है तो फिर मैं अपना स्वभाव क्यों छोडूँ, मैं तो रक्षा करूँगा ही। मेरा धर्म रक्षा करना है।

भो ज्ञानी ! कर्म डंक मार रहा है, चारों ओर से डंक मार रहा है। कभी काम सताता है, कभी क्रोध सताता है, कभी मान सताता है। व्यक्ति सोचता है कि अब शांति मिलेगी, तो मायाचारी सामने आ जाती है। इन सबके साथ–साथ कभी आधि सताती है तो कभी व्याधि, कभी मानसिक तनाव सताता है, फिर भी तुम सब संसार में सुख की कल्पना कर रहे हो। लेकिन दु:खी मत होना, इसका स्वभाव ही ऐसा है। दु:ख न होते तो संसार कहते किसे ? संसार न होता तो कर्म के विपाक को पूर्ण करने का मौका कब मिलता ?

भो ज्ञानी ! थोड़ा सँभलकर के समझना। कर्म तो संसार है। संसार में हो, इसलिए संसारी हो। संसार की वृद्धि न हो जाये, इसलिए हम परमेष्ठी की आराधना कर रहे हैं। संसार में ज्यादा न भटकना पड़े, इसलिए हम आराधना कर रहे हैं। यदि आप संसार में सुखी होने के लिए आराधना कर रहे हो, तो ध्यान रखो, आपसे बड़ा अज्ञानी संसार में मिलेगा नहीं।

संसार में होकर सुख की कल्पना करना व्यर्थ है। एक समय भी ऐसा नहीं है कि परिणमन रुक रहा हो, ज्ञान–दर्शन की अखण्ड धारा बह रही है। संसार में सुख नहीं, पर संसार में रहकर तू सुखी हो सकता है। शत्रु के घर में सुख नहीं, शत्रु के साथ सुख नहीं, पर शत्रु के बीच में भी सुखी रह सकता है। शर्त एक ही है कि आप शत्रु में शत्रुता मत देखना और जहाँ तुमको मित्र में भी शत्रु का भ्रम हो गया, तो उसी दिन तुम्हारा मित्र भी शत्रु बन जायेगा। संसार में कोई आज तक शत्रु हुआ ही नहीं। जितने शत्रु हैं, ये सब मित्र ही तो थे। जब मित्र इच्छापूर्ति नहीं कर पाता है तो उसका नाम शत्रु हो जाता है। जैसा आप चाहते थे वैसा बेटे ने किया नहीं, तो उसका नाम शत्रु रख दिया। लेकिन वास्तव में वह शत्रु था कब ? वह तो आपका पुत्र था।

भो ज्ञानी ! अपेक्षायें जितनी बढ़ती चली जायेंगी, उनकी नियम से उपेक्षा होती ही है। जब अपेक्षा की उपेक्षा हो जाती है, तो शत्रु का उद्‌भव हो जाता है। वज्रकर्ण ने प्रतिज्ञा की थी कि **मैं देव–शास्त्र–गुरु के अलावा किसी को नमस्कार नहीं करूँगा।** एक सेवक सिंहोदर राजा के कान में कहकर आ गया कि आपका सेवक वज्रकर्ण आपको नमस्कार नहीं करता है। वह तो अँगूठी में जड़े हुए भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमा को नमस्कार करता है। राजा ने एक समाचार भेज दिया कि वज्रकर्ण से बोल दीजिए कि आकर नमस्कार करें, अन्यथा मैंने जितना ऊँचा उठाया है उतना ही नीचा कर दूँगा। अज्ञानी बहिरात्मा को ऊँचा–नीचा ही तो दिखता है और अंतरात्मा को सब बराबर दिखता है। **दृढ़ प्रतिज्ञा को वह ही निभा सकता है जो निर्लोभी होगा। सम्मान का लोभी तो संसार का सबसे बड़ा लोभी कहा गया है। जीवन जीने का लोभ करने वाला विश्व का सबसे बड़ा लोभी कहलाता है।** जिसने बेचारे बकरे के हृदय को अपने में प्रत्यारोपण करा लिया और अपने जीवन के लोभ में बकरे को नष्ट करा कर स्वयं जी रहा है, बकरे का जीवन, जीवन नहीं था क्या ? कोई कहता है कि हमने तो दूसरे की किडनी लगवा ली, कोई कहता है कि हमने हृदय–प्रत्यारोपण करवा लिया। अरे ! जो दूसरे के शरीर से जी रहा है, वह क्या भगवान् बनेगा ? जिसके पास दया नहीं, करुणा नहीं, सम्यक् आचरण नहीं, वह क्या कल्याण करेगा ?

भो ज्ञानी ! मैं आज आपको बताये देता हूँ, जितने शौक आज हो गये हैं, वे सब शोक में परिवर्तित होंगे। देखो, सिंह जैसे क्रूर प्राणी ने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया, पर हम ऐसे नरसिंह हैं कि सम्यक्त्व को प्राप्त नहीं कर पा रहे हैं। वह सिंह तो बदल गया पर, हे नरसिंहो ! तुम अपने परिणाम बदल दो। ये परिणाम सम्यक्त्वरूपी चारित्रमृग का घात कर रहे हैं। वहाँ

तो मृग की पर्याय का घात था, यहाँ तो तू परिणामों का घात कर रहा है। वज्रकर्ण ने राजा सिंहोदर को खबर भिजवाई कि विभूति और राज्य–सम्पदा के स्वामी तो हैं राजा सिंहोदर, परंतु मेरे सम्यक्त्व और आत्मा के स्वामी नहीं हैं। उन्होंने मुझे विभूति से विभूषित किया है, वे अपनी विभूति ले जायें, लेकिन मैं अपने सम्यक्त्व को उनके लिए नहीं दे सकता।

भो ज्ञानी ! **शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव राग से, लोभ से, भय से भी कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु को नमस्कार नहीं करता।** इसलिए विभूति को मत देखो, वैभव को मत देखो, शौक मत देखो, जीवन का लोभ मत देखो। यदि भव के भटकाव को दूर कर परमब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हो तो चारित्र से भ्रष्ट होने पर भी पुनः अपने गुरु के चरणों में निवेदन कर, प्रायश्चित्त करके वह शुद्ध हो जायेगा, लेकिन सम्यक्त्व से भ्रष्ट हुआ व्यक्ति भ्रष्ट ही है। इसलिए अपनी श्रद्धा चलायमान न हो। श्रद्धा कोई बच्चों का खेल–तमाशा, घर–घूले नहीं है कि रेत में पैर दबाया और घर बना दिया और थोड़ी देर बाद मिटा दिया। जिस पैर से बना, उसी पैर से मिट गया। ऐसी श्रद्धा नहीं होना चाहिए। इसलिए जीवन में ध्यान रखना, यदि परमब्रह्म को प्राप्त करना चाहते हो तो अपने मन की चंचल वृत्ति को रोक कर रखना।

भो चेतन ! आचार्य देवसेन स्वामी भोगियों की नहीं, योगियों की चर्चा कर रहे हैं, परन्तु आप हीन भावना मत लाना, क्योंकि भोगी ही योगी बनेंगे, बीज ही वृक्ष होगा। पर बीज को सँभालकर रखना, घुन न लग जाये, इतना ध्यान रखना। अतः निर्द्वन्द्वी व्यक्ति ही योगी बन सकता है और जिसके अन्तर में द्वन्द्व छिपा हुआ है, वह योगी नहीं बन सकता। योगी बनने के लिए योगाभ्यास करने की आवश्यकता नहीं है, अपितु योगी के पास निवास की आवश्यकता है। क्योंकि यदि भोगी भोग का अभ्यास करेगा तो ध्यान रखना, उल्टा ही गिरेगा और भोगी यदि योगी के पास वास करेगा तो नियम से योगी बन जायेगा। अतः इस गाथा में आचार्य कह रहे हैं कि, हे योगी ! पहले तुम मन–वचन–काय को जोड़ो। जब मन, वचन, काय तेरा स्थिर हो जायेगा, तब निज से निज को जोड़ो, तब तुम योगी होगे। जब तक ध्यान नहीं है, तब तक योगी नहीं, साधु है। क्योंकि जो योग की साधना करे, सो साधु है और जो योग में लीन हो, उसका नाम योगी है। योगी जब निजात्मतत्त्व में लवलीन हो जाता है तो 'साधु' संज्ञा समाप्त हो कर 'योगी' की संज्ञा प्रारम्भ हो जाती है। इसीलिए ध्यानी को योगी कहा है।

भो चेतन ! मैं एक हूँ, निर्मम हूँ। निर्मल वह होगा जो निर्मम होगा। पहले ममत्व को धो,

फिर निर्मल बनो। यह आत्मज्ञानी योगीन्द्र के गोचर है, भोगियों के गोचर नहीं है। ये धारा भोग की नहीं, योग की है। बाह्य संयोगी–भाव तेरा स्वभाव नहीं है। सब संयोग लक्षण हैं, इसलिए योगीगम्य हैं। पर कौन–सा योगीगम्य ? जिसका मन थक चुका है। जो भोगों से थका होता है, कर्मों से थका होता है, वह योग में विश्राम की खोज करता है। जब मन का संकल्प थक जाता है, कर्मों से थक जाता है, वह योग में विश्राम की खोज करता है। इन्द्रियों का विषय–व्यापार रुक जाता है, तभी 'योगी' संज्ञा प्रारम्भ होती है। इसलिए आप सभी योगी बनो और योगी क्या, आप तो भगवान् बनो। लेकिन ध्यान रखना, विधिपूर्वक बनना, नहीं तो अनर्थ हो जायेगा। आचार्यों ने द्रव्यसंग्रह, परमात्मप्रकाश में श्रीखण्ड का उदाहरण दिया है। कैसे बनता है श्रीखण्ड? अकेले तो नहीं बना श्रीखण्ड। कपड़े में बाँधना पड़ेगा, उल्टा भी टाँगना पड़ेगा। भो ज्ञानी ! जब तक तू भोगों से उल्टा नहीं टँगेगा, तब तक तेरा श्रीखण्ड बन ही नहीं सकता है। इसलिए भोगों से उल्टे हो जाओ और फिर उसमें ज्ञान और वैराग्य का गुड़–शक्कर डाल दो। क्योंकि अकेला दही श्रीखण्ड नहीं होगा और दही के बिना भी श्रीखण्ड नहीं होगा। श्रीखण्ड खाओगे तब कहीं गर्मी शान्त होगी।

भो प्रज्ञ ! आत्मा का ध्यान करके, योगियों के द्वारा आत्मा ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त हो जाती है। इसलिए पुरुषार्थ तुम्हारा इस समय योगी बनने में होना चाहिए। परंतु योगी बनने के लिए, भो ज्ञानी ! श्रावक बनने की परम आवश्यकता है, क्योंकि संयमाचरण में पड़ गये और सम्यक्त्वाचरण प्रगट हुआ नहीं, तो संयमाचरण क्या करेगा ? आचरण को प्राप्त करो। आचार्य कुंदकुंददेव ने 'चारित्रपाहुड़' (अष्ट पाहुड़) में सम्यक्त्वाचरण का तात्पर्य समझाया है– **सम्यक्त्वाचरण अर्थात् समीचीन आचरण, अभक्ष्यों का त्याग, अष्ट मूलगुणों का पालन, पच्चीस दोषों से रहित सम्यक्त्व का पालन, आठ अंगों का पालन करना, यही सम्यक् आचरण है।**

भो चेतन ! कषायों से तो बन जाओ हल्के और गुणों से बन जाओ भारी, यदि ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त करना चाहते हो तो। साथ ही दर्शन–ज्ञान–चारित्र का आलम्बन लो, तो तेरी आत्मा परम शीतलता प्राप्त कर लेगी।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

मेघों में सूर्य

जह जह मणसंचारा, इंदियविसया वि उवसमं जंति।
तह तह पयडइ अप्पा, अप्पाणं जह णहे सूरो ॥३०॥

अर्थ: जैसे–जैसे मन का संचार और इंद्रियों के विषय भी उपशम या शांति को प्राप्त होते हैं, वैसे–वैसे अपना आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्रकट करता है, जैसे आकाश में सूर्य।

भव्य आत्माओ !

आचार्य देवसेन स्वामी ने इस गाथा में बहुत सुंदर कथन किया है कि जिसके मन का संकल्प थक चुका है, विषयों का व्यापार निरुद्ध हो चुका है, वह जीव ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जब तक इंद्रियों के विषय नहीं रुके, तब तक ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति बहुत दूर है। चित्त की चंचलता आत्मप्रदेशों को चलायमान कर देती है। जो दुःख, जो क्लेश बज्र के प्रहार तक से नहीं होता है,(बज्र का प्रहार तो मात्र जिस स्थान पर लगे वहीं पीड़ा उत्पन्न करता है), परन्तु मानसिक त्रास व्यक्तियों का सर्वांग शोषण करता है एवं सम्पूर्ण आत्मप्रदेशों में एक विकलता उत्पन्न करता है। संसार में आधे जीव मानसिक वेदना से भरे हैं। इनमें सबसे श्रेष्ठ व्यक्ति वह होता है, जो स्वयं दुःखी होकर भी दूसरों के दुःख दूर करने का प्रयास करता है, किन्तु किसी से कहता नहीं है। अतः आपने यदि किसी का उपकार जीवन में कर दिया है, तो कहीं कहना मत।

सम्यग्दृष्टि जीव दूसरों के लिये किये गये उपकार को भी उपकार नहीं समझता। वह यही मानता है कि मैंने तो अपना ही उपकार किया है। जबकि अहंकारी जीव जगह–जगह सुनाता है कि मैंने वहाँ ऐसा किया था।

भो ज्ञानी आत्माओ ! ध्यान देना कि हमारे पास तीर्थ ही एकमात्र ऐसा क्षेत्र था, जिसमें सभी प्राणी समान–रूप से बैठ लेते थे, किन्तु आजकल अज्ञानियों ने वहाँ भी राग–द्वेष खड़ा कर दिया है, तीर्थभूमि की भावना को भी दूषित कर दिया है। ध्यान रखना, जिस स्थल पर

सभी को समदृष्टि से देखा जाता है, उस स्थल को ऊँचा–नीचा मत बनाना। भो ज्ञानी ! जिनमार्ग में 'जिन' बनकर आओगे, तो जिनेन्द्र बन जाओगे। निज की बात करोगे तो भिन्न–भिन्न होकर बिखर जाओगे। हम कब तक धोबी बनकर जियेंगे? दूसरे को स्वच्छ वस्त्र पहना रहा है, पर खुद चिथड़े और काले–कलूटे पहने बैठा है। हम परिणामों की निर्मलता की बात करते हैं, पर निज के परिणाम जानकर लगता है कि धोबीपना है। धर्म के क्षेत्र में तुम भिन्नता को प्राप्त हो रहे हो– ऊँचा शिखर, नीचा शिखर, ऊँचा मंदिर, नीचा मंदिर। अहो ज्ञानी ! ऊँचे शिखर इसलिए नहीं बने हैं, कि तुम अहंकार के शिखर पर चढ़ जाओ। अरे ! यदि ज्ञानी हो तो, किसी का उपकार तो करना, पर किसी को उस उपकार की याद मत दिलाना।

करोड़ों का दान करके दान का पटिया लगवा दिया, परंतु भाई गरीब है, उसकी तरफ देख नहीं रहा है। उस सिद्धशिला से क्या फायदा जहाँ अहंकार का पटिया लगा है ? आपके घर में कितने फटे कपड़े होंगे, लेकिन किसी को दे नहीं सकते। कितनी पेटियाँ भरी हुई हैं? आप चोरी कर रहे हो, दूसरे के हिस्से का तुम चुराकर रख रहे हो। थोड़ा गहराई में जाना। आपको अन्तराय कर्म का आस्रव भी हो रहा है। यही तो भेदविज्ञान है। कर्मों में, शरीर में, आत्मा से भेद करो, लेकिन जीव मात्र में अभेद–दृष्टि रखो। यही भेदविज्ञान है। पर स्वच्छंदी मत बनना, स्वतंत्र बनना।

भो चेतन ! कर्मों का जनक मन है और मन का जनक कर्म है। कर्मोदय को कहकर स्वच्छंद मत हो जाना, उस कर्म को तुम दबा भी सकते हो। पुरुषार्थ किस विषय का नाम है ? अपने में रहो। पहले अपने को तो अपना मान लो और पर को पर मान लो। फिर अपनों को भी छोड़ देना, परंतु पहले पर को छोड़ना। ध्यान रखना, यह सब संयोगसंबंध है, परंतु स्वभाव नहीं है। मैं स्वतंत्र हूँ, तू स्वतंत्र है।

हे आत्मन् ! उपकार करना उपकारदृष्टि से, खिन्नता से नहीं, जैसा कि दीवान अमरचंद ने किया था, बाद में भूल गये। लेकिन मंच पर माईक से चिल्लाकर नहीं, कि अमुक जी आएँ, हम उनको सहयोग कर रहे हैं। एक जगह की घटना है, मेरा मन स्वयं उद्वेलित हो रहा था। एक जैन परिवार को हाथठेला दिया गया भरी सभा में, हजारों की भीड़ में। लोग कर्त्तव्य भाव भूल गये। यहाँ विचार करो कि गरीब जरूर था वह, पर उसका पुण्य नहीं होता तो तुम्हारे परिणाम भी सहायता करने के नहीं होते। इसलिए कर्त्ता–बुद्धि को छोड़ दो। प्रत्येक जीव

अपना भाग्य लेकर आता है। तुमने उसे क्या दिया? मेरे पाप का उदय हो जाये तो आप लाख दे दो, खाक हो जायेगा। अतः सहयोग करना, परन्तु अहम् नहीं करना। सहयोग करना धर्म है, परन्तु अहंकार करना धर्म नहीं है।

भो ज्ञानी ! मेघ सूर्य का विनाश नहीं करते, पर आच्छादित किये हैं, ढके हुए हैं। यदि नष्ट कर दिया, तो नष्ट वस्तु का उत्पाद कब होगा? शरीर को नष्ट कर देने से भगवान्–आत्मा दिख जायेगी, यह अज्ञानियों का कथन है, क्योंकि भोगीजीव भोगों में ही भगवान् को देखता रहता है। बेटा पूछ रहा है– पिताजी ! मैं महाराज से दीक्षा ले लूँ ? पिता कहता है– घर में रह, सुख भोग। सत्य बताओ, क्या जीवन में सुख महसूस हुआ है, आनंद हुआ है ? वास्तव में लालसा में लालसा छिपी थी। संसार की दशा बड़ी विचित्र है, मत कहो। अपनी–अपनी दशा कह कर सब बच जाते हैं। अरे ! नभ में बैठे सूर्य को देखो, पर अपने सूर्य को मत भूल जाना। बिल्कुल विकल्प मत करना। जब जिनवाणी कहती है कि नदी में पानी के प्रवाह से बड़ी–बड़ी चट्टानें कट जाती है, इसी तरह संसारी चट्टानें कितनी ही मोटी हों, जिनवाणी के प्रवाह से अवश्य ही कट जायेंगी। ध्यान रखना, जिनवाणी माँ को छोड़ मत देना, छोड़ दिया तो नहीं काट पाओगे।

आचार्य् देवसेन स्वामी ३०वीं गाथा में कह रहे हैं कि जैसे–जैसे मन का संताप, इंद्रियों का विपर्यय–भाव उपशमन को प्राप्त होता है, वैसे–वैसे ज्ञानी शीतल होता जाता है। चेहरा दिखना प्रारम्भ हो जाता है। ध्यान रखना, उबलते पानी में चेहरा नहीं दिखता है। इसी तरह जैसे–जैसे विकारों के उबाल उठेंगे, मन का संचार बनेगा, वैसे–वैसे चिद्स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता। अतः विकारों में उबाल समाप्त करना परम आवश्यक है। सत्यता तो यह है, कि विकारों के समय विवेक खो जाता है। रावण भी महापन्डित था, ज्ञानी था, सत्यता तो यह है कि विकारों के समय विवेक खो जाता है। रावण भी महापन्डित था, ज्ञानी था, मगर एक क्षण के विकार की भूल मौत का कारण बन गई। इन विकारों को समाप्त करने के लिये काफी पुरुषार्थ करना पड़ता है। हम विकारों को करने के लिये स्वयं स्वामी बन जाते हैं। परन्तु विकारों को समाप्त करने के लिए, पाप का विनाश करने के लिए भगवान् के पास पहुँच जाते हैं। कुछ ऐसी भी होती है कि लड़ाई बहू से हुई और क्षमा महाराज से माँग रही हैं। मैंने कहा– एक काम करो, बहू के पैर पड़ लो, क्षमा माँग लो, अन्यथा तुम्हारे कर्म नहीं टूट सकेंगे। भो

ज्ञानी ! लड़ाई घर में करके आते हो और क्षमा माँगते हो भगवान् से। क्या भगवान् को कर्त्ता बनाओगे ? यह तो परिणामों की निर्मलता का क्षेत्र है। इसलिए यदि किसी से विसंवाद भी हो जाए तो जाकर उसके पैर छू सकते हो, तब समझना कि मेरे में लघुता आ गई।

भो मनीषी ! इसी तरह दिन में कम से कम १०–१५ मिनट का मौन अवश्य रखना। जेम्सबॉट ने इंजन चलाया था भाप से। वह भोजन बना रहा था, बटलोई का ढक्कन नीचे गिर गया। ओहो ! ढँकने में कितनी शक्ति आ जाती है, खुले में कितनी शक्ति नष्ट हो जाती है। रहस्य पकड़ना, यह जिनवाणी का रहस्य है। ढक्कन बंद कर देना तो निज की भाप निज में रहेगी, तो ऊपर उठेगा। पर, भो ज्ञानी ! कुछ मुख से बोलकर एवं कुछ आँखों से देखकर पूरी शक्ति नष्ट कर देता है। मौन रहेगा, तो निज की शक्ति निज में होना प्रारंभ हो जायेगी। **जो ज्यादा बोलता है, उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है। जिनवाणी में मौन को साधना कहा गया है।** अपने–अपने घर चले जाना और बटलोई के ढक्कन को देख लेना।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

{ { {

योग की निर्मलता स्वदेश को दिखाती है

मण–वयण–कायजोया जइणो जइ जंति णिव्वियारत्तं ।
तो पयडइ अप्पाणं अप्पा परमप्पयसरूवं ॥३१॥

अर्थ: यदि योगी के मन, वचन और काययोग निर्विकारता को प्राप्त हो जाते हैं तो आत्मा अपने परमात्मस्वरूप को प्रकट करता है।

मन–वयण–कायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं ।
चिर–बद्धं गलइ सयं फलरहियं जाइ जोईणं ॥३२॥

अर्थ: मन, वचन, काय की चंचलता रुकने पर कर्मों का आस्रव निश्चय से रुक जाता है, तब चिरकालीन बंधा हुआ योगियों का कर्म स्वयं गल जाता है, फल–रहित हो जाता है।

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही सुंदर सूत्र दिया है। भो ज्ञानी ! यदि निर्विकल्प ध्यान की सिद्धि चाहता है तो इंद्रिय–विषयों के व्यापार से विमुख हो जा। जब तक इंद्रिय और मन का व्यापार है, तब तक चैतन्य–चमत्कार का उद्भव संभव नहीं है और चेतन की सत्ता के भान हुए बिना यह चैतन्य प्रकट होगा भी नहीं। मेरा ज्ञान–स्वभाव तभी प्रकट होगा, जब मेरे अंतस् में व्यर्थ के विकारों के उपलखंड नष्ट हों। इन उपलखंडों को नष्ट करने के लिए भेद–विज्ञान की छैनी चाहिए। अहो ! तुम दर–दर के भिखारी क्यों बन रहो हो ? हे भिखारी ! तू विकारी न होता, तो आज भिखारी भी न होता। जो भिखारी है, वह कभी विकारी भी था। वह धन के विकार में था, मान के विकार में था, लेकिन भूल गया था। भो ज्ञानी ! पर्याय के वैभव को देखकर निज परमात्मा को भूल मत जाना। मुमुक्षु जीव लक्ष्य बनाकर जीता है। भिखारी नहीं होता, मुमुक्षु तो भिक्षु होता है। क्योंकि भिखारी शरीर के लिए भीख माँगता है, जबकि भिक्षु आत्म–कल्याण के लिए, शरीर का संचालन करने के लिए आहार लेता है। जो छोड़ कर

जाता है, वह भिक्षु होता है, किन्तु जिसका छूट जाता है, वह भिखारी होता है। भो ज्ञानी ! भिखारी बनने से पहले भिक्षु बन जाओ, तो तुमको दुःख नहीं होगा। एक व्यक्ति ने दस का नोट गुल्लक में डाला। जैसे ही बाहर निकला कि दुर्भाग्य से उसकी जेब कट गई, पर कुछ ऐसा संयोग बना कि जेबकट पाँच रुपये का नोट ही ले पाया। लेकिन उन सज्जन ने पूरे में हल्ला कर डाला– मेरी जेब कट गई, मेरे पाँच रुपये चले गये। देखिए ! पाँच के जाने का कष्ट था और दस के डालने में खुशी थी, क्योंकि दान देकर आया था। भो ज्ञानी ! यह भिक्षु और भिखारी में अंतर है। क्योंकि जो त्यागता है, वह खुश होकर देखता है और जिसका छुड़ा लिया जाता है, वह रो–रोकर देखता है। नोट चाहे छुड़ाया गया हो चाहे डाला हो, वह तो गया। लेकिन एक नोट पाप के उदय से गया और पाप का बंध करा गया, पर दूसरा पुण्य के उदय से गया और पुण्य का बंध करा गया। एक में इष्ट वस्तु का वियोग झलक रहा और दूसरे में त्यागधर्म टपक रहा है। इसलिए भिक्षु, भिक्षु है और भिखारी, भिखारी है। हे विकारी आत्माओ ! यदि विकारों में मर गये तो नीचे चले जाओगे और भिक्षु बन गये तो ऊपर चले जाओगे। इसलिए जीवन में ध्यान रखना कि कितनी ही विषमता आ जाये, फिर भी अपने से मत टूटो। दुनियाँ तो टूटेगी, टूट रही है। मुमुक्षु जीव इस संसार की समता–विषमता, संयोग–वियोग को देख करके अपने आप को नहीं छोड़ देता है।

भो ज्ञानी ! संबंधों के खण्डों से तुम आत्मा के खण्ड मत कर डालना। जब तक हम संबंध करते रहेंगे, वह हमारा विच्छेद कराता ही रहेगा। सोचो ! योग, योग है; संयोग नहीं है। योग है योगी का, संयोग है भोगी का। संयोग बाहर का है, योग स्वभाव का है और तुम इस स्वभाव में जाओ तो तुम संयोग की बात भी मत कर देना। फिर ''न शिष्यो गुरुर्नापि हीनं न दीनं, चिदानंदरूपं नमो वीतरागम्'' कौन शिष्य है, कौन गुरु, कौन हीन है, कौन दीन? मैं चिदानंदस्वरूप हूँ, यह विकल्प हम कब तक रखेंगे ? विकल्पों की सीमायें हैं। इन विकल्पों से परे हटके जब जाओगे तो न देव रहेगा, न देवता, न उपास्य होगा, न उपासक। वही परमेश्वर होगा। गहरी बात है। उस सिद्धशिला पर कौन उपासक बैठा है ? कौन उपासना कर रहा है ? भो चेतन ! तू ही उपास्य है, तू ही उपासक है। इसलिए संयोग/योग का विकल्प भी धर्म नहीं है, निजात्मा का उपयोग धर्म ही है। अब मुनिधर्म कहूँ कि श्रावकधर्म कहूँ ? यह सब धर्म नहीं है। यह धर्म की प्राप्ति के साधन हैं। इसलिए इनको धर्म कहा जाता है। चैतन्यपिण्ड आत्मा का जो स्वभाव ज्ञान–दर्शन है, वही तो आत्मा का धर्म है। धर्म अर्थात् वस्तु

का स्वभाव। उस अखंड आत्म–धर्म की प्राप्ति के लिये श्रमणचर्या और श्रावकचर्या व्यवहार–रत्नत्रय धर्म है और निश्चयरत्नत्रय निश्चय–धर्म है। वस्तुतः आत्मा का धर्म तो शुद्ध ज्ञान–दर्शन स्वभाव है। यही तत्त्वसार है, समयसार है। हे चेतन ! भोग को छोड़, योग से जुड़, तभी योगी है, अन्यथा भोगी तो है ही। आत्मा योगस्वभावी है, अनशनस्वभावी है। जब तू निज स्वभाव में लीन हो जायेगा, वहाँ अनशन–स्वभाव स्वयं आ जायेगा।

मार्कण्डेय पुराण में आया है –

अस्ते गते दिवानाथे तोयं रुधिरमुच्यते ।
अन्नं मांसं समं प्रोक्तं, मार्कण्डेय महर्षिनः ॥

जो रात में खाता है, पानी पीता है, वह माँस और खून का सेवन कर रहा है। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' ग्रंथ में कहते हैं कि–

नैवं वासर–भुक्तेर्भवति हि, रागोऽधिको रजनिभुक्तौ ।
अन्न–कवलस्य भुक्तेर्भुक्ताविव, मांस–कवलस्य ॥१३२॥

जितना राग दिन के भोजन में नहीं होता है, उतना राग रात्रि के भोजन में होता है। जो रात्रि में भोजन करता है, वह माँस के ग्रास को खाता है।

भो ज्ञानी ! खून पीकर, माँस खाकर अपने आपको मोक्ष मत भेजो। पहले रात्रिभोजन का त्याग करो। रात्रि में तो औषधि भी नहीं खा सकते। मार्ग यही है, इसके विपरीत मत कर देना। अपनी कमजोरी कहना, पर जिनवाणी में प्रवेश मत करा देना। कितने छली–कपटी जीव संसार में बस रहे हैं– भगवन् ! रात्रिभोजन तो त्याग है, पर रात्रि में आलू की चिप्स तो चल सकती है। ऐसा कैसा मोक्ष है ? मेरी समझ में नहीं आता है।

भो ज्ञानी ! कभी धर्म के बारे में चिंता नहीं करना। अपने आपकी चिंता कर ली, तो धर्म की चिंता अपने आप हो जायेगी। भो चेतन ! योग के भाव जब इतने शांत हैं, योगभाव की चर्चा जब इतनी शांत है, तो योगस्वभाव कैसा होगा ? जब नदी के किनारे की हवा शीतल लगने लगती है, तो पानी कितना शीतल होगा ? स्वभाव में लीनता कितनी आनंद देने वाली होगी ? भो ज्ञानी ! तुम आपस में मैत्री बनाकर जी रहे हो, यह शाश्वत नहीं है। यह राग की गोंद है, पर प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। देखो, आप लोग भिन्न हो, तो भिन्न ही मानो। जो संयोग

को स्वभाव मान लेता है, उससे बड़ा अज्ञानी नहीं। भो ज्ञानी आत्माओ ! कितनी मधुर गाथाएँ आचार्यभगवान् ने लिखी हैं। वह अंतरंग में बैठकर लिख रहे थे। यह बात बाहर बैठकर कोई नहीं लिख सकता। लेखक जब लिखने बैठता है तो अपने आप को शास्त्र बनाता है। देखो ! भाषण में पहले भाषा का उपयोग होता है, इसलिए जिनवाणी में भाषण नहीं होता, जिनवाणी में प्रवचन होता है। **प्रकृष्टवचनं इति प्रवचनं, अर्थात् जो श्रेष्ठ वचन हैं, उसका नाम प्रवचन है।**

भो ज्ञानी ! विकार तो विकार है। विकार आँखों से स्पष्ट दिखता है। स्वच्छ दुग्ध रखा हुआ है, उसमें खटास आ जाये तो कैसा लगता है ? जिसको पीने से शक्ति बढ़ती थी, उसको मुख पर रखते ही मुख मलीन हो रहा है। दुग्ध तो वही था। इसी प्रकार से वही आत्मा है, जिसे देखने पर कोटि–कोटि जीव कर्मों की निर्जरा कर लेते हैं, ये वही आत्मा है जिसे देखकर मुख मलीन हो जाता है। क्योंकि विकार विचार को बदल देता है। सोचिए, खरदूषण के सहयोग को गया था लंकेश। वहाँ विकार आ गया, तो विचार बदल गया, सीता को उठा ले गया। उधर बहनोई का घात हो गया, उसकी चिंता भूल गया। देखिए संसार की दशा, यह विकार संबंध का नाश करेंगे। हाँ, समीचीन विचार विकार को बदल देता है, तब आत्मा को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् यह आत्मा ही अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त हो जाता है। अतएव **परमात्मा को बाहर नहीं खोजना, निज आत्मा को ही परमात्मा बनाना है।** जब मन, वचन, काय का निरोध हो जायेगा, तो कर्म अपने आप गल जायेंगे। अज्ञानी कहता है– मैं दूध तपाना चाहता हूँ। अरे पागल ! कैसे दूध तपायेगा ? दूध तपाने में तुम्हारा पुरुषार्थ नहीं चल सकता है। आपको पुरुषार्थ अग्नि जलाने में करना चाहिए, दूध अपने आप तपेगा। ऐसे ही, कर्मक्षय तू कैसे करेगा ? भो ज्ञानी ! ध्यान की अग्नि लगा दे, अपने आप कर्मक्षय हो जायेंगे।

पंचमकाल में व्यक्ति विशेष ध्यान नहीं कर सकता, विशेष तपस्या नहीं कर पाता। चित्त को एकाग्र करने का सुंदर उपाय है– स्वाध्याय करो। मन, वचन, काय की चंचलता को रोकना, इसी का नाम योग है। तब आप भोगी नहीं कहलाओगे।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

पर-समय का स्वरूप

ण लहइ भव्वो मोक्खं जावय पर–दव्व–वावडो चित्तो ।
उग्गतवं पि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥३३॥

अर्थ: जब तक मन परद्रव्यों में (अर्थात् व्यापार युक्त) है, तब तक उग्र तप को भी करता हुआ भव्य जीव मोक्ष को नहीं पाता; किन्तु शुद्ध भाव में लीन होने पर शीघ्र ही पा लेता है।

भो मनीषियो !

तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर स्वामी की पीयूष वाणी जन–जन की कल्याणी है। भव्य जीव उस वाणी का पान कर परमात्मापद को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में हो रहे हैं तथा भविष्य में भी जो जीव परमात्मा बनेगा वह जिनदेशना के प्रभाव से ही बनेगा। बिना देशनालब्धि के सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती, बिना सम्यक्त्व के ज्ञान–चारित्र नहीं होता तथा तीनों के बिना शिवत्व की प्राप्ति नहीं होती। निर्मल–चित्त निर्मल–चारित्र का स्रोत होता है। उग्र तपस्या भी क्यों न करें साधक, परन्तु यदि चित्त ईर्ष्या, कषाय व वासनाओं से अनुरंजित है तो वहाँ तपस्या की अनुभूति नहीं होगी अपितु चित्त तीव्रगति से चलायमान रहेगा; क्योंकि कषाय, वासनादि की अवस्था में मन की गति तीव्र हो जाती है। मन जितना तत् विषय के बारे में विचार करता है, वैसा विचार आत्मतत्त्व का करने लग जाये तो क्षणमात्र में कर्मनिर्जरा को प्राप्त हो जाए।

भो ज्ञानी ! मन की चाल अति तीव्र है, क्षणमात्र में लोकालोक में विचरण कर लेता है। यदि मनोवृत्ति शांत हो जाए तो व्यक्ति को सर्वत्र शांति–ही–शांति है। मन के विकल्पों के शान्त होने पर जप–तप भी सहज हो जाते हैं। कभी–कभी व्यक्ति स्वयं के ऊपर ही असंतुष्ट हो जाते हैं। उन्हें कुछ भी रुचिकर नहीं लगता, पूर्ण उदासता छा जाती है, आत्मधर्म के प्रति रुचि समाप्त होने लगती है। संसारी प्राणी नाना जीवों को तो मनाने में लगा है, पर उनसे कोई प्रयोजन की सिद्धि होने वाली नहीं, अपितु नाना विकल्पसमूह का ही जन्म होता है, जिससे

कर्मबंध ही होता है। अरे भाई ! जिसे मनाना चाहिए, उसे क्यों नहीं मनाता, जिसके मचलने के कारण जीव नाना गतियों में भ्रमण कर रहे हैं? इसलिए मन को मना ले। यदि यह मान गया, तो समझ लेना कि तुमने सभी को मना लिया। मन नहीं माना तो किसी को नहीं मना पाया। क्योंकि मन की दशा बड़ी विचित्र है, कभी कुछ विचारता है, कभी कुछ। इसकी इच्छा की पूर्ति करना असंभव है। विश्व की सभी विभूति अणुप्रमाण लगती है। जितने श्रेष्ठ पद हैं, जितनी श्रेष्ठ वस्तुएँ हैं, वे सभी चाहता है; परन्तु यह नहीं समझता कि जितना पुण्य–योग होगा उतना ही प्राप्त होगा। एक अंश मात्र भी ज्यादा प्राप्त होने वाला नहीं है तो व्यर्थ में क्लेश क्यों करूँ ? परन्तु राग की दशा विचित्र है, सबकुछ जानकर भी अज्ञानी बनता है। मन प्रेरित करता है कि अमुक द्रव्य से सुख मिलेगा, तो व्यक्ति तद्रूप पुरुषार्थ करने लगता है। व्यक्ति यदि सहज भाव से बैठकर निर्णय करे तो यह मन सत्य निर्णय देगा कि मेरा परिणमन इस समय अनुचित चल रहा है और यदि ऐसा ही मेरा परिणमन चलता रहा तो निश्चित ही अशुभ गति में गमन होगा और यदि शुभ चिंतवन चला मेरा, तो शुभ गति में गमन होगा।

मनीषियो ! इस मन की दशा जल के तुल्य है। जब भी पंक (कीचड़) का उद्भव होता है तो जल से ही होता है तथा कीचड़ की सफाई भी होती है तो जल से ही होती है। उसी प्रकार चित्त (मन) से उत्पन्न हुए पाप–समूह चित्त से ही नाश को प्राप्त होते हैं। अतः परिणमन जीव के ऊपर है कि अपने मन को किस ओर ले जाएँ। भो ज्ञानी आत्माओ ! सँभाल लो अपने आपको, अभी समय है। एक क्षण में समयप्रबद्ध कर्मबन्ध हो रहा है, उसे कोई अन्य नहीं रोक सकेगा। देखो ! जितने विषयों में इस मन का व्यापार चलता है, जीव उतने विषयों का इन्द्रियों द्वारा सेवन नहीं कर पाता, न ही लाभांतराय कर्म का इतना क्षयोपशम है कि सभी विषयों की सामग्री प्राप्त हो जाये। परन्तु लालसावश तीव्र आकांक्षा से अल्पबुद्धि जीव, तंदुल–मच्छ के सदृश, कर्मबंध को प्राप्त होता है। आपको ज्ञात होगा कि स्वयंभूरमण समुद्र में एक महामच्छ होता है, जिसे राघवमच्छ कहते हैं, जिसकी एक हजार योजन की अवगाहना है, पाँचसौ योजन चौड़ा तथा ढाईसौ योजन मोटा। इतना ही प्रमाण उसके मुख का है। वह छः माह सोता है और छः माह जागता है। जब वह सोता है, तब उसका मुख खुल जाता है। उस समय विशाल मुख में कई जीव प्रवेश कर जाते हैं तथा पुनः निकल भी आते हैं। यह सब दृश्य महामच्छ के कान में बैठा शालीशिक्थ नामक मच्छ देखता है और कुविचार करने लगता है

– अहो ! कितना मूर्ख है ये महामच्छ? इसके मुख में इतनी सारी भोजनसामग्री जा रही है, फिर भी खा नहीं रहा। ऐसे खोटे विचार करता है। जिस प्रकार द्रव्यहिंसा से राघव महामच्छ सप्तम नरक को प्राप्त करता है, उसी प्रकार तंदुल मच्छ भावहिंसा करके सातवें नरक जाता है। अहो ! व्यर्थ में भाव करके कर्मबन्ध द्वारा जीव दुर्गति का भाजन हो रहा है। निज की आराधना में इस मन का गमन करें तो संसार में तेरा गमनागमन स्वयमेव समाप्त हो जायेगा।

आचार्य महाराज योगी को सम्बोधन देकर समझा रहे हैं– हे योगेन्द्र ! जब तक तेरा मन परद्रव्यों में व्यावृत हो रहा है, तब तक घोर/उग्र –से–उग्र बाह्यतप भी कर ले, परन्तु आत्मशांति की प्राप्ति नहीं होगी। परन्तु शिवत्व की प्राप्ति शुद्ध भाव में लीन होने पर शीघ्र हो जायेगी। इसलिए अपने मन को मोड़। द्रव्य का परिणमन उसकी अपनी योग्यता पर होता है। बिना काललब्धि के किसी भी कार्य की सिद्धि नहीं होती। ज्ञानी अपने मोक्षपुरुषार्थ में सम्यक् समय को लगाता है व्यर्थ के चिंतवन से परे होकर। आत्मानंदी होकर परमानंद के रस का पान करता है। पर–विकल्पों से भिन्न अपने भाव करके वही जीव उभय सुख का पात्र बनता है। वैसा ही पुरुषार्थ कर।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

परद्रव्य की उपासना का फल

परदव्वं देहाई कुणइ ममत्तिं च जाय तेसुवरि ।
परसमयरदो तावं बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ।।३४।।

अर्थ: देहादिक परद्रव्य हैं, और जब तक उनके ऊपर ममत्वभाव करता है, तब तक वह परसमय में रत है, अतएव नाना प्रकार के कर्मों से बंधता है।

भो मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन देशना हम सभी सुन रहे हैं। यही सरस्वती की भक्ति है, यही सरस्वती की वन्दना है। मनीषियो ! जैसे–जैसे व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है, वैसे–वैसे संयम की ओर कदम बढ़ते हैं। यह सत्य है कि जंग ज्यादा लगी हो तो एकाएक नहीं छूटती, उसमें धीरे–धीरे तेल डालते जाओ तब एक दिन ऐसा आयेगा कि पूरी जंग छूट जायेगी। ऐसे ही कर्मों का जो पिटारा है, वह एक दिन में समाप्त नहीं होता, परन्तु विश्वास तो करना पड़ेगा कि जब पानी की बूँद गिरते–गिरते चट्टानें कट जाती हैं, विशाल पर्वत नीचे गिर जाता है, तो वीतरागवाणी के माध्यम से कर्मों के पहाड़ भी अपने आप झड़ जायेंगे। ऐसे ही, भो ज्ञानी आत्माओ ! वीतरागवाणी को यदि आपने अपने जीवन में सुनना ही प्रारम्भ कर दिया तो कर्मों की चट्टानें कटना प्रारम्भ हो जायेंगी। आचार्य वीरसेन स्वामी ने 'धवला जी' में लिखा है कि **निधत्ति और निकाचित कर्मों का शमन करने के लिए अरिहन्त भक्ति व भगवान् जिनेन्द्र की देशना कर्मों की असंख्यात गुण–श्रेणी निर्जरा करती है,** क्योंकि सुनने से गुनना प्रारम्भ हो जाता है। छोटा–सा बालक जो टेलीविजन देखता है तो उसके हाथ–पैर थिरकने लगते हैं। अरे ! जो जीव वीतराग प्रभु की देशना सुनेगा, तो उसके मन का मयूर भी नाचने लगेगा। मयूर नाचना भूला नहीं है, पर आवश्यकता है मेघों के गरजने की। जब तक मेघ नहीं गरजते, तब तक वह समझ नहीं पाता कि नाचा कैसे जाता है ? ऐसे ही वीतरागवाणी की गर्जना जब होती है तो अंतस् में बैठा वीतराग–भावना रूपी मयूर अपने आप नाचने लगता है और सोचता है कि वस्तुस्वभाव यही है, मैं भूल में हूँ। बस, भूल समझ में आ जाये, तो

भगवान् बनने में देर नहीं। भूल सुधारने की बात मत करो, भूल समझने की बात करो। क्योंकि जब भूल समझ में आ जाती है, तो ऐसा कोई विवेकी नहीं होगा जो भूल से भी भूल करे। माँ जिनवाणी हमसे यही कह रही है कि कदाचित् हमारे जीवन में यदि कोई भूल भी हो गयी हो, तो भगवान् जिनेन्द्र की देशना सुनकर संकेत मिलेगा कि, बेटा ! मार्ग वह नहीं है, मार्ग यह है। ज्ञानीजीव फिर कभी भूल से भी भूल नहीं करेगा, क्योंकि जीवन में एक बार भूल सबसे होती है और भूल का ही यह परिणाम है कि पंचमकाल में हम सभी बैठे हैं।

भो ज्ञानी ! अपने आप में यह कभी मत कहना कि मैं ज्ञानी हूँ। ज्ञानी वह है, जो केवलज्ञान से मण्डित है। हर व्यक्ति कहता है कि पानी मेरे घर का है, लेकिन वास्तव में पानी तो सरोवर का है। पर जो वीतरागवाणी है, वह अगाध है, अनन्त भव भी निकल जायेंगे तो भी तू उसका पार नहीं पा सकेगा। लेकिन, अल्पश्रुत से भी संसार से पार नियम से होगा। यह श्रुतभक्ति ही है कि आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने ग्वाले की पर्याय में जिनवाणी की रक्षा की और एक निर्ग्रंथ योगी को जिनवाणी भेंट की, उसका परिणाम निकला कि चौरासी पाहुड (शास्त्रों) के कर्ता आचार्य कुंदकुंद स्वामी हुए। अतः, भो ज्ञानी ! जीवन में एक अक्षर का भी अविनय मत कर देना, क्योंकि एक–एक वर्ण आगम है, एक–एक वर्ण मंत्र है, कभी भी उन पर पैर मत रख देना। यहाँ तक कि पेपर पर भी तुम पैर मत रख देना, द्रव्यश्रुत है। **जिनवाणी को आप अलमारी की शोभा मात्र मत बनाना, जिनवाणी को अंतःकरण की शोभा बनाना। श्रुत तो मक्खन है। जब मिला है तो उसके आनन्द को क्यों नहीं लूटते ?** जिनवाणी सुनने से सुख महसूस होता है, शांति महसूस होती है, बस यही आत्मातीत आनन्द है। आचार्य अकलंक स्वामी ने 'राजवार्तिक' में लिखा है कि आत्मा का सुख क्या है ? आत्म–आराध्य, अर्थात् बिना किसी इन्द्रियभोग के जो आराध्य हो रहा है, यह ही अतीन्द्रिय आनन्द है। ऐसा आराध्य–द्रव्य सम्यग्दृष्टि जीव के मन में ही आ सकता है। मिथ्यादृष्टि जीव के मन में ज्ञान की अनुभूति तो होगी, पर आराध्य नहीं होगा। उसको यह सुख तो होगा कि मेरा इतना ज्ञान बढ़ गया, परन्तु सम्यग्दृष्टि कहेगा कि मेरा इतना श्रद्धान बढ़ गया। जैसे–जैसे श्रुत बढ़ता जाता है, वैसे–वैसे श्रद्धान भी बढ़ता जाता है। दर्शन व चारित्र के बीच में ज्ञान बैठा हुआ है, वह कहता है कि मैं दर्शन व चारित्र दोनों को निर्मल करता हूँ। और यह सत्य है कि ज्ञान के बाद जो श्रद्धान होता है वह अंध श्रद्धान नहीं होता अपितु वह तर्क के साथ श्रद्धान होता है। उसको झंझावात भी चलायमान नहीं कर सकता।

आचार्य देवसेन स्वामी ने कितना सुन्दर सूत्र दिया है– अहो ! पर्वत की तलहटी में बैठ करके उग्र से उग्र तपश्चरण कर प्रतिमायोग धारण किये हैं, सूर्ययोग धारण किये हैं, पर्वत–के–पर्वत चटक गये गर्मी से, वृक्ष शुष्क हो गये, जंगल के जीव भी जलाशय की खोज में हैं, परन्तु वे सूखे पर्वत पर खड़े होकर ध्यान कर रहे हैं। वे आत्म–सरोवर में मग्न होकर आत्म–शीतलता में लीन हैं। उन्हें सूर्य की तपन महसूस नहीं हो रही है। ज्ञानी को सूर्य का ताप इतना कष्टकारी नहीं होता जितना कि विषयों का ताप कष्टकारी होता है। जब तक सूर्य–जैसी तपन तुझको विषयों की नहीं लगेगी तक तक, हे मुमुक्षु! तू मुमुक्षु नहीं बन सकता। जो तपन सूर्य की है, उससे करोड़ों गुनी तपन विषयों और वासनाओं की है। सूर्य की तपन में शरीर मात्र तपता है, तपने के बाद किसी को पश्चाताप नहीं होता, खिन्नता नहीं आती; लेकिन विषय और कामना के ताप में तपने पर खिन्नता आती है। उस समय अपने आपको इतना हीन देखता है, कि सिर ऊपर नहीं उठा पाता, किसी की आँखों से आँख नहीं मिला पाता; क्योंकि हृदय कह रहा है कि मैं पापी हूँ। जब यह विषय–कषाय की तपन समाप्त हो जायेगी, तो सम्पूर्ण विश्व की तपन समाप्त हो जायेगी। हे योगी! उग्र तपस्या करते समय यदि मन में कोई विचार आ गये, तो तेरी सारी साधना रखी रह जायेगी। बस, एक क्षण में तूने राग इतना बाँध लिया है कि रोना पड़ा। जब एक समय का राग आँखों से आँसू टपका देता है, तो जीवनभर राग करने का परिणाम क्या होगा ? अतः सम्यग्दृष्टि जीव धर्म–धर्मात्मा से अनुराग तो रखता है, पर राग नहीं रखता। कुंदकुंद स्वामी ने 'समयसार' जी में लिखा है–

रत्तो बंधदि कम्मं, मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो, तह्मा कम्मेसु मा रज्ज ।।१५०।।

हे योगी ! **राग कर्मबंध का कारण है, इसलिए वीतरागता की सम्पदा को प्राप्त करो– ऐसा भगवान् जिनेन्द्रदेव का उपदेश है।** जब तक वीतरागी नहीं बने हो, तब तक पंचपरमेष्ठी का अनुराग भी नहीं छोड़ देना और राग भी मत कर लेना, नहीं तो संसार में विडम्बना हो जायेगी।

भो ज्ञानी ! वसन उतर गये हैं, वासनायें भी उतर गईं, परन्तु कामना जब तक नहीं उतरेगी, तब तक वसन और वासना का उतरना कार्यकारी नहीं होगा। 'अब तो मैं योगी बन चुका हूँ, निर्ग्रन्थ हूँ, अब ऐसा काम हो जाना चाहिए', वह कामना भी तुम्हें बाँधकर रखेगी।

इसलिए आचार्य पद्मनंदि स्वामी ने 'पद्मनंदी पंचविंसतिका' में लिखा है कि **योगी मोक्ष की भी कामना नहीं करता है। क्यों ? जब तक मोक्ष की कामना करेगा, तब तक विकल्प रहेगा और जब तक विकल्प रहेगा, तब तक कर्मबंध होगा और जब तक बंध है, तब तक मोक्ष नहीं।** लेकिन असाता के उदय में कम-से-कम पंचपरमेष्ठी का नाम लेते रहना, परन्तु ध्यान रखना कि निदान मत कर लेना। साधना करना सिद्धि के लिए, प्रसिद्धि के लिए नहीं।

आचार्य देवसेन स्वामी इस गाथा में कह रहे हैं कि दोहादि से राग मत करो। जब राग सामने खड़ा हो जाता है, तो सम्पूर्ण आँखें बंद हो जाती हैं एवं सम्पूर्ण दृष्टियाँ बंद हो जाती हैं। मन की चंचलता असीम है, मंदिर के शिखर पर चढ़े ध्वज को एक क्षण के लिए भी शांति मिल जाये, लेकिन मेरे चैतन्य पर चढ़ा मन का ध्वज सदा उड़ता रहता है। यदि मन को स्थिर करना चाहते हो तो उसकी दिशा को बदल दो।

भो ज्ञानी ! हमने संसार के बहुत अध्ययन किये, अब भगवान् की आराधना करो, गुरुओं की सेवा करो तथा स्वाध्याय भी करो। जिनवाणी में लिखा है कि जब निर्ग्रन्थ योगी बैठा हो, जिनवाणी विराजमान हो और अरिहंतदेव की प्रतिमा विराजमान हो, तो अब कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है, क्योकिसमवसरण बन चुका है। पंचमकाल का जीव आज भी समवसरण की अनुभूति कर सकता है। अतः मन को स्थिर करके तीर्थंकर की दिव्यदेशना का श्रवण करो, तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। भो ज्ञानी ! जो परद्रव्य से ममत्व करता है, वह परसमय ही है। जब तन का राग स्व-समय का नाश कर रहा है, तो जड़ का राग स्व-समय कैसे प्राप्त करायेगा? ज्ञानी कहता है कि मुझे वस्त्र नहीं, कुटुम्ब नहीं, परिवार नहीं, मुझे तो बस लक्ष्य ही दिख रहा है। वह ही स्वसमय है। जब तक तुम राग रखोगे, तब तक अनेक प्रकार के कर्म का बंध नियम से होगा। राग को भूलना कोई वीतरागता नहीं, अपितु राग को छोड़ना वीतरागता है।

मनीषियो ! भूल मत कर देना कि घर में सामग्री पड़ी है फिर भी हमें राग नहीं है। राग नहीं है तो पड़ी कैसे ? यह सब सामग्री बंध का हेतु है। इसलिए ऐसी सामग्री को आपको निकालना होगा। यदि किसी व्यक्ति को शूल चुभ जाये तो पैर में से एक-एक शूल टटोल-टटोल कर निकालते हो, परन्तु जिसके चैतन्य में कषायों के शूल चुभ रहे हैं, वह तीनकाल में मोक्ष जानेवाला नहीं है। अतः अपने अन्दर से कषायों के शूल निकालकर फेंक देना।

लेकिन, ज्ञानी आत्माओ ! जो कषायों के शूल चुभ रहे हैं, उनको निकालने के लिए गुरु के पास ही पहुँचना पड़ेगा। स्वयं की दीवाल कितनी टेड़ी है, मालूम नहीं चलता है। पड़ोसी आकर बताता है। तभी समझ में आता है। इसलिए अपने जीवन में उस वीतरागवाणी को समझने के लिए निर्ग्रन्थ वीतरागी गुरु की शरण में चले जाना, आचार्यभगवंतों की शरण में चले जाना, कह देना–भगवन् ! हमारे शरीर में जन्म, जरा, मृत्यु रूपी तीन रोग हैं, इनका शमन कैसे हो ? भो ज्ञानी ! दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह गोलियाँ हैं, परन्तु वे अलग–अलग नहीं खाई जायेंगी, वे सब मिलाकर खाना पड़ेंगी, तो तेरे रोग ठीक हो जायेंगे।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

卐 卐 卐

स्व समय / पर समय

रूसइ तूसइ णिच्चं इंदियविसएहि वसगओ मूढो ।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥३५॥

अर्थ: इन्द्रियों के विषयों में आसक्त मूढ़, कषाय–युक्त अज्ञानीपुरुष नित्य किसी में रुष्ट होता है और किसी में संतुष्ट होता है। ज्ञानी पुरुष इससे विपरीत स्वभाव वाला होता है।

चेयणरहिओ दीसइ ण य दीसइ इत्थ चेयणासहिओ ।
तम्हा मज्झत्थोहं रूसेमि य कस्स तूसेमि ॥३६॥

अर्थ: इस संसार में चेतना–रहित पदार्थ दिखाई देता है और चेतना–सहित पदार्थ दिखाई नहीं देता है। इस कारण मैं मध्यस्थ हूँ। किससे रुष्ट होऊँ और किससे संतुष्ट होऊँ?

भो प्रज्ञात्माओ !

जिनदेव की वाणी ही जगत्कल्याणी है। अहो ! वे जीव लोक में भाग्यशाली हैं, जिन्होंने साक्षात् अर्हत् देशना का अपनी कर्णांजुलि से पान किया है। आज हमारे सामने साक्षात् जिनेन्द्रदेव तो नहीं हैं, परन्तु उनकी मुद्रा का ज्ञान कराने वाले निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुपरमेष्ठी हैं तथा उनकी देशना के रूप में जिनागम है। उन दोनों के दर्शन करके हम साक्षात् तीर्थंकर–शासन का अनुभव कर लेते हैं। यह भी परम सौभाग्य का विषय है कि इस दुःखम काल में अर्हत्–शासन को उज्ज्वल करने वाले साधुपुरुष विद्यमान हैं, उनके मुख से वाग्वादिनि सुनने का अवसर प्राप्त हो रहा है। वे नर भाग्यहीन हैं जो सद्धर्म, गुरु, जिनवाणी एवं जिनदेव से विमुख हैं। तीव्र मिथ्यात्व कर्म का उदय है उनका, जो कि परस्पर के वात्सल्यभाव को छोड़कर धर्म के नाम पर विसंवाद में जी रहे हैं। न स्वयं शांति का वेदन कर पा रहे हैं, न अन्य को ही शांति से रहने दे रहे हैं। निज/अहं की पूर्ति में लगकर वीतराग मार्ग से श्रद्धान का विच्छेद कर रहे हैं। कुछ लोग क्रियाकाण्ड में उलझ रहे हैं, कुछ मठ, मंदिरों, संस्थानों, तीर्थों, पंथों, आम्नायों के पीछे पड़े हैं। कुछ कोरे–ज्ञानी अध्यात्म के नाम पर समाज में

विसंवाद उत्पन्न कर स्वपर की शांति भंग कर रहे हैं। सर्वज्ञदेव ने अपनी वाणी में जिसे धर्म कहा है, इस ओर तो दृष्टि ही नहीं है।

भो ज्ञानी ! जो भूतार्थ है, वह वस्तु का स्वभाव है, वही धर्म है। इससे भिन्न अन्य कोई पंथादि धर्म नहीं है। अरे भाई! आगम सर्वप्रथम यही संकेत करता है कि समदृष्टि तो बनो, सभी के प्रति मैत्रीभाव तो लाओ। जब जिनेन्द्र की वाणी में ऐसा कहा है कि निगोदिया में भी सिद्धत्व–शक्ति विराजमान है, तो उन अध्यात्मप्रेमियों व साधु–संतों से पृच्छना करना कि, भो ज्ञानियो ! क्या आप लोगों को एक पंचेन्द्रिय मनुष्य में सद्धर्मात्मा में परमात्मशक्ति नहीं दिखती? जिस दर्शन में आप लोग श्रद्धान किये हैं, वह दर्शन एक विशुद्ध दर्शन है। क्या आपको मालूम है कि जिसे हम शत्रु कहते हैं वह सिद्ध बन जाए? क्या एक अशरीरी आत्मा का अनादर आपने नहीं किया ? क्या इससे कर्मबंध नहीं होगा ? **मुमुक्षु आत्माओ ! समझो जिनवाणी को। ग्रंथ पढ़ने मात्र के लिए नहीं है अपितु ग्रन्थि को खोलने के लिए ग्रंथ पढ़ते हैं।** परस्पर में प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव का उद्भव करो, क्लेश छोड़ो, रोष छोड़ो। यदि वह अवस्था नहीं आती तो धर्मात्मा नाम के तो रहेंगे, परन्तु काम के धर्मात्मा नहीं कहलायेंगे। सत्यार्थ वे ही हैं जो स्वसमय में विराजते हैं और स्वसमय में वही है जो सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थित है। आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने 'समयसार' जी में भी कहा है –

जीवो चरित्तदंसण्णाणट्ठिउ, तं ही ससमयं जाण ।
पुग्गलकम्मवदेसटिठयं च तं जाण परसमयं ॥२॥

हे भव्य ! जो जीव दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थिर हो रहा है, उसे निश्चय से स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गल–कर्म के प्रदेशों में तिष्ठा हुआ है, उसे परसमय जानो।

भो चेतन ! जब यह जीव सब पदार्थों के स्वभाव को प्रकाशने में समर्थ ऐसे केवलज्ञान को उत्पन्न करने वाली भेदज्ञान ज्योति के उदय होने से, सब परद्रव्यों से पृथक् होकर, दर्शन–ज्ञान में निश्चित प्रवृत्तिरूप आत्मतत्त्व से एकत्वरूप होकर प्रवृत्ति करता है, तब दर्शन–ज्ञान–चारित्र में स्थिर होने से, अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक काल में जानता तथा परिणमन करता हुआ स्वसमय कहलाता है। और जब यह अनादि अविद्या रूप, मूल वाले कन्द के समान, मोह के उदय के अनुसार, प्रवृत्ति की अधीनता से ज्ञान–दर्शन स्वभाव में निश्चित वृत्तिरूप आत्मस्वरूप से छूट, परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह–राग–द्वेषादि भावों

में एकरूप हो प्रवृत्त होता है, तब पुद्‌गल के कार्माणप्रदेशों में स्थित होने से परद्रव्य को अपने से अभिन्न एक काल में जानता है तथा रागादिरूप परिणमन करता है। अतः, परसमय ऐसी प्रतीत होती है। इस तरह इस जीव नामक पदार्थ के स्वसमय और परसमय ऐसे दो भेद प्रकट होते हैं। (आत्मख्याति टीका/गाथा २)

अज्ञानी बहिरात्मा पाँच इन्द्रियों के मनोज्ञ व अमनोज्ञ विषयों के वशीभूत होकर निज स्वभाव को भूल रहे हैं। देखो ! एक–एक इन्द्रिय के वशवर्ती हुए जीव दुर्दशा को प्राप्त हुए हैं। हाथी स्पर्शनइन्द्रिय के विषय में, मछली रसनाइन्द्रिय के विषय में, घ्राणइन्द्रिय के वश होकर भौंरा, कर्णइन्द्रिय के विषय में सर्प–हिरण, चक्षुइन्द्रिय के विषय में पतंगे मरण को प्राप्त हुए हैं। मानव तो पाँचों इन्द्रियों के वश है, इसकी क्या दशा होगी ? किसी कवि ने भी कहा है –

करि मृग मीन अलि शरिमा, जो एक–एक पर मरते हैं ।
उनकी क्या दशा होगी, जो पाँचों पर ही मरते हैं ।।

मोही जीव पूर्वापर विवेकशून्य हो इन्द्रियविषयों को सर्वस्व मान बैठे हैं, जबकि आगम कहता है कि यह सुख नहीं, अपितु दुःख ही है। 'प्रवचनसार' जी में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है–

सपरं बाधा–सहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ।।७६।।

ये सुखाभास कैसे हैं ? इन्द्रियजन्य 'सपरं'यानि पराधीन हैं। प्रत्येक इन्द्रिय का विषय पर के ऊपर आश्रित है। पराश्रित रहने में सुख कहाँ? यह सुख दूसरे पर निर्भर करते हैं। यदि प्राप्त होते तो दुःखी होता है जीव। 'बाधासहिदं', बाधा से युक्त हैं। कभी कुछ अन्तराय होता है, कभी कुछ। इन सुखाभासों के पीछे अनेक शत्रुओं का उद्‌भव हो जाता है। देखो, नारायण–प्रतिनारायण के युद्ध एवं दुर्गति का हेतु क्या था ? परस्पर में इन्द्रियसुख की सामग्री के पीछे द्वन्द्व करके दुर्गति–भाजन होते हैं। एक रोटी के टुकड़े के पीछे दो श्वानों की अवस्था देखो कैसी होती है। परस्पर एक–दूसरे को काटने को तत्पर हो जाते हैं। इन्द्रियसुख निर्बाध नहीं हो सकते। अतः मुमुक्षु जीव को निर्बाध सुख की भावना भाना चाहिए। 'विच्छिण्ण', ये सभी सुख विच्छेद को प्राप्त होने वाले हैं। शाश्वत सुख तो एकमात्र अतीन्द्रिय

सुख है, जिसका कभी भी विच्छेद होने वाला नहीं है। चैतन्यानुभूति से युक्त, टंकोत्कीर्ण, ज्ञायक–स्वभावी, भगवती–आत्मा को जो सुख है वही निर्बन्धस्वभावी सुख है। शेष जो इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त सुख हैं, वे सुख बंध कारणं बंध के हेतु हैं।

'विसमं', जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त सुख हैं, वे बहुत ही कठिनाई से प्राप्त होते हैं; परन्तु सहज स्वभाव से प्राप्त अविनाशी सुख ही सत्यसुख है। यथार्थ तो यही है कि इन्द्रियसुख दुःख ही है। अज्ञानीजीव इन इन्द्रियों में आरूढ़ होकर रोष करता है, कभी–कभी संतोष को प्राप्त होता है, कभी कषायभाव को प्राप्त होता है, परन्तु ज्ञानीजीव इन सबसे भिन्नभाव को प्राप्त होता है।

भो ज्ञानी ! अध्यात्म तो आत्मा के नजदीक पहुँचाने वाली विद्या है। जो इस विद्या को प्राप्त कर लेता है, उसके जीवन के सम्पूर्ण विवाद समाप्त हो जाते हैं। अतः अविसंवादभाव का उद्भव जहाँ होता है, वहाँ ही अध्यात्मज्ञान होता है। अध्यात्मग्रंथों की मधुर भाषा को इन्द्रियविषय व विसंवाद का विषय नहीं बनाना चाहिए। यह अपूर्व अंतःकरण की गहराइयों का स्पर्श कराने वाली अनोखी विद्या है। अहो ! वीतरागवाणी अद्भुत है, जहाँ रोने को बन्ध कहा और हँसने को भी बन्ध कहा। **ज्ञानीजन कष्टों में कूलते नहीं तथा सुख के दिनों में फूलते भी नहीं।** सुख–दुःख तो पुण्य–पापजन्य अवस्थाएँ हैं, जो कि क्षणिक हैं। जो हर्ष–विषाद को प्राप्त हो रहा है, वह तात्कालिक है। क्षणिक भाव में जाकर त्रैकालिक–ध्रुव आत्मद्रव्य कर्मबंध को प्राप्त हो जाता है। वह कर्म उभय पुण्य और पाप उभय रूप है। परन्तु जब हम आत्मा की निर्बन्ध दशा का चिन्तन करते हैं तब पाते हैं कि स्वतंत्रता का अभाव है, शरीरिक–मानसिक वेदनाएँ हैं, प्रज्ञ पुरुष दोनों को तटस्थ दृष्टि बनाकर निहारते हैं। पुण्य–पाप के योग में परिणामों की क्या दशा होती है, कषायांश किस रूप चल रहा है ? एक क्षण में विश्वघुत्व का भाव आ रहा है, द्वितीय क्षण विश्व–विनाशता का। परन्तु दोनों ही कार्य शक्ति से बाहर हैं, फिर भी भावों की गति ने कर्मबंध की गति को वर्धमानता प्रदान की है। ज्ञानीजन निज भावों की परिणति को संभालने में पुरुषार्थ–रत रहते हैं।

भो ज्ञानी ! यह लोक छः द्रव्यों से युक्त है, जिसमें पाँच द्रव्य तो जड़रूप हैं, मात्र एक जीवद्रव्य चेतन है। छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व, नव पदार्थ और घट–पटादि पदार्थों में मुख्य अर्थात् प्रधान जो परप्रकाशक चेतना है, उससे रहित समस्त ही पुद्गल द्रव्यरूप हैं।

चित्–चमत्कार मात्र चेतना सहित जो आत्मद्रव्य है, वह दिखाई नहीं देता। जो चर्मचक्षु से दिख रहा है, वह अचेतन है, तो फिर किससे राग करूँ, किससे द्वेष करूँ ? इसलिए मध्यस्थ भाव को प्राप्त होता हूँ। आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधिशतक' में कहा है :

अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।
क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि, मध्यस्थोहं भवाम्यतः ॥४६॥

भो ज्ञानी अंतरात्मा ! विचार करो कि जो दृष्टिगोचर होने वाला पदार्थ है, वह चेतनारहित है और जो चैतन्यरूप आत्मसमूह है, वह इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए मैं किस पर क्रोध करूँ और किस पर संतोष करूँ ? ऐसी अवस्था में मैं तो अब राग–द्वेष के परित्यागरूप मध्यस्थभाव को धारण करता हूँ। जो मध्यस्थभाव को प्राप्त है, राग–द्वेष भावों से परे, रत्नत्रय से युक्त है, वही स्वसमय है। मुमुक्षु जीव को प्रतिपल, प्रतिक्षण स्वसमय की प्राप्ति में लीन रहना चाहिए, यही सत्यार्थ आत्मधर्म है। इसी से मोक्षतत्त्व की प्राप्ति होगी।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

꙳ ꙳ ꙳

समभावी पुरुष ही योगी होता है

अप्पसमाणा दिट्ठा जीवा सव्वे वि तिहुयणत्था वि ।
सो मज्झत्थो जोई ण य रूसई णेय तूसेइ ॥३७॥

अर्थः तीनलोक में स्थित सभी जीव अपने–समान दिखाई देते हैं, इसलिए वह मध्यस्थ योगी न तो किसी से रुष्ट होता है और न ही किसी से संतुष्ट होता है।

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सब विराजते हैं। उसी परम्परा में देवसेन स्वामी ने स्वसमय, परसमय का कथन करते हुए हमें बहुत सुन्दर सूत्र दिया, कि मैं किससे राग करूँ और किससे द्वेष करूँ ? क्योंकि संसार में कोई शत्रु नजर नहीं आता, कोई मित्र नजर नहीं आता है। भो ज्ञानी ! रावण का जीव जिस समय तीर्थंकर बनेगा, उस समय सीता का जीव उनका गणधरपरमेष्ठी बनेगा। आप देखना संसार की दशा, किसे आप शत्रु कहोगे? जिस लक्ष्मण ने लंकेश का घात किया, वह लक्ष्मण का जीव उसका पुत्र बनेगा। इसलिये इन पर्यायों से उदास हो जाओ। इन पर्यायों का संबंध पता नहीं किस समय घटित हो ? पिता ने रागवश प्राण का त्याग किया और घर में जाकर बकरा हुआ। वह बकरे का जीव बार–बार घर में प्रवेश कर रहा है और बेटा डंडा मार कर भगा रहा है। एक दिन बेटा अवधिज्ञानी मुनिराज से पूछता है कि, हे यतीश्वर ! इसे मैं बार–बार भगाता हूँ, लेकिन फिर भी वह बकरा बार–बार प्रवेश क्यों करता है? भो चेतन ! कुछ समय पहले इस बकरे का जीव तुम्हारा पिता था।

आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि ईर्ष्या मत करो, द्वेष मत करो, रोष मत करो, संतुष्ट हो जाओ, क्योंकि यह तो पर्याय की दशा है। मध्यस्थ हो जाओ, क्योंकि मध्यस्थता ही शांति का मार्ग है। आप न राग करो, न द्वेष करो, यही मध्यस्थ भाव है। जहाँ राग है, वहाँ बंध है और जहाँ द्वेष है, वहाँ बंध है। राग द्वेष का जहाँ अभाव है, वहीं निर्बन्ध–अवस्था है। ज्ञाता–

दृष्टा बनो। जानो सब को, परन्तु स्वीकार मत करो। जैसा पदार्थ है, वैसा ही उसका रूप जानो।

भो ज्ञानी आत्मन् ! जब तेरे प्राण ही तेरे नहीं हैं, तब पर के प्राण क्या तेरे होंगे ? जिन प्राणों से तू जी रहा है, वे प्राण भी तेरे नहीं हैं। इन्द्रिय, बल, आयु, श्वासोच्छ्वास ये चार प्राण हैं और भेद कर दोगे तो दस प्राण हैं। यह प्राण भी तुझे छोड़ देंगे। ये भी तेरे नहीं हैं। इनके वियोग का नाम मृत्यु है। चेतना–प्राण ही तेरा प्राण है। ज्ञान और दर्शन यही तेरे शाश्वत प्राण हैं। इन चेतना–प्राणों का वियोग नहीं होता।

भो ज्ञानी ! समझना। एक व्यक्ति ने धोबी को धोने के लिए कपड़े दिये और धोने के उपरान्त धोबी एक चादर बदलकर दे गया। वह व्यक्ति चादर ओढ़कर सो गया। कुछ समय बाद जिसका चादर था वह आता है और कहता है, भाई ! देख यह तू क्या कर रहा है? यह तो आपका चादर नहीं है, यह चादर तो मेरा है, इस पर मेरा चिह्न बना हुआ है, पहचानो। दूसरे का वस्त्र मैंने धारण कर लिया, कितनी ग्लानि हुई ?

जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणंति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे, णादूण विमुञ्चदे णाणी ।।३५।। समयसार।

जैसे ही उस व्यक्ति ने जाना कि यह तो परद्रव्य है, तो एक क्षण में छोड़ दिया। अहो ज्ञानी आत्मन् ! कुंदकुंद देव तुम्हें समझा रहे हैं कि ये चर्म का चादर है, अब तू जान ले, पहचान ले। तेरा अपना चादर तो चारित्र है, ज्ञान है, दर्शन है। भो ज्ञानी ! तू चर्म के चादर को छोड़ दे। वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जो परद्रव्य को जानकर जल्दी छोड़ देता है। यह चादर मेरा नहीं, यह सम्यक्त्व हो गया, ज्ञान हो गया और छोड़ दिया सो चारित्र हो गया। ये अंगनाएँ मेरी नहीं, बस जान लिया। श्रद्धा कर लो, छोड़ दो। हो गया दर्शन–ज्ञान–चारित्र। भो ज्ञानी ! आत्मा तो चिद्पिण्ड, अखण्ड–अनंत–ज्योतिस्वरूप है। जिसका चारित्र विकृत है, सज्जन पुरुष ऐसे के साथ बैठना भी पसन्द नहीं करते, चर्चा करना भी पसन्द नहीं करते। भो चेतन ! वह दुर्व्यसनी है, रागी है, यह द्वेषी है, फिर भी तू इसको छोड़ नहीं रहा। यदि अशरीरी भगवती–आत्मा को प्राप्त करना चाहता है, तो इन व्यसनों से छूटना होगा। यही स्व–समय है और जब तक नहीं छूट रहे हो, तब तक पर–समय हो।

आचार्य कुंदकुंद देव कह रहे हैं, कि अशुभ भाव से अशुभ का आस्रव होगा और शुभ भाव से शुभ का आस्रव होगा। शुभ और अशुभ दोनों से रहित अवस्था ही शुद्ध अवस्था है। आपको जैसा रुचे, वैसा करो। भो ज्ञानी ! मल में सुख मान रहा है, परंतु पुष्प की सुगन्ध नहीं देख रहा है। जड़–देह में आनंद मान रहा है, परंतु चेतन की अनुभूति को नहीं समझ रहा है। गाथा कह रही है कि स्व–समय और पर–समय को समझ लो। क्योंकि ऐसे–ऐसे जीव हुये हैं, जिनको क्षणमात्र में कैवल्य हो गया और क्षण मात्र में मोक्ष भी हो गया।

हे बहुरूपी आत्माओ! कितने–कितने रूप जीवन के रंगमंच पर रचे हैं ? एक रूप ऐसा भी धारण करो, कि उसके बाद कोई दूसरा रूप धारण ही नहीं करना पड़े। स्वामी ब्रह्मगुलाल मुनि को देखो, उनकी कथा आश्चर्यकारी है। हँसी–खेल में स्वाँग रचाया, बहुरूपिया जो था। सिंह का रूप बनाया, तो कभी किसी का रूप बनाया। जो एक बार राजा ने दिगम्बर मुद्रा (मुनि महाराज) का रूप बनाने को कहा, तो ब्रह्मगुलाल ने कहा कि यह सब रूप तो क्षणिक थे, इसलिये तुरन्त बनाकर दिखा देता था। उसके (मुनि मुद्रा के) लिये समय चाहिए। वह बनने का रूप है, बिगड़ने का नहीं। इसमें जो जीव गया, सो बन गया। छः दिन तक साधना करते रहे और सातवें दिन वे ईर्यापथ का शोधन करके दिगम्बर वीतरागी संत के रूप में सामने खड़े हो गये। देखकर सभा गद्गद् हो गई, नमस्कार किया। हे धरती के देवता ! आपको नमोऽस्तु। राजा तो उसे नकली समझ रहा था। वह नहीं समझा पा रहा था कि अन्दर से तो परिणाम निर्मल हो गये, अकृत्रिम हो गये। योगिराज की देशना खिरने लगी, राजन्! द्वैत–द्वैत है, अद्वैत तो अद्वैत है। द्वैत आत्मधर्म नहीं, अद्वैत ही आत्मा का सत्यस्वरूप है। अद्वैत मेरा निजस्वभाव है। अनेकत्व दुःख है, एकत्व ही सुख है। राजन् ! आप मेरे उपकारी हो, क्योंकि जिस रूप को आप देख रहे हो, वह अब अदृश्य होने वाला नहीं। राजा निवेदन कर रहे हैं कि मैंने आपकी दृढ़ता को देख लिया है, अब आप अपना असली रूप प्रकट कर लो।

भो राजन् ! इससे बड़ा असली रूप क्या होगा ? पत्नि बैठी थी, कहने लगी कि, हे स्वामिन् ! राजा की भेंट स्वीकार करो और अपने गृहवास की ओर चलो। कैसा स्वामी ? अब तो मैं अपने स्वामी को देख रहा हूँ। मैं अब तुम्हारा स्वामी नहीं। समता की माँ अन्दर विराजमान है। सारे रिश्ते समाप्त हो गए। भो चेतन ! ममता माँ तो तुझे संसार में रुला देगी

और समता माँ तुझे संसार से पार सिद्धालय में विराजमान करा देगी। ममता माँ की गोद में तू क्रीड़ा करना चाहता है ? अरे ! माँ की गोद में खेलते–खेलते तूने अनंत पर्यायें धारण की हैं। समता की गोद में एक दिन भी चला जाता, तो इस कलिकाल के काले काल में पर्याय धारण न करना पड़ती। हे भाई ! भोग में भटकाने का संबंध अब तू मत बोल। मेरा निजभाव ही मेरा भ्रात है। यह देह के संबंध को छोड़ दो। तेरा–मेरा सहोदर–भाव ही रागभाव है। वास्तव में तो सहोदर ज्ञान–दर्शन स्वभाव है, जो मुझसे कभी भिन्न नहीं होगा। ब्रह्मगुलाल तो अब परम योगी बन गया। जिस अध्यात्म विद्या को बड़े–बड़े योगी नहीं समझ पाए, उस बहुरूपिया ने एक क्षण में सब प्राप्त कर लिया।

भो चैतन्य ! यह योगविद्या ऐसी ही निधि है, जिसमें एक पर्याय नहीं, आप की अनन्त पर्याय इस योगविद्या में समाविष्ट होती हैं। योगी एक वर्ष तक ध्यानस्थ खड़ा रहा।

उपाहि मुत्तं धण–धाम–वज्जियं, सुसम्म–जुत्तं भय मोह हारयं ।
वस्सेय पज्जंत–मुववास–जुत्तं, तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं ।।८।। गोम्मटेस थुदि।।

एक वर्ष तक उपवास किया। उन भगवान् बाहुबलि स्वामी ने उत्कृष्ट कायोत्सर्ग किया। योगी की अनुभूति योगी ही जानता है। हे योगीन्द्र ! हम आपकी भक्ति का आनंद तो लूट रहे हैं। हे जिनदेव ! आपकी भक्ति में किये आनन्द का मैं भोगी हूँ, पर आपकी आत्मानुभूति का मैं भोगी नहीं हूँ। यह अध्यात्मविद्या है। आत्मानुभूति नई–नई ही होती है। शरीर झुलस गया, पर साधना नहीं झुलसी, साधना तो चमक गई। शरीर कल झुलसता है तो आज झुलस जाए पर, भो ज्ञानी ! साधना को मत झुलसा देना, यह वीतरागवाणी है।

भो ज्ञानी ! योगियों को कल्पवृक्ष से कोई प्रयोजन नहीं। बाहुबलि के शासनकाल में मात्र एक कल्पवृक्ष बचा था, वह भी नाभिराय के आँगन में था। उनकी परम–संहनन–शक्ति थी, अतः क्षुधा की वेदना महत्त्वपूर्ण नहीं थी। क्योंकि जिस समय तुम्हारी मानसिकता कहीं–और होती है, उस समय सामने के ढोल भी तुम्हें पता नहीं चलते हैं। आचार्य शांतिसागर महाराज से किसी व्यक्ति ने कहा– महाराज ! एकान्त में चलो, सामायिक का समय हो गया। तब आचार्यमहाराज बोले– भैया ! जब मैं सामायिक पर बैठ जाता हूँ, तब मुझे बाजों की आवाज भी सुनाई नहीं पड़ती। धन्य हो वह योगी ! बाजे तो बाहर के द्रव्य हैं।

भो चेतन ! शरीर से श्यालिनी द्वारा माँस नौंचा जा रहा है, योगी अपने आपको देख रहा है। अहो श्यालिनी ! तूने तो चमड़ी को निकाल लिया है, तूने मेरे चेतन को कहाँ खाया है? इसका नाम है समयसार। यह अनुभूति का समयसार था। प्रभु से प्रार्थना करो कि, हे जिनदेव ! ऐसी सामर्थ्य मेरी आत्मा में उद्भुत हो, ऐसी अनुभूति मेरे अन्दर हो। मुझे पहले भगवत्ता का आनन्द नहीं लेना, मुझे तो पहले साधुता का आनन्द लेना है। साधुता में असीम आनन्द होता है। तदनंतर भगवत्ता का आनन्द तो निश्चित मिलेगा।

भो ज्ञानी ! हमने भोगों की अनुभूतियाँ तो बहुत की। इस पर्याय में योग की अनुभूति कर लो, अभी तो विवेक है तुम्हारे पास। हे भगवन् ! जब भी अंतिम श्वास निकले, तो पिच्छी–कमण्डल के साथ ही निकले। कोई औषधि न खाना पड़े, एकमात्र भगवान् जिनेन्द्रदेव की वाणी अमृतभूत परम औषधि हो। इसलिए आज शीतलनाथ भगवान् के चरणों में प्रतिज्ञाबद्ध हो जाना। अपने बेटे से कह देना– बेटा ! मेरी अन्तिम श्वासों के लिये किसी दूसरे के रक्त को मेरे शरीर में प्रवाहित मत करा देना। दूसरे के कलेवर को मेरे शरीर में मत डलवा देना, पर वीतरागवाणी रूपी औषधि अवश्व मेरे कान में डाल देना।

भो चेतन ! जीने की कला तो दुनियाँ के सभी दर्शन सिखाते हैं, पर मरने की कला मात्र जैन–दर्शन ही सिखाता है। दुनियाँ जन्ममहोत्सव मनाती है और वीतरागमार्ग मृत्युमहोत्सव मनाता है। निर्मल णमोकार मंत्र के साथ परिणामों का विसर्जन करना सल्लेखनामरण है। वीर का भी मरण होता है, अवीर का भी मरण होता है। जब मरण दोनों का होना है, तो हम वीरता के साथ मरण क्यों न करें ? एक सम्यग्दृष्टि जीव मृत्यु से भय नहीं खाता, जबकि एक मिथ्यादृष्टि जीव चूहे को देखकर घबरा जाता है।

भो भव्यात्मा ! एक कथानक है– कामी विद्याधर ने अनंगसरा का हरण किया और भयभीत होकर उसे जंगल में छोड़ दिया। पिता ने बहुत खोजा। काललब्धि थी और आयुकर्म शेष था। जब बेटी मिली, तो उसे अजगर निगल रहा था। पिता अजगर को मारकर बेटी को बचाने के लिये जैसे ही तैयार हुये, तब बेटी कहती है कि, हे तात ! इसका कोई दोष नहीं, छः दिन ही मेरी आयु शेष बची है और मैंने यमसल्लेखना ले ली है। आप इसको मार भी दोगे, तो भी तुमको बेटी मिलेगी नहीं। लेकिन, पंचेन्द्रिय की हत्या का दोष तुम्हें नियम से लगेगा। हे जनक ! इसे अभयदान दो, मैंने तो सल्लेखना ले ली है। हे प्रभु ! बड़े–बड़े योगियों के मन

चलायमान हो सकते हैं, पर उस कन्या की दृढ़ता तो देखो ! काल के गाल में बैठी हुई है, फिर भी कह रही है कि यम–सल्लेखना चल रही है। अजगर चबा रहा है, पर आत्मद्रव्य को नहीं चबा रहा। ऐसी निश्छल श्रद्धा जब होगी, तब कहीं हो पावेगी सल्लेखना।

भो ज्ञानी आत्माओ ! वीतरागवाणी कितनी आनन्ददायी है। इसलिये मैं आपसे कहता हूँ कि स्वाध्याय किया करो। कितना आनन्द आता है स्वाध्याय में। ज्ञान में जब इतना आनन्द है, तो चारित्र में कितना आनन्द होगा। आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं –

हे जीव ! इन पुद्गलों को मत देखो। पुद्गल को देखोगे, तो भेद और जातीयता दिखेगी। उसके अन्दर के प्रभु को देखो। अहो ! मटके–कटोरे को देखता है तो पानी में भिन्नता दिखती है, पर पानी एक है। अतः राग–द्वेष के बर्तन फोड़ दो। सबका चेतन–नीर समान है, कोई भेद नहीं। यही चेतन–अवस्था है, यही तत्त्वसार है। तीनलोक में जितने जीव हैं, सब समान हैं, कोई भेद नहीं। मैं किस पर राग करूँ, किस पर द्वेष करूँ ? ऐसा योगी ही मध्यस्थ है। यदि माध्यस्थ्य भाव नहीं आ रहा है, तो हे योगी ! तुम भोगी से कम नहीं, क्योंकि राग–द्वेष का त्याग ही योग है।

इसलिये न रोष करें, न तोष करें। ऐसा जानकर मध्यस्थ हो जाओ। यदि कोई तेरी बात न माने, तो भी उससे कुछ मत कहो। यही दिगम्बर योगी की दशा है। मनीषियो ! इसी अवस्था प्राप्ति की भावना भाओ।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

सर्व जीवों में समानता

जम्मण–मरणविमुक्का अप्पपएसेहिं सव्वसामण्णा।
सगुणेहिं सव्वसरिसा णाणमया णिच्छयणएण ॥३८॥

अर्थ: निश्चयनय से सभी जीव जन्म–मरण से रहित, आत्मप्रदेशों की अपेक्षा सभी समान, आत्मीय गुणों से सभी सदृश और ज्ञानमयी हैं।

मनीषियो !

आचार्य देवसेन स्वामी ने पंचकल्याणकों में से अंतिम मोक्षकल्याणक को दृष्टिगत रखकर बहुत सुन्दर सूत्र दिया कि एकत्व–विभक्त ही आत्मा का सत्य स्वरूप है। जहाँ पर योग है, वहाँ पर संसार है अथवा जहाँ पर योग है, वहाँ पर आत्मपरिस्पंदन है। देखो, एक बर्तन कभी बजते नहीं मिलेगा। जहाँ दो बर्तन होंगे, वहाँ आवाज होगी। अतः, योग जब तक रहेगा, तब तक भोग बंद होने वाला नहीं और भोग समाप्त हुए बिना योगी बन नहीं सकता तथा योगी बने बगैर निर्वाण/लक्ष्य की प्राप्ति नहीं होगी।

मनीषियो ! जिनवाणी प्रसन्न होकर जीवन को जीने की बात कहती है। अज्ञानी इसको समझ नहीं पाता। वह संयोगों में इतना लिप्त हो जाता है कि संयोग को स्वभाव का अवयव मान लेता है, जबकि ज्ञानी संयोग एवं स्वभाव में त्रैकालिक भेद ही मानता है। क्योंकि संबंध, 'स्वभाव' नहीं है। संबंध को स्वभाव मानना ही बंध है। जो संबंध को संबंध नहीं मान रहा, वह अज्ञानी है एवं जो संबंध को स्वभाव मान रहा है, वह भी अज्ञानी है। भो ज्ञानी ! संबंध को संबंध तो मानना ही पड़ेगा, परन्तु संबंध को स्वभाव नहीं मान लेना। 'समयसार' संबंध का निषेध नहीं करता, संबंध को स्वभाव मानने का निषेध करता है। भगवान् कुंदकुंद स्वामी कह रहे हैं, कि बंध बंध है और निर्बन्ध निर्बन्ध है। इन दोनों के बीच में जो संबंध है, वह संबंध ही है, कुछ–और नाम नहीं। बंध गये, तो छूट गये। पहले अच्छी तरह बंध जाओ।

भो ज्ञानी ! जब तक तुम यहाँ नहीं बंधोगे, तब तक अनंत सिद्धों में कैसे बैठोगे ? यहाँ

प्रेम से बंध जाओ। यदि निर्बन्धता की भाषा में कहीं राग छिपा हो तो, भो ज्ञानी ! तुम निर्बन्ध परमात्मा नहीं बन सकोगे। पहले संयम से बंधो, तभी तो छूटोगे। बंधने से डरते हो और छूटने की बात करते हो ? जब तक बंधोगे नहीं, तब तक छूटोगे कैसे ? लेकिन बंधने के तरीके को बदल देना। अभी राग में बंधे हो, अब तुम वात्सल्य में, वैराग्य में बंध जाओ। अभी तुम द्वेष में बंधे हो, अब तुम स्वात्म में बंध जाओ। जब तक गागर रस्सी से बंधती नहीं है, तब तक गागर पानी भरकर नहीं निकाली जा सकती। भरना चाहते हो, तो बंधना पड़ेगा और जिस दिन भर जाओगे, उस दिन चिल्लाना नहीं पड़ेगा कि छोड़ दो, छोड़ दो ! स्वतः छोड़ देगा।

परन्तु आश्चर्य देखो, दुनियाँ भरे को भर रही है। पुण्यात्मा जहाँ जाता है, मालाएँ पड़ती हैं। पापी जीव के गले में फाँसी भी लगे, तो कोई पूछने भी नहीं जाता। खाली को कोई नहीं देखता है, सब भरे–भरे को देखते हैं। सब बड़े–बड़े को देखते हैं, छोटे को कोई नहीं देखता। वह यह भूल जाता है कि खाली नहीं होगा, तो भरेगा किसमें ? छोटा नहीं होता, तो आपको बड़ा कहता कौन ? छोटे भाई की रक्षा प्राणों से ज्यादा करना, क्योंकि उसी ने तुम्हें बड़ा बनाया है।

भो चेतन ! जिनेन्द्र की वाणी को प्रत्येक प्राणी अपने ज्ञान के अनुसार समझ लेता है। घट पनघट पर रखा था, रस्सी गले में फँसाकर बांध दिया और नीचे डुबो दिया, डुबकियाँ भी लगवा दीं। भो चैतन्य ! यदि डुबकियाँ नहीं लगायेगा, तो तू उस सिद्ध–शिखर पर कैसे चढ़ पायेगा? पहले खाली हो जा, फिर तू गले को फँसा दे और जब भर जायेगा तो वहीं कर्मों की रस्सी अपने आप निकल जायेगी और तू निर्बन्ध हो जायेगा। परन्तु बंध के बिना मोक्ष की सत्ता को कोई जान ही नहीं सकता और बंध की सत्ता के अलावा मोक्ष की जो बात करता है, इससे बड़ा अज्ञानी संसार में कोई है ही नहीं। पहले बंध स्वीकार करोगे, तब मोक्ष होगा। आचार्य महाराज ने प्रत्येक घट की बात की है, घट–घट की बात की है, परन्तु घट के आकार नहीं बदले, प्रकार नहीं बदले एवं घट के नीर का भाव भी नहीं बदला। ये घट–घट के आकार भिन्न हैं। घट में विराजमान चेतन–सलिल में कोई अंतर मत कर देना, यही एकत्व–दृष्टि है।

बड़ी–बड़ी बातों से काम नहीं चलेगा, बड़े–बड़े भावों से काम चलेगा। बंध की बातें बंध

से छूटने के लिए करना। जीवन अल्प है, परंतु बंध अल्प नहीं। आप एक पर्याय को ही देख रहे हैं, पर आपने बंध एक पर्याय मात्र में ही नहीं किया, अनेक पर्यायों में किया है। अतः, निर्बन्ध भी आप एक भव में नहीं हो पाओगे, अनेक भव में तुमको रस्सी खोलना पड़ेगी, तब खुल पायेगी। तीर्थंकर जैसी आत्माओं को दस–दस भव बीत गये, तभी लक्ष्य की प्राप्ति कर पाये। अज्ञानी कहता है कि मुझे भव सुधारना है। 'भव सुधारना है' तो इसकी माला जपने से भव सुधरने वाला नहीं है। भो चेतन ! आज तीर्थंकर भगवान् भी आ जायें तो तुम्हारे भव सुधरनेवाले नहीं। भाव सुधारो, तो भव अपने आप सुधर जायेगा।

भो ज्ञानी ! मोक्ष को प्रदान करनेवाला शुद्ध उपयोग है, परन्तु दृष्टि रखना अशुभ उपयोग पर। क्योंकि जब अशुभ उपयोग को जान लिया, तो उस दिन मोक्ष का कारण प्रारम्भ हो गया। जिसने अशुभ को छोड़ दिया, शुभ में आ गया और जिसने निर्मल/शुभ–उपयोग प्राप्त कर लिया तो उसे अशुद्ध खोना नहीं पड़ेगा, अपितु वह स्वतः छूट जायेगा और शुद्ध को प्राप्त कर लेगा। जो शुद्ध भावों को प्राप्त हो गया, तो सिद्ध बन गया।

देखो, प्रवचनसभा में जब कोई कहता है कि प्रत्येक जीव सिद्ध है और जैसे ही मंदिर से बाहर निकला तो कहता है कि यह मेरा बेटा है, यह पड़ोसी का लड़का है। पर्याय–भेद को देखकर तुमने एक अशरीरी आत्मा में भेद करके देखा। भो ज्ञानी ! जब तक भेद करके देखते रहोगे, तब तक तुम्हें शत्रु–मित्र दिखते रहें और जब तक शत्रु–मित्र दिखेंगे, तब तक सम्यक्त्व का जन्म नहीं है और जब तक सम्यक्त्व नहीं होगा, तब तक सिद्धत्व का जन्म होगा ही नहीं। पर इतना जरूर है कि गाँठ है तो खुलने में देर नहीं लगेगी, हाथ से खोली जा सकती है; लेकिन यदि बेल्डिंग है, तो फिर छैनी चाहिये। आज तक जितने जीव सिद्धि को प्राप्त हुए हैं, वे सभी भेदविज्ञान की छैनी से ही सिद्धि को प्राप्त हुये हैं।

भो ज्ञानी ! 'समयसार' तो सिद्ध बनानेवाली जिनवाणी हैं, इंसान का नाश करने वाली जिनवाणी नहीं है। इसलिये तुम्हें तत्त्व समझना है तो तत्त्वसार समझो। ग्रंथ नहीं, निर्ग्रन्थ समझो। तत्त्वसार ग्रंथ नहीं, निर्ग्रन्थ है। प्रत्येक व्यक्ति वस्त्र के अंदर एक–सा है। एक वस्त्र कपड़े का है और एक चमड़े का है। इन दोनों के अंदर तुम एक–से हो, नग्न एक–से हो, ज्ञानानंद–दर्शनस्वभावी एक–से हो। आचार्य महाराज ३८वीं गाथा में बहुत सुंदर बात कह रहे हैं– **जैसे तू अपनी आत्मा को जानता है, वैसे ही सबको समझना। विश्व में जितने भी**

जीव हैं, वे सभी जन्म–मरण से मुक्तस्वभावी हैं, सभी सदृश हैं, सभी ज्ञानमयी हैं, सभी आत्मगुणों में समान हैं।

भो ज्ञानी ! जब तुम सब ज्ञानमयी हो, तो बर्तनों के ढेर को देखकर पानी में भेद क्यों कर रहे हो ? बर्तनों के भेद से नीर में भेद कर प्यासे मर जाओगे। अतः, घाट को मत देखो, पानी को देखो, अन्यथा प्यास बुझनेवाली नहीं है। अगर प्यास बुझाना चाहते हो, तो तत्त्वसार को समझो। तुम घाटों में मत उलझो, पानी को देखो। यह जिनेन्द्र की वाणी है। भेददृष्टि से देखोगे तो घाट दिखेंगे और अभेददृष्टि से देखोगे तो आपको सम्यक् शीतल जल दिखेगा। अतः सभी जीवों पर समान दृष्टि रखो, कोई छोटा या बड़ा नहीं। शरीर की अवगाहना में आत्मा की अवगाहना मत देखो, शरीर के रंग में आत्मा का रंग मत देखो, शरीर के कद से आत्मा के कद को मत मापो। हृदय में कटुता मत लाना। कद संकुचित हो जाए तो कोई दिक्कत नहीं, परन्तु अपने हृदय की विशालता को संकुचित मत कर लेना। सम्यग्दृष्टि जीव कितना ही छोटा हो, परंतु उसका हृदय विशाल होता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जब विदेह गमन किया और वहाँ पहुँचकर अपने को बहुत ही छोटा देखा, तो सोचने लगे कि मैं तो यहाँ बच ही नहीं सकता हूँ। अतः वे भगवान् सीमंधर स्वामी के सिंहासन के नीचे जाकर विराज गये। चक्रवर्ती आया, उसने कुंदकुंद स्वामी को उठाकर हाथ पर रख लिया और बोले– प्रभु ! यह क्या इलायची जैसा जानवर मनुष्य के आकार का है ? चक्रेश ! इन्हें तुम जानवर न कहो, यह भरतक्षेत्र के महान् दिगम्बराचार्य कुंदकुंद स्वामी हैं। उसी दिन से उनका नाम एलाचार्य पड़ गया था।

भो ज्ञानी ! समयसार को तुम ज्ञानवर्द्धक शास्त्र की दृष्टि से देखो, कद को मत देखो, पुद्गल को मत देखो। पाँच मिनिट बैठकर चिन्तन करना कि पानी में भेद कहाँ है, जिनेन्द्र की वाणी में भेद कहाँ है ? यदि जिनवाणी में भेद है, तो वह जिनवाणी नहीं, जनवाणी है। जितनी जिनवाणी है – वह निर्भेद है और वाणी में जब कोई भेद करे तो, भो ज्ञानी ! वह वीतराग–वाणी नहीं है।

आपको पाँच मिनिट चिन्तन करना है कि आपके ज्ञान–दर्शन में भेद कहाँ है ? जिसे तू आफिस में चपरासी कहता है, वह भी तेरे पहले भगवान् बनकर जा सकता है। इसलिये भेद मत करना, किसी का निरादर मत करना, किसी को दुतकारना मत। मैंने कभी सुना नहीं है

कि पानी गिरे और भूमि गीली न हो। ऐसा कभी देखा नहीं गया। ऐसे ही जिसने जिनवाणी को शुद्ध से, संयम से, तत्त्वावधान से सुना है, वह शुष्क नहीं रह सकता। भो ज्ञानी ! संयम को वैराग्य की छाया में सुखाना, वैराग्य की छाया में रखना, उसमें फिर ज्ञान के नीर को भर देना, तो फिर तुम भी मोक्ष के शिखर पर पहुँच जाओगे।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

उभय-नय-ज्ञाता आत्मतत्त्व-हृदय

इय एवं जो बुज्झइ वत्थुसहावं णएहिं दोहिं पि ।
तस्य मणो डहुलिज्जइ ण राय–दोसेहिं मोहेहिं ।।३९।।

अर्थ: जो ज्ञानी दोनों ही नयों से यह इस प्रकार का वस्तु–स्वभाव जानता है, उसका मन राग, द्वेष और मोह से डँवाडोल नहीं होता है।

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं ।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ।।४०।।

अर्थ: जिसका मनरूपी जल राग–द्वेषादि के द्वारा डाँवाडोल नहीं होता है, वह निजतत्त्व को देखता है। इससे विपरीत पुरुष निश्चय से नहीं देखता है।

भो मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजे हैं एवं वर्द्धमान जिनेन्द्र की पावन देशना का पान कर अपनी सुप्त चैतन्य–शक्ति का विकास कर रहे हैं। तीर्थंकर–वाणी के प्रभाव से ही जन–जन का कल्याण संभव है। बिना जिनदेशना के जो जीव आत्मकल्याण चाहते हैं, वह सूखे सरोवर में कमल खिलाना चाहते हैं। क्या कभी पश्चिम में सूर्य उदित हुआ है ? मिथ्यावाणी से, जिनमार्ग से बाह्य कुश्रुतरूप वचनों से कभी आत्मोत्थान न हुआ, न होगा– यह वीतराग देशना है। आत्मधर्म की प्राप्ति प्रपञ्चों से नहीं, परनिंदा से नहीं, निज तत्त्वदृष्टि तथा निर्मल संयम–साधना से होती है। यदि कोई जीव तत्त्वज्ञान से रहित, पर–आलोचना करके धर्मप्रभावना व निज की ख्याति की भावना रखता है, तो वह भी मिलनेवाली नहीं क्योंकि यश की प्राप्ति तो यशःकीर्ति नाम–कर्म के उदय से होती है, किसी के अपयश से नहीं। यथार्थतः तो न कोई किसी के यश को करा सकता है, न अयश को। प्रत्येक जीव के स्वकर्मों का विपाकोदय ही यश–अयश का कारण है। यह अज्ञानी जीव व्यर्थ में पर के दुःख–सुख, यश–अयश का कर्त्ता बन रहा है। अहो ! क्या सूर्य की किरणों को कोई मुट्ठी में बन्द कर

सका है ? इसी प्रकार पुण्यवान् की पुण्यरश्मियों को अज्ञानी कितना ही ढँकना चाहे, परन्तु ढँक नहीं सकते, यह सिद्धांत ध्रुव नियम है, यही ध्रुवसत्य है।

आचार्य देवसेन स्वामी तत्त्व के सार को खोलते हुए स्पष्ट उपदेश दे रहे हैं कि पंथों, सम्प्रदायों एवं नयों के एक–एक पक्ष लेकर तू तत्त्वसार को नहीं समझ पायेगा। यदि तत्त्वसार को समझना है तो पहले पक्षों व पथों से परे होना पड़ेगा। जब तक दृष्टि एकाक्षी रहेगी, तब तक समयसारभूत आत्मतत्त्व का भान होना अति दुर्लभ ही है। भो ज्ञानी ! वस्तु के अंशग्राही ज्ञान को नय कहते हैं। सकल अंशों का जो ग्रहण करे, उसे प्रमाण कहते हैं। प्रमाण व नय के द्वारा पदार्थों का निर्णय किया जाता है। वर्तमान में राग, द्वेष, विसंवाद का कारण लोक में एक ही है– नय के ज्ञान का अभाव। विवेकशील/प्रज्ञ पुरुष किसी भी बात को बिना नय–विवक्षा के कथन का विषय नहीं बनाते । 'नय' कथनशैली है, 'प्रमाण' वस्तु का धर्म है। नय, नय ही है, नय वस्तु का धर्म नहीं है। नय तो धर्म को समझने का मार्ग है, माध्यम है। माध्यम को माध्यम तक ही समझना चाहिए। अतः विसंवाद को सुलझाने का मार्ग ही नय है। अज्ञानी जीव निश्चय–व्यवहार नय के पक्षों के विसंवाद से कषायभाव में वृद्धि कर निज आत्मा की वंचना कर रहे हैं। जबकि स्याद्वाद/नय–शैली सम्पूर्ण विवादों का खण्डन कर, अनेकांत सूर्य के उद्योत से अज्ञान–तिमिर का नाश करते हुए, प्राणिमात्र को सद्धर्म का प्रकाश प्रदान कर मोक्षमार्ग को प्रशस्त करती है।

आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय ग्रंथ में भगवान् जिनेन्द्रदेव के नय–चक्र की बहुत गहन चर्चा की है –

इति विविध–भङ्ग–गहने सुदुस्तरे मार्गमूढ–दृष्टिनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्ध नयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥

अर्थ– इस प्रकार विविध भेदों से गहन सुदुस्तर जिनशासन में मार्ग से मूढ़ हुए जीवों को नय–चक्र के संचार को जाननेवाले गुरुमहाराज ही शरण होते हैं।

भो चेतन ! बिना गुरु की चरण–शरण प्राप्त किये व्यक्ति नय–प्रमाण को नहीं समझ सकता। इनको समझे बिना आगम, सिद्धान्त एवं अध्यात्म शास्त्रों में प्रवेश असंभव समझना चाहिए। अतः निर्ग्रन्थ गुरु की चरण–शरण को प्राप्त कर नयों का ज्ञान करना चाहिए। व्यर्थ

में निश्चय–व्यवहार नय के विकल्पों में जाकर अपने आत्मधर्म का विनाश नहीं करना चाहिए। निश्चय–निश्चय कहने से कोई निश्चय–स्वभावी नहीं हो जाता। शुद्ध, बुद्ध, सिद्धस्वभावी इत्यादि कथन भी निश्चय का नहीं है, वह भी व्यवहार का ही है, जैसा कि आचार्य पद्मप्रभमलधारि देव ने 'नियमसार' की टीका में कलश कहा है–

ध्यानावलीमपि च शुद्धनयो न व्यक्ति व्यक्तं सदाशिवमये परमात्मतत्त्वे।
सास्तीत्युवाच सततं व्यवहारमार्गस्तत्त्वं तदहो महदिन्द्रजालम् ॥१९९॥

श्लोकार्थ– व्यक्त रूप से सदाशिवमय, अनादि निधन, शिवस्वरूप परमात्मतत्त्व के होने पर शुद्धनय ध्यानसमूह को भी नहीं कहता है। यह ध्यानावली है, ध्यानसमूह है। इस प्रकार से हमेशा व्यवहारमार्ग कहता है– हे जिनेन्द्र ! आपका यह तत्त्व, अहो ! महा इन्द्रजालस्वरूप है।

ग्रंथकर्ता इस गाथा में यही समझा रहे हैं कि जो ज्ञानी उभय नयों से वस्तुस्वरूप को जान लेते हैं, वे राग, द्वेष, क्षोभ को प्राप्त नहीं होते। अपितु मध्यस्थभाव को धारण कर सम्पूर्ण तत्त्वों में उपादेयभूत आत्मतत्त्व को प्राप्त होते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी पुनः चालीसवीं गाथा में कह रहे हैं– राग, द्वेष, मोह, क्षोभ, काम, क्रोधादि में जिसका मन–सलिल चलायमान नहीं होता, वह परमब्रह्मरूप आत्मतत्त्व को जानने वाला अन्तरात्मा परमात्मतत्त्व को पहले प्राप्त करता है। इससे विपरीत जो राग, द्वेष, ईर्ष्या भाव से युक्त हैं, ऐसा बहिरात्मा जीव परम ब्रह्मस्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता। कारण यह है कि जो जीव कषाय–भाव में लीन है, उसे स्वभावलीनता का भान नहीं रहता। क्योंकि एकसाथ उपयोग की धारा एक ही रहती है। एक समय में दो उपयोग नहीं होते, ऐसा सिद्धान्त है। अहो ! आश्चर्य है, आत्मतत्त्वहीन जीव कर्मसिद्धान्त को भूलकर स्व की वञ्चना कर रहे हैं। वे अज्ञानतावश समझते हैं कि मैं दूसरे का अहित कर के रहूँगा। अरे ! क्या तू दूसरे का अहित कर सकता है ? उसका हित–अहित उसके पुण्य–पाप के योग से होगा, परन्तु दूसरे के अहित का विचार करने वाले का अहित प्रत्यक्ष दिखता है, यह नियम है। **अतः स्वात्मदेव का दर्शन करना है तो पर–चिंता छोड़कर निज आत्म–चिंतवन में समय लगाओ, इसी से स्व पर कल्याण होगा।**

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१११

मन-सलिल के स्थिर होने पर आत्म-रत्न दिखता है

सर–सलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियं पि जह रयणं।
मण–सलिले थिर भूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥४१॥

अर्थ: जैसे सरोवर के जल के स्थिर होने पर उसमें गिरा हुआ भी रत्न नियम से दिखाई देता है, उसी प्रकार मनरूपी जल के स्थिर होने पर निर्मल भाव में आत्मा दिखाई देती है।

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम उनकी पावन पीयूष वाणी सुन रहे हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने सूत्र दिया है कि यदि तू स्वभाव को प्राप्त करना चाहता है, स्वरूप के प्राप्ति की दृष्टि है, तो रूपों को देखना भूल जा। जब तक रूप देखता रहेगा, तब तक स्वरूप दिखनेवाला नहीं है। अभी तक जितना विनाश हुआ है, जितना ह्रास हुआ है, यह रूपों के कारण हुआ है। स्वरूप को जाना ही नहीं है, स्वरूप को पहचाना ही नहीं है और यदि कहता है कि मैं सुन्दर हूँ, पर जो सुन्दर है वह तो मिला ही नहीं। जो कभी सुन्दर हुआ नहीं है, जो कभी सुन्दर होगा नहीं, उसमें सुन्दरता की कल्पना क्यों ? सुन्दर वही है जो शिव है, जो सत्य है। चर्म सुन्दर नहीं है, सुन्दर तो आत्मा का धर्म है।

भो ज्ञानी ! हमने इस चर्म में धर्म को खोजा, पर चर्म की खोज धर्मात्मा कभी नहीं करता। विद्वान् की पहचान शरीर से मत करना। जनक की सभा में पहुँचे अष्टावक्र। उनने तो सुन रखा था कि राजा जनक विद्वानों की कीमत करता है। परंतु जैसे ही सभा में प्रवेश किया, कि सभासद हँसने लगे। अष्टावक्र खड़े हो गये और कहने लगे, 'अहो ! बहुत बड़ा धोका हो गया मुझे, मैं चर्मकारों की सभा में कैसे आ गया ? मैं तो विद्वानों की राजसभा में आया था, लेकिन आप सब हँस रहे हैं चमड़ी को देखकर। चमड़ी की पहचान तो चर्मकार ही करता है। मुमुक्षु जीव शरीर को नहीं, शरीर के अन्दर विराजमान ज्ञान–दर्शनरूप भगवती आत्मा

को देखता है। आपने शरीर को देखकर उपहास किया है।'

मनीषियो ! ध्यान रखना जीवन में, चमड़ी को देख लेने पर चरमशरीरी नहीं दिखता है, अपितु चारित्र को देखकर चरमशरीरी की पहचान होती है। चमड़ी में चरमशरीरी मत खोजना। सुन्दर अथवा असुन्दर शरीर में प्रभु को मत देखना, इन दोनों से रहित जो है, उसका नाम प्रभु है। उस प्रभु की प्राप्ति भी तभी होगी जब दोनों नेत्रों से देखोगे। जिसने नयरूपी दोनों नेत्रों को समझ लिया, उसका मन डाँवाडोल नहीं होता, दृष्टियाँ दो हैं। एक निश्चयदृष्टि और दूसरी व्यवहारदृष्टि। परन्तु रत्नत्रय मार्ग एक ही है। दोनों दृष्टियों से दो मार्ग मत देखना, मार्ग एक ही देखना। रत्नत्रय मार्ग तो एक है और इस मार्ग से विपरीत जो गमन करता है वह कभी मार्गी को प्राप्त नहीं कर सकता।

भो ज्ञानी ! आज तक तूने अपनी वेदना को नहीं देखा। तेरे एक नहीं, आठ–आठ शत्रु हैं। उनकी सेना असंख्यात–लोकप्रमाण है। उसके एक–सौ–अड़तालीस सेनापति हैं, उनके बीच तू अकेला है। आठ कर्मों के बीच में अकेली आत्मा, फिर भी तुम मुस्करा रहे हो। क्योंकि अज्ञानी कर्म को ही धर्म मान बैठा है। शत्रुओं की सेना के लिये तू धन माँग रहा है प्रभु से– 'हे भगवन् ! मेरी सम्पत्ति की वृद्धि हो, मेरे इष्ट की वृद्धि हो, मेरे पुण्य की वृद्धि हो।' ये हो क्या रहा है? यह भूल है तुम्हारी। शत्रु की सेना के पोषण करने के लिए तुम अकरमा से कर्म माँग रहे हो। बहुत खुश होकर गया था भगवान् के पास कि शायद मैं बहुत बड़ा ज्ञानी हूँ, विवेकी हूँ। हे नाथ ! मैं आपके चरणों में आया हूँ, मेरे घर में सुख–साता की वृद्धि हो जाये। पर भूल गया था कि जब–जब साता का उदय आता है, तब–तब पाप का बंध होता है। यदि तू साता के उदय में सत्य को पहचान लेता तो परमेश्वर बन जाता। **अज्ञानी साता के उदय में पाप का बंध करता है, ज्ञानी साता के उदय में सत्य की खोज** करता है। अज्ञानी पुण्य के उदय में दुकान–मकान को ही सत्य मानता है। वह तीव्र पुण्य के उदय में जहाँ भी हाथ लगा दे, फलीभूत होता है। आप मुनि भी बन जाओगे तो वहाँ भी। आप राजनेता भी बन जाओगे वहाँ यश मिलेगा, क्योंकि साता फलीभूत हो रही है। बेशरम का पेड़ बड़ा उपजाऊ होता है, जहाँ फेंक दो वहाँ ही उग आता है। कर्म ऐसे ही बेशरम हैं। इनके साथ अच्छा करो तो बंधते हैं, उनके साथ बुरा भी करो तो बंधते हैं। कर्मसिद्धांत कहता है कि जितने भी परिणामों के विभाव करोगे, वे सब बंध करायेंगे अर्थात् जितने भी कर्म के उदय से भाव करो,

उतने कर्म का बन्ध होता है। अब देखना, लंकेश के पास तीव्र पुण्य था, सैकड़ों विद्यायें सिद्ध की थीं उसने। सोचो, इंद्र–जैसे सम्राट को परास्त किया था उसने, क्योंकि साता तीव्र थी। पर वह जीव साता के उदय में सत्य को खो गया और नियम से असाता को प्राप्त हो गया।

भो ज्ञानी ! एक जीव श्वास को स्वात्मसिद्धि में लगाता है और एक जीव श्वास को स्वार्थ की सिद्धि में लगाता है। जो स्वात्मसिद्धि में लगा रहा, उसका नाम मुमुक्षु है और जो स्वार्थ–सिद्धि में लगा रहा, उसका नाम बुभुक्षु है। यह श्वास तुम्हें दु:ख देकर जायेगी, परन्तु सत्य नहीं दिखा पायेगी। जितनी लम्बी श्वास होगी, उतना लम्बा संसार होगा। ज्ञानी की श्वासें मंद–मंद चलती हैं और अज्ञानी की श्वासें बढ़ जाती है। चिन्ता में बैठना तो श्वास बढ़ जायेगी, वेग में बैठना तो श्वास बढ़ जायेगी और निर्वेग में बैठोगे तो श्वास मंद हो जायेगी। स्वरूप में चिन्तन करने वाले योगी की श्वास मंद–मंद चलती है। जिसकी श्वास मंद हो गयी, उसकी वासना भी मंद हो जायेगी– यह सिद्धांत है। संसार के वास से निर्वास होना चाहते हो तो श्वासों को मंद कर दो। आप तो णमोकार मंत्र की आराधना करना, भगवान् का नाम लेना और जितने गहरे में चले जाओगे, अनुभव करना कि श्वास मंद पड़ जायेगी जितना गहरा चिन्तन मनन दिखेगा। श्वास पर संसार एवं मोक्ष टिका हुआ है। कर्मों की सेना बड़ी विचित्र है। एक श्वास तुमने ली, पता नहीं कितने शत्रु तुमने छोड़ दिये।

भो चेतन ! आप कभी शिशु थे, युवा थे, आपको बूढ़ा किसने किया ? श्वासों ने किया कि समय ने किया ? भो ज्ञानी ! समय तो समय है, परन्तु समय की माप श्वासों ने की। अहो ! सर्वज्ञ का ज्ञान तो देखो, जिन्होंने व्यक्ति की श्वासों को भी माप कर बता दिया, परिणामों को भी माप कर बता दिया। दुनियाँ तो हड्डी–पसलियों को नापती है, पर उन पसलियों में बहनेवाली श्वास को मापने वाला एकमात्र जैनशासन है।

इस गाथा में आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि यदि सँमलना हो तो सँभल जाओ और अब दूसरों को मत समझाओ, अपने आप को समझा लो। भैया ! जब भी समझ आती है, अपने द्वारा ही आती है। आप स्वयं अनुभव करना, यदि आपके यहाँ कोई अहितकर घटना घट जाये तो हजारों लोग समझाने आते हैं, तब समझ में नहीं आती और धीरे–धीरे जब स्वयं की कषाय मंद पड़ती है तो स्वयं समझ में आ जाती है। अहो ! रामचन्द्रजी जैसे क्षायिक सम्यग्दृष्टि जीव अपने भाई लक्ष्मण के शव को लिये छ: महीने तक घूमे। लोगों ने

समझाया। सेनापति, पुरजन, परिजन समझा रहे हैं, लेकिन किसी के समझाने पर समझ नहीं आई। जब छः महीने कषाय के पूरे हो गये तो समझ आ गई – मैं क्या कर रहा हूँ ? मैं क्षायिक सम्यग्दृष्टि और भाई के शव को लिए घूम रहा हूँ ! माँ जिनवाणी कहती है – अंदर का गुरु निर्मल है तो बाहर का गुरु कार्यकारी हो सकता है और अंदर का गुरु कहीं भटक गया तो बाहर के गुरु काम में नहीं आ सकेंगे। दूसरी दृष्टि पर ध्यान रखना कि जब तक गुरूर नहीं मरेगा, तब तक गुरु मिलने वाले नहीं। इसलिए अंदर के गुरूर को तो मारना पड़ेगा। अंदर का गुरूर अर्थात् अहंकार, अंदर का गुरूर अर्थात् ममकार। जब तक अहंकार–ममकार का विनाश नहीं होगा, तब तक किसी गुरु के चरणों में तुम्हारा शीश झुक नहीं सकता। पहले गुरूर का वियोग करो, फिर गुरु का मिलन करो। गौतम को तीर्थंकर–जैसा गुरु नहीं मिला, क्योंकि स्वयं में गुरूर बैठा था और जिस क्षण मानस्तम्भ के दर्शन हुए कि गुरूर भाग गया और गुरु मिल गया। अज्ञानी कहे गुरु भाग गया, ज्ञानी कहे गुरु मिल गया। अतः पहले गुरूर को भगाओ, फिर गुरु को मिलाओ। पहले अहं के गुरूर को भगा दो, फिर श्रद्धा के गुरु मिल जायेंगे। श्रद्धा थी तो मिट्टी में द्रोणाचार्य झलक गये। यदि निर्मल आस्था है तो इस चर्म की कुटिया में तेरा प्रभु बैठा है, परन्तु तेरा अहंकार अंदर के गुरु को देखने नहीं दे रहा है।

आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि गुरु से मिलना है तो मन के प्रभु को छोड़ दो। गुरु है तो मन है और शत्रु है तो मन है। ईश्वर है तो मन है और अईश्वर है तो मन है। मन निर्मल है तो भगवान् ही भगवान् हैं; मन विकारी है तो व्यसन ही व्यसन हैं। हे मन ! तू मेरा मित्र है, नरक की वेदना में तूने साथ दिया है, स्वर्ग के सुखों में तूने साथ दिया है, तो हे मन ! संयम के साथ तू मेरे साथ बैठ, मैं हर समय तेरा उपकार करूँगा। देखना मन की चंचलता, संयम की बात करो तो दूर भागता है। यह मन पानी की धार है। जैसे, पानी को ऊपर ले जाने के लिए टिल्लू पंप लगाना पड़ता है, परन्तु नीचे ले जाने के लिए विशेष परिश्रम नहीं करना पड़ता। वैसे ही, हे अधम मन ! तुझे चढ़ाने के लिए, परिणामों को निर्मल करने के लिए बहुत पुरुषार्थ करना पड़ता है, पर नीचे भोगों में जाने के लिए क्षण नहीं लगता, तुरन्त टपक जाता है। मन बड़ा धोकेबाज है, एक माला देने बैठता है कि तुरन्त भाग जाता है। अरे ! जब तेरा मन तेरे साथ हो जायेगा तो दुनियाँ को साथ करने की आवश्यकता नहीं होगी। संकट उसी के सिर पर है, विपत्तियाँ उसी के सिर पर हैं, जिसका मन उसके साथ नहीं है।

भो ज्ञानी ! यदि किसी को मित्र बनाना चाहते हो तो आज से बाहर के मित्र बनाना बंद कर दो। अपने मित्र से बात करना प्रारम्भ करो। हे मित्र ! अगर तू मेरे साथ हो गया तो संसार के किसी मित्र की मेरे लिए आवश्यकता नहीं है। अतः, यदि भगवती आत्मा को देखना चाहते हो तो स्थिर हो जाओ। जब सरोवर में पानी स्थिर हो जाता है तो नीचे गिरा हुआ रत्न/मणि भी दिखने लगता है और जब तक पानी में लहरें उमड़ रही है तो सतह में पड़ा हुआ सिक्का भी नहीं दिखेगा। इसी तरह जब तक तुम्हारे अंदर में विषय–कषायों की लहरें बढ़ती रहेंगी, तब तक चेतन–मणि दिखनेवाली नहीं है। भो ज्ञानी आत्माओ ! तुम चैतन्य परमात्मा को देखना चाहते हो तो पहले लहरों और धाराओं को तो बंद करो। मन की लहरें समाप्त नहीं हो रही हैं, अपितु मन की तरंगें विशाल हो रही हैं, तो तू भगवती आत्मा को नहीं निहार सकेगा।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

q q q

निज शुद्धात्म-स्वरूप ध्यान के योग्य

दिट्ठे विमलसहावे णियतच्चे इंदियत्थपरिचत्ते ।
जायइ जोइस्स फुडं अमाणुसत्तं खणद्धेण ।।४२।।

अर्थः निर्मल स्वभाव वाले, इंद्रियों के विषयों से रहित निज आत्मसत्त्व के दिखाई देने पर, आधे क्षण में योगी के अमानुषपना स्पष्ट प्रकट हो जाता है।

णाणमयं णियतच्चं मेल्लिय सव्वे वि परगया भावा।
ते छंडिय भावेज्जो सुद्धसहावं णियप्पाणं ।।४३।।

अर्थः तत्त्व को छोड़कर सभी भाव परगत हैं, उन्हें छोड़कर शुद्ध स्वभाव वाले निज आत्मा की ही भावना करनी चाहिए।

मनीषियो !

आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही सुन्दर सूत्र दिया है कि विश्व में कोई शत्रु नहीं, कोई मित्र नहीं। मन में मैल है, तो मित्र भी शत्रु है और मन में मैल नहीं है, तो शत्रु भी मित्र है। मन प्रसन्न है, तो ग्रीष्मकाल की तपन भी प्रभावहीन हो जाती है। मन में कालुष्य है, तो चन्द्रमा की चाँदनी भी सुखचैन नहीं दे सकती। मन निर्मल है, तो सब निर्मल है और मन समल है, तो सब मल है। आपने देखा होगा– अपने भी अपने रहते हैं और पराये भी अपने रहते हैं। कब? भो ज्ञानी ! तन मिले या न मिले, सिर्फ मन मिल जाये। आचार्य देवसेन स्वामी ने मन की प्रधानता से वर्णन करते हुए कहा है कि मानव से भगवान् बनाने की विद्या तन से नहीं होती, मन से होती है। विशुद्धि का उद्भवन तन में नहीं होता, मन में होता है। उल्लास भी मन में होता है और विषाद भी मन में ही होता है। भो ज्ञानी ! संसार के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये सेना की जरूरत होती है, परन्तु कर्म–शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए मन की एकाग्रता परम आवश्यक है।

अतएव जब तक निज को नहीं पहिचाना, जब तक निज को नहीं जाना, तब तक जिनेन्द्र की प्राप्ति संभव नहीं है। जब तक सागर अथवा सरिता में लहरें उत्पन्न हो रही हैं,

तब तक उसमें पड़ा मोती मिलने वाला नहीं है। इसी प्रकार, जब तक मन क्लेश से मुक्त नहीं होगा, तब तक चैतन्य–मणि दिखने वाली नहीं है।

भो ज्ञानी ! लोक में मेरा कोई शत्रु नहीं है, मेरा कोई प्रिय नहीं है। योगी की यही दशा है, योगी का यही चिंतन है। जहाँ तलवार से वार किये जा रहे हों और दूसरी ओर आरती उतारी जा रही हो, परन्तु योगी दोनों में साम्यदृष्टि रखते हैं, क्योंकि उन्हें ज्ञात है कि सत्यता कुछ–और ही है। जीवन में जितनी भी दुर्घटनाएँ घटती हैं, वह मोह की काली रजनी के काल में ही घटती हैं। तब किससे राग, किससे द्वेष ?

भो ज्ञानी ! जीवन में देह की बहुत चर्चा की, देश–प्रदेश की बहुत चर्चा की, परन्तु स्वदेश की चर्चा कभी नहीं की। पता नहीं मैं कितने देशों में घूम चुका हूँ, कितने प्रदेशों में घूम चुका हूँ, परन्तु स्वदेश/स्वक्षेत्र का ध्यान नहीं। कितने–कितने क्षेत्रों में मैंने विहार किया, कितने भूखंडों को अपना स्वामित्व दिलाया है, पर एक भी भूखंड ने नहीं कहा कि मैं तेरा हूँ। भो ज्ञानी ! भूल जाओ दुनियाँ की बात। कम–से–कम एक क्षण को स्वदेश पर दृष्टिपात तो करो। हमने शरीर में ही आत्मा की खोज की है, शरीर में सिद्ध–प्रदेश की खोज की है, परन्तु इन प्रदेशों से हटकर जो है वह अपना स्वप्रदेश है। अतः अभी तक आत्मा के मध्यप्रदेश में प्रवेश ही नहीं किया है।

कोई भूमि के एक टुकड़े के लिए रो रहा है, तो कोई एक कागज के टुकड़े के लिए रो रहा है, तो कोई एक चमड़ी के टुकड़े के लिए रो रहा है। परन्तु जो अखण्ड–चैतन्य–पिंड है उसकी ओर किसी ने दृष्टिपात ही नहीं किया। अतः अखंड–ज्योति को देख। मन ही तेरा परमेश्वर है, क्योंकि जब तू भगवान् बनेगा, तब मन का ही संयोग होगा। असंज्ञी भगवान् नहीं बनता, संज्ञी ही भगवान् बन सकता है। हे प्रभु! मैं संज्ञी नहीं बनना चाहता, मैं असंज्ञी भी नहीं बनना चाहता, मुझे अशरीरी/सिद्ध बनना है।

हे मनीषियो ! **यदि सिद्ध बनना है, तो अपने मन को मित्र बनाना। जिस दिन मन तुम्हारा मित्र बन जाएगा, उस दिन किसी गुरु और प्रभु के खोज की आवश्यकता नहीं रहेगी।** क्योंकि मन मित्र ही मेरा सबसे बड़ा गुरु होगा, जिसकी दौड़ बहुत लम्बी है। एक क्षण में तो वह सारे विश्व की यात्रा कर लेता है। कितना शक्तिशाली मित्र है, एक क्षण में तीनलोक में घूम लेता है। अतः मन को मित्र बनाओ और अरहंत प्रभु को पाओ। अरहंत–दशा में घूमना नहीं पड़ता, उनके तो ज्ञान में चराचर झलकता है। अज्ञानी सोचता है, विचारता है, परन्तु

परम वीतरागी ज्ञानी सोचता भी नहीं, विचारता भी नहीं, फिर भी ज्ञाता–दृष्टा होता है।

देखो तो, कभी आपके शरीर में पीड़ा है, तो कभी मन में। कभी पिता की पीड़ा देखता है, कभी मित्र की, तो कभी परिवार की ही पीड़ा देखता है। भो ज्ञानी ! सभी पीड़ाएँ समाप्त हो जायेंगी, बस एक–मात्र मन की मलिनता अर्थात् मोह के प्रपंच को निकालकर फेंक दो। ध्यान रखो, जब तक आपकी दृष्टि बंद रहेगी, हृदय संकुचित होंगे, तब तक वीतरागता की चेतना का कमल खिलेगा ही नहीं। जिस दिन तुम्हारे हृदय की संकुचित धारणा समाप्त हो जायेगी, समझ लेना कि अब नया मुमुक्षुआत्मा खिल चुका है। वीतरागवाणी यह कहती है कि तुम कमल की भाँति खिल जाओ। अपने हृदय–कमल को तुम वीतरागवाणी से दीक्षित करो, संकुचित धाराएँ अलग करो। हृदय/मन की मलिनता रूपी दीवालों को तोड़ दो, भेद दो। मुमुक्षु जीव को मात्र जीव–तत्त्व ही झलकता है, पुद्गल की पत्तियाँ नहीं दिखती, उसे तो मात्र चेतन भगवतीआत्मा दिखती है और जिसे भगवतीआत्मा दिखती है, उसे दीवालें तो झलकती ही नहीं। भो ज्ञानी ! हमारे अहंकार–ममकार की दीवालें अंदर में विराजमान प्रभु को दिखने नहीं देती। प्रभु की वीतरागवाणी एवं गुरुओं की देशना कह रही है कि अखंड आकाश में कोई भेद नहीं है। जिसमें वात्सल्य का नीर भरा हो, प्रेम की अविरल गंगधारा बह रही हो, ऐसी आत्माओं में ही वीतरागता का कमल खिलता है। परन्तु वात्सल्य से जिनका हृदय–सरोवर शुष्क हो चुका हो, वहाँ पंछी भी छोड़कर भाग जाते हैं, हंस भी नहीं बैठता है, और–तो–और बगुला भी नहीं बैठता, तब वहाँ चैतन्य–प्रभुआत्मा कैसे बैठेंगे? इसलिये इस मन को शुष्क नहीं कर लेना।

भो मनीषी ! अपने राम खुश हैं, क्योंकि अपने पास ऐसी वस्तु है जो कभी नष्ट होने वाली नहीं है, वह ध्रुव है। इसलिये अपनी दृष्टि को बदलो। तेरा प्रभु तो कहीं भागने वाला नहीं है, वह चौबीस घंटे तेरे साथ है, परन्तु मन को प्रसन्न रखना, यही आत्मसार है। आत्मानुभूति की ओर जाने का एक यही पाथेय है। जब कोई दूर यात्रा को जाता है तो कनक–कलेवा लेकर जाता है। ऐसे ही मुमुक्षु जीव भी रत्नत्रय का पाथेय लेकर शिवालय की ओर चलता है। रत्नत्रय ही तेरा परम कलेवा है। शरीर के कलेवा तो बहुत खाये हैं, लेकिन आत्मा का कलेवा लेकर चलो, कहीं भटक भी जाओगे तो वह उपयोग में आ जाएगा। वीतरागवाणी कहती है कि भटकने में घबड़ाओ मत, यह तो कर्म का विपाक है। इसलिए शास्त्रों से सुनना और प्रभु से बार–बार कहना कि मेरी इंद्रियाँ सुरक्षित रहें, मन सुरक्षित रहे। क्योंकि जैन–दर्शन इंद्रियों

को कुचलकर जितेन्द्रिय नहीं बनाता है। समाधि में इंद्रियाँ व मन ही काम में आते हैं। कान तुम्हारे फूट गये तो णमोकार मंत्र किससे सुनोगे ? आँखें फूट गई तो जिनेन्द्रदेव को किससे देखोगे? चलना बंद हो गया तो अरहंत की वंदना कैसे करोगे ? भो ज्ञानी ! शरीर दुरुपयोग के लिये नहीं मिला है। वह हाथ, हाथ नहीं, सर्प का फण है, जिसने एक योगी के हाथ पर ग्रास नहीं रखा।

ग्रंथराज रणयसार जी में लिखा है कि **वह भवन नहीं, श्मशान है, जिस घर में निर्ग्रन्थ योगी के चरण नहीं पड़े हों। वह मस्तिष्क नहीं, पाषाण–खंड है, जो पंचपरमेष्ठी के चरणों में नहीं झुका।** अपने मन में मार्दव, आर्जव आदि दस धर्मों को प्रकट करो, तभी तुम्हारा कल्याण होगा। जिसे तत्त्वज्ञान की प्यास है, वह नियम से प्रयास करता है। जब प्यास नहीं होती, तो प्रयास भी नहीं होता। आपको वीतरागवाणी पर पूर्ण विश्वास हो चुका है कि भौतिक द्रव्यों में सुख नहीं है, तभी तो प्रवचन सुनने चले आते हो। धर्म–धर्मात्मा की खोज वही करता है जिसके अंदर में वीतराग–धर्म की प्राप्ति की प्यास होती है।

आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि जिसने निर्मल–विमल स्वभाव को देखकर इंद्रिय–विषयों का परित्याग कर दिया, वही आत्मतत्त्व को देखने लगेगा तथा एक क्षणमात्र में स्वसमय को प्राप्त कर लेगा, अर्थात् सर्वज्ञ प्रभु को प्राप्त कर लेगा। जब तू इंद्रिय–विषयों में अपरिचित हो जाएगा तो मन में मानुषत्व भाव तेरा समाप्त हो जाएगा। इसलिये आप प्रयास करो अपरिचय का। जितना परिचय बढ़ेगा, आप अपने आप से उतने दूर होते जाओगे। और जितने अपरिचित होते जाओगे, उतने स्वयं से परिचित होते जाओगे। इसलिये आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है कि, योगी ! जो जनसम्पर्क है वह चित्त को स्पन्दित कर देता है, परिस्पंदित कर देता है। लोकदृष्टि, लोक व्यापार, लोकपरिचय से तुम अपरिचित रहो, यदि तुम स्वयं से परिचित रहना चाहते हो तो। क्योंकि संपर्क ही स्वभाव का शत्रु है। दुग्ध का धर्म शीतल–मधुर है, किंतु अग्नि पर रख दो तो निर्मल–मधुर दुग्ध उबलने लगता है तथा जलाने लगता है। तेरा धर्म तो शीतल है, पर तूने विषयों का संसर्ग किया, इसलिये तू एक–दूसरे को छलता है और छला जाता है। एकमात्र शुद्ध–स्वभाव ही निज आत्मा है, उस ओर लक्ष्य करो, तुम भी परमानंदस्वभावी, चैतन्यमालिनी, ज्ञानस्वभावी भगवती–आत्मा को प्राप्त कर लोगे।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

आत्मध्यानी निजानंद-भोगी

जो अप्पाणं झायदि संवेयणचेयणाइ उवजुत्तो ।
सो हवइ वीयराओ णिम्मलरयणत्तओ साहू ॥४४॥

अर्थ: जो स्व–संवेदन चेतनादि से उपयुक्त साधु आत्मा को ध्याता है, वह निर्मल रत्नत्रय का धारक वीतराग हो जाता है।

दंसण–णाण–चरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणइ ।
जो झायइ अप्पाणं सचेयणं सुद्धभावट्ठं ॥४५॥

अर्थ: जो योगी सचेतन और शुद्ध भाव में स्थित आत्मा को ध्याता है उसको इस लोक में निश्चय दर्शन–ज्ञान–चारित्र कहते हैं।

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। देवसेन स्वामी ने बहुत सुंदर सूत्र दिया । हे ज्ञानी ! ज्ञान के स्वरूप को समझना है तो पहले अज्ञान को समझो। ज्ञान तो तेरा परम मित्र है ही, परंतु यदि शत्रु से भी मित्रता हो जाये तो कितना अच्छा होगा, तेरी शक्ति बढ़ जायेगी। जो मित्र है वह तो मित्र है ही, शत्रु को भी मित्र बनाना है। अतएव या तो आप अपने गुणों में सामने वाले को मिला लो या उसके गुणों में स्वयं मिल जाओ। यदि सामनेवाला सद्गुणी है तो आप अपने दुर्गुणों में बदल दो और यदि सामनेवाला दुर्गुणी है, तो उसको आप अपने सद्गुणों में बदल दो। अहो ! मिठाई जब तुलती है तो साथ में कागज भी तुलता है। देखो, मिठाई के संयोग से कागज की भी कीमत हो गई। भो ज्ञानी आत्माओ ! ऐसे ही माँ जिनवाणी कह रही है कि, हे पुद्गल। यह तूने ज्ञान–दर्शन स्वभावी आत्मा का संयोग किया है, अतः संसार में तेरी भी पूजा हो रही है। श्रमणसंस्कृति की लीला तो देखो, मल की भी पूजा हो जाती है। यदि एक बाल भी किसी साधु के आहार में आ जाये तो अन्तराय हो जाये, परन्तु संयोग के कारण तीर्थंकर भगवान् के केश सौधर्म इन्द्र रत्नों के

पिटारे में रखकर क्षीरसागर में समर्पित करने जाता है। एक पुण्यात्मा जीव के संयोग से अथवा एक पवित्र आत्मा के संयोग से मल भी पूज्य हो गया। इसलिये आचार्य् समंतभद्र स्वामी कह रहे हैं कि –

स्वभावतोऽशुचौ काये, रत्नत्रयपवित्रिते ।
निर्जुगुप्सा गुण प्रीतर्मता निर्विचिकित्सता ॥१३॥ रत्नकरण्ड श्रावकाचार॥

निर्विचिकित्सा अंग यही कहता है कि यह शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है, यह तो मल का पिण्ड है। इस शरीर को यदि खोलकर देख लो तो स्वयं भी भोजन नहीं कर सकोगे। जिस दिन आपको इसका सत्यज्ञान हो जायेगा, उसी दिन आँख उठाकर नहीं देख पाओगे। जब तक मल की थैली में राग रहेगा, तब तक मल 'मल' ही रहेगा। मुमुक्षु जीव वह होता है जो राग–द्वेष के कीचड़ में पड़कर भी अपनी आत्मा को कमल की भाँति बाहर निकाल ले जाता है कुंदकुंद देव कह रहे हैं– कमलपत्र पर पड़ी पानी की बूँद अज्ञानी देख रहा है, परन्तु पत्र पर पड़ी होने पर भी यह पत्ररूप नहीं है ज्ञानी की दृष्टि में। इसी तरह यह आत्मा शरीर में होने पर भी शरीररूप नहीं है। यदि तूने इसे शरीररूप मान लिया, तो अशरीरी का तुझे भान ही नहीं होगा। परन्तु ध्यान रखो, देह की दृष्टि करते रहे तो विदेह का मार्ग बंद हो जायेगा और जब विदेह का मार्ग खुलेगा, तो देह की दृष्टि को टालना ही होगा।

बेटा कितना ही शूरवीर हो, सामान्य रूप से माँ कभी आज्ञा नहीं देती कि, बेटा ! तुम युद्ध करने जाओ; क्योंकि माँ को तो शत्रु का बल दिखता है, बेटे का बल नहीं दिखता। यह राग की माँ हर समय यही आवाज देती है कि, 'बेटा ! तुम अभी कमजोर हो और कर्म–शत्रु प्रबल है, तुम परास्त हो जाओगे।' लेकिन यह ध्यान रखना कि सिंह का बच्चा कितना ही छोटा हो, हाथी के दाँतों को तोड़ देता है। हे चैतन्य ज्ञानघनमूर्ति ! तू अपनी ज्ञानशक्ति को क्यों नहीं निहार रहा है ? ये कर्म के हाथी, इनके दाँत अपने आप टूट जायेंगे, लेकिन माँ की अनुमति लेते–लेते कभी निकल नहीं पाओगे। माँ का काम तो आँसू बहाना है और आप माँ के राग में बैठे–बैठे सब कुछ नाश होते देख रहे हो। शत्रु अपनी सेना सहित विराजा है और शत्रु भी कौन है ? जो तुम्हारे अशुभ परिणाम हैं, वह हैं अंतरंग के शत्रु।

भो ज्ञानी ! निज घर में रहने से घबराते हो और पर घर में तुमने कितनी विषमतायें सहन की, पैसा कमाने के लिये कितना सहन किया है ? कितने लोगों से समझौते किये हैं ? ओहो

! संसार–मार्ग को चलाने के लिये तू भद्रता भी अपना लेता है और मोक्षमार्ग के लिये अपनी कषायों को मंद करने के लिये झिझकता है। इसलिए तो प्रवचन हैं। परन्तु वास्तव में प्रवचन क्या है? जो चिंतन तुम्हें पर से हटा दे एवं स्व की ओर ले जाये, उस चिंतन का नाम है प्रवचन। अतः समय तो जा रहा है– चाहे अच्छा सोचो, चाहे बुरा। चाहे तू भोगवृत्ति में चला जाये, चाहे योगवृत्ति में, चाहे ठूँठ होकर शून्य में खड़ा हो जाये, लेकिन आयुकर्म तो क्षीण हो रहा है।

एक जीव मार्ग में जा रहा था। चलते–चलते पैर में काँटा चुभ गया। जड़बुद्धि जड़ पर ही कुपित हो गया। काँटा पैर में चुभा, इसमें काँटे का क्या दोष ? उसका धर्म तो चुभना था और तुम्हारा धर्म चार हाथ भूमि को देखकर चलना था। ईर्यासमिति किसकी थी? काँटे की नहीं थी। विवेकपूर्वक आपको चलना चाहिए था। यहाँ तो काँटा चुभा, वहाँ कषायों के काँटे और तीव्र चुभ गये। कुपित किस पर हो रहा है ? क्रोध काँटे पर नहीं आना चाहिए। क्रोध तो प्रमाद पर आना चाहिए, क्योंकि वह तो बेचारा अचेतन था। आप उठा भी तो सकते थे अथवा आप देखकर भी तो चल सकते थे। पौद्गलिक पिण्डों को दोष मत दो, इनको दोष देकर स्वच्छंदी मत बनो। आपके उपादान में कमजोरी है, अपने निमित्तों को दोष देकर तू अपने उपादानों को खो बैठा है। निमित्त काम तो करता है, यह सत्य है, परन्तु ध्यान रखो, इससे तुम्हारा कल्याण होनेवाला नहीं है।

यदि निमित्त ही सब कराते हैं, तो कभी भी मुनिदशा प्रगट नहीं हो सकती। क्योंकि निमित्त ही कार्यकारी होते, तो उपादान कभी जागेगा ही नहीं। अहो ! जब तुम्हारे उपादान की निर्मलता होगी, तब ही ये निमित्त बनेंगे।

भो चेतन ! बेटे को डाँटो मत, पुचकार कर समझाओ। भले ही आपका उद्देश्य बेटे को समझाने का हो, परन्तु जब तुमने डाँटा उस समय जितने अंश में तुम्हारे कषायपरिणाम बने, उतने अंश में तो कर्म–स्थान तुम्हें नियम से मिलेंगे, यह जैन–सिद्धान्त है। बिल्ली जब अपने बच्चे को उठाने जाती है, तो दूसरा मुख बनाकर नहीं जाती, मुख वही होता है, तब वह माता ही कहलाती है। वही बिल्ली जब चूहे को उठाती है, तब वह हत्यारी कहलाती है। अतः हम प्राणिमात्र के लिये माँ का हृदय बनकर जियें। **पर्याय और शब्दों को लेकर परिणाम विकृत मत करो।** बिल्ली ने जब बच्चे को मुख से उठाया, तब उसके अंदर ममत्व था, दया थी,

करुणा थी। यही करुणा यदि चौबीस घंटे रहने लग जाये तो, हे ज्ञानी ! तुझे बिल्ली कोई नहीं कहेगा, तुझे हर कोई माँ ही कहेगा।

भो चेतन ! ममत्व बाहर नहीं, अंदर होता है। अतः निमित्तों पर मत जियो, उपादान पर जियो। अहित शत्रु का नहीं, स्वयं का है। हित शत्रु का नहीं, स्वयं का है। निज के हित में यदि पर–हित हो जाये, यह तो श्रेष्ठतम बात है। आप जिनवाणी सुन रहे हो और अंदर से पिघल भी रहे हो। यह पिघलन तुम्हारे घर तक जाना चाहिए। कभी दूध का भरा गिलास बच्चे से गिर जाये, यदि तुमने बच्चे को डाँट दिया, तो क्या गिलास भरेगा? द्रव्यदृष्टि कह रही है कि जब बेटे ने दूध फैलाया, तो ज्ञानी क्या सोचेगा ? दूध अपने चतुष्टय से कभी बाहर गया ही नहीं। उसका धर्म विकृत होना था, धक्का लगना था बेटे से। अब भरेगा तो है नहीं। परन्तु कलुषित होकर उसके परिणामों को और विकृत कर दिया तथा स्वयं के परिणाम भी विकृत कर लिये। अरे ! जितने समय में तुमने डाँटा, गाल पर चाँटा मारा था, उतने समय में तुम दूध को भर लेते तो जो दूध फैल रहा था, सूक्ष्म जीवों की जो हिंसा हो रही थी, वह बच जाती। अतः विवेक से देखना ही जिनवाणी है। ऐसी स्थिति में बेटा स्वयं आकर तुम्हारे चरण स्पर्श करता और कहता–पिताजी ! हम अब देखकर काम करेंगे। अहो ! डाँटो मत, तुम उसे सुधरने का मौका तो दो। माँ जिनवाणी कह रही है– तुम दण्ड मत दो, उसको आपने दण्ड दे दिया तो किसी का वध कर दिया। सुधार कहाँ हुआ ?

अब तत्त्वसार का प्रयोग घर में होना चाहिए। देखो, कैसी–कैसी घटनायें तुम्हारे सामने आती हैं और आप अपने कितने परिणामों को रोक कर रखते हो। भो चेतन ! परिणामों को रोकना नहीं है, क्योंकि इससे विघात होता है। वह सहजता से निकलता है तो कोई दिक्कत नहीं है। जैसे नदी का बाँध बाँधने के बाद टूट गया तो नगर के नगर ध्वस्त हो जाते हैं। ऐसे ही कषाय को बाँधकर नहीं रखना, कषाय को तो समता में परिवर्तित करके बहा दो, सहजता लाओ। कषाय को पीना, कषाय को निकालना और कषाय का उपशमन कर देना– इन तीनों में श्रेष्ठ है उपशमन कर देना। आचार्य कुंदकुंद की वाणी को ध्यान में रखना– यदि सामनेवाला ज्ञानी होता, तो ऐसी अज्ञानता करता क्यों ? आपको उदाहरण दे रहा हूँ– आचार्य श्री शंतिसागर जी महाराज दक्षिण भारत से उत्तर की ओर विहार करते समय एक नगर में सामायिक कर रहे थे, तभी वहाँ के लोगों ने आक्रमण कर दिया। पुलिस आ गयी और

महाराज से उन लोगों को पकड़ने हेतु आज्ञा माँगी। वीतरागी श्रमण बोले– आप इन सबको क्षमा कर दो, क्योंकि इन्होंने पत्थर नहीं फेंके, इनकी कषायों और अज्ञानता ने फेंके हैं। परिणाम यह निकला कि जैसे ही योगी ने कहा– इन्हें क्षमा कर दो, वे पत्थर फेंकने वाले लोग चरणों में सिर टेकने लगे और परम भक्त बन गये, सम्यग्दृष्टि बन गये। यह सब शक्ति धर्म की है। ऐसे निर्मल भावों से जीने वाला जीव ही निर्मल सल्लेखना कर सकता है। इस प्रकार जितनी निर्मलता भावों में बनेगी– वही सल्लेखना का मार्ग है। बड़े–बड़े ज्ञानी जीव भी अंतिम समय में पानी माँगते–माँगते चले गये और एक अज्ञानी, अनपढ़ जीव अंतिम समय में जिनवाणी पीते–पीते चला गया। जिसने जीवन भर पानी तो पिया था, पर अंतिम समय में कहता है कि भगवन् ! मैंने जड़–जल को बहुत पिया, अब मुझे मात्र जिनवाणी का नीर चाहिए है।

भो ज्ञानी आत्माओ ! आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि व्यक्ति के सामने निर्मल स्वादिष्ट भोजनसामग्री रखकर उसे मारना प्रारंभ कर देना और कह देना कि अगर भोजन नहीं करोगे तो गला निकाल लिया जायेगा। वह व्यक्ति भयभीत होकर भोजन कर रहा है। यह पेट तो भर रहा है, परन्तु स्वाद का अभाव है। बस, यही दशा जीव की है। यदि रत्नत्रय धर्म के स्वादिष्ट व्यंजन तेरे जीवन में रखे हों और विषय–कषाय के चाबुक ऊपर से पड़ रहे हों, उस समय सत्य–स्वरूप की अनुभूति नहीं होती और लगता है कि जो कुछ है, बस, कषायों में ही आनंद है। चाबुक लगना बंद हो जाये, यही परमानंद है। संवेगपूर्वक जो संयम का अनुभव होता है, वही चारित्र है। सेवा करना, यह कर्त्तव्य श्रावक का है; पर समता परिणाम रखना, यह कर्त्तव्य साधक का है। यदि श्रावक की सेवा में कमी आ जाये, तो उसकी सेवा में कमी मत समझो, इसे अपनी समता की परीक्षा समझो। यह मुमुक्षु का लक्ष्य होता है, क्योंकि हमारा धर्म तो आत्मा को ध्याना है। जब आत्मा चेतना उपयोग से युक्त होगा तो क्या भक्त, क्या अभक्त ? इसलिए यदि तू अपना कल्याण चाहता है तो जीवन में योगी के चरणों में रहना, योगी के कानों में नहीं जाना, क्योंकि भक्त का स्थान परमेश्वर के चरणों में होता है। जो कर्मक्षय चाहता है, वह परमेष्ठी के चरणों में रहता है तथा जो मान–प्रतिष्ठा चाहता है, वह कानों तक पहुँच जाता है।

भो ज्ञानी ! समता का अभ्यास तो श्रावक–अवस्था से ही होता है, इसलिए श्रावक का

सामायिक शिक्षाव्रत होता है। समता में जीना योगी का धर्म है, जिनका सामायिक–चारित्र चेतना उपयोग से युक्त है, ऐसे निर्मल रत्नत्रय की आराधना करनेवाला साधु ही वीतरागता को प्राप्त होता है। जो अपने आपसे, अपने आपको वेदन कर रहा है, पर के वेदन को छोड़ दिया है– यही योगी की दशा है। अतः सबसे मुक्त होने पर ही आत्मसंवेदन की अनुभूति को प्राप्त किया जा सकता है। हमारे यहाँ साधु पूज्य नहीं है, हमारे यहाँ रत्नत्रयधारी साधु पूज्य है। वे तो तीन–कम–नौ कोटि मात्र हैं, जो कि छठवें गुणस्थान से चौदहवें गुणस्थान तक के हैं तथा पूरे अढ़ाई द्वीप में हैं।

आचार्य श्री देवसेन स्वामी कह रहे हैं– जब तक तू दर्शन–ज्ञान–चारित्र में लीन नहीं है/होगा, तब तक पर–समय है और जब तू दर्शन–ज्ञान–चारित्र में लवलीन हो जायेगा, उसी समय तू स्वसमय में चला जायेगा। परन्तु तभी जायेगा, जब भावलिंग तथा व्यवहार–लिंग से युक्त होगा। व्यवहार–लिंग के अभाव में निश्चय–लिंग होता ही नहीं है। पिच्छीकमण्डल लेते–लेते ढेर लग गये, पर कल्याण नहीं हुआ। अतः पिच्छी कमण्डल लेने मात्र से कल्याण नहीं होगा। परन्तु पिच्छी–कमण्डल लिये बिना भी कभी कल्याण नहीं होगा, यही निश्चय–व्यवहार दृष्टि है, विवाददृष्टि नहीं है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

भावश्रुत एवं देह-विरक्ति ध्यान-सिद्धि का मार्ग

झाणट्ठिओ हु जोई जइ णो संवेई णियय–अप्पाणं।
तो ण लहइ तं सुद्धं भग्ग–विहीणो जहा रयणं ॥४६॥

अर्थ: ध्यान में स्थित योगी यदि निश्चय से अपने महात्मा को अनुभव नहीं करता है तो वह उस शुद्ध आत्मा को नहीं प्राप्त कर पाता है, जैसे भाग्यहीन मनुष्य रत्न को।

देह–सुहे पडिबद्धो जेण य सो तेण लहइ ण हु सुद्धं ।
तच्चं विचाररहियं णिच्चं चिय झायमाणो हु ॥४७॥

अर्थ: विचार–रहित तत्त्व का नित्य ही निश्चय से ध्यान करता हुआ भी जो देहसुख में अनुरक्त है, इसलिए वह शुद्ध आत्मस्वरूप को नहीं प्राप्त कर पाता है।

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। यदि आप भव को नष्ट करना चाहते हो, तो भावों को शुद्ध करो। भावों की विशुद्धता ही भववृद्धि रोकने में सहायक है। जिस तरह आप वस्त्र धोने में एवं सुखाने में समय व्यतीत करते हो, इसी तरह कर्मों को धोने एवं सुखाने में आपने समय दिया या नहीं, विचार करने योग्य है।

भो ज्ञानी ! निवृत्ति भी धर्म है, प्रवृत्ति भी धर्म है। अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति, इसका नाम चारित्र है। अशुभ का नाम धर्म नहीं है। माँ जिनवाणी अंतस् की भावात्मक अवस्था का भान कराती है। इस वृत्ति को हम तभी सँभाल सकेंगे, जब हम जागृत रहेंगे। जिन विषयों में भोगी सोता है, योगी वहाँ जागता है एवं जिन विषयों में योगी सोता है, वहाँ भोगी जागता है। हमें पर्याय के बैर को बैर नहीं मानना चाहिए तथा द्रव्य को नहीं भूलना चाहिए। ज्ञानीजीव अपने दुःख में तो दुःखी होता ही है, परन्तु दूसरे के दुःख को देखकर भी दुःखी होता है। अतः हमें भावुकता को दबाना होगा, क्योंकि मोक्षमार्ग भावुकता का नहीं है।

भो आत्मन् ! जिनवाणी की देशना नरकगति व तिर्यंचगति में भी कार्यकारी होती है, इसलिए जिनवाणी की देशना का श्रवण अवश्य करना चाहिए। विश्व में यदि कोई एकमात्र शरण है तो 'चत्तारि शरणं पव्वज्जामि' ही है एवं निश्चय से 'अप्पा शरणं पव्वज्जामि' अर्थात् आत्मा ही एकमात्र शरण है। इसलिए जिनका पुण्य क्षीण हो चुका है, उस जीव के निर्मल विचार भी नष्ट होने लगते हैं, तत्त्वउपदेश भी उसे शूल के समान लगते हैं।

भो ज्ञानी ! स्वर्ग में पुण्यफल को भोगे बिना कोई जीव निकल नहीं सकता, इसी तरह नरक में पाप के फल को भोगे बिना कोई जीव निकल नहीं सकता। आप कुछ भी प्रयास कर लेना, जब तक आयु पूर्ण नहीं हो जायेगी, उस भूमि से तब तक निकल नहीं सकेगा। यह आचार्यों का उपकार है कि हमें वीतरागवाणी श्रवण करने को मिल रही है। परन्तु यह उपदेश भी तभी कार्यकारी होगा, जब हमारा चित्त शांत होगा। देखो, लंकेश के जीव ने द्वितीय नरक में सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया। तृतीय नरक तक तो देव उपदेश करने जा सकते हैं, उसके आगे देवों का गमन नहीं है। कहीं उससे नीचे की अवस्था किसी की न बन जाये, इसलिये आचार्यों के उपदेशों को सुनने का अभ्यास करना। सुनना सीखो । जीवन में आपने कितना सुना है, दिन भर वक्ता मिलते हैं, परन्तु कल्याणकारी नहीं होते। अब एक काम करो, आप तत्त्वसार में ही लगना, क्योंकि आयु का भान नहीं कब पूर्ण हो जाये। इस बात को गौर से सुनना, कि **अब तुम्हारी आयु के क्षण अल्प बचे हैं। इन इंद्रियों का उपयोग भोग में बहुत लगाया है। अब तुम्हें अपना उपयोग जिनवाणी को सुनने में लगाना है,** जिनेन्द्रदेव को देखने में लगाना है, 'जिन' को स्पर्श करने में लगाना है, क्योंकि सामग्री अल्प है, पता नहीं पुण्य का कितना द्रव्य अब शेष बचा है।

आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं– जो मिला है उस अवशेष काल को निःशेष की भावना में लगा दो, अभ्युदय में मत लगाओ। जब तक वर्तमान के सुखों को नहीं छोड़ोगे, तब तक निःश्रेयस की प्राप्ति नहीं होगी। निःश्रेयस अर्थात् मोक्षसुख और अभ्युदय अर्थात् संसार के सुख। अतः अभ्युदय को तो छोड़ना ही पड़ेगा, बिना छोड़े सिद्धत्व का सुख प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि आप बाजार में भी जाते हो तो पहले कुछ छोड़ना पड़ता है, फिर कुछ प्राप्त होता है। किसान जब मुट्ठी भर दाना मिट्टी में फेंकता है, तभी गोदाम भरते हैं। आचार्यमहाराज ने इन दोनों गाथाओं में बड़ी मीठी डाँट लगाई है। सत्य है, डाँट तो लगाना ही चाहिए। खाली शीशी

में डाँट नहीं लगाई जाती, डाँट तो भरी शीशी में ही लगाई जाती है, जिससे औषधि न निकल जाये। आचार्य महाराज कह रहे हैं कि जिसमें योग्यता नहीं है, उसे समझाने की क्या आवश्यकता ? जिसमें योग्यता है, फिर भी योग्यता का उपयोग नहीं कर रहा है, उसे डाँट जरूर लगाना चाहिए, ताकि योग्यता को प्राप्त कर सके।

भो ज्ञानी ! इसी प्रकार ध्यान में स्थिर होकर भी योगी जब कभी अपनी निज आत्मा का वेदन नहीं करता, 'भगवती आत्मा, भगवती आत्मा' चिल्ला रहा है, आँखें बंद कर रहा है, आँखें खोल रहा है, पर स्वानुभूति की ओर जा ही नहीं रहा है। क्योंकि जिस प्रकार भाग्यहीन को रत्नों की प्राप्ति नहीं होती, ऐसे ही अभागे जीव को एक तो निर्ग्रन्थ मुद्रा नहीं मिल सकती और यदि मिल भी जाये, तो परिणामों का निर्मल होना कठिन है और यदि परिणामों को निर्मलता मिल जाये तो स्वात्मानुभूति की प्राप्ति बहुत कठिन है। इसी क्रम में यह भी दुर्लभ है कि तू नरभव जैसी पर्याय को प्राप्त हो जाये। कितनी कठिनाई से मिली है यह पर्याय ? अतः बोधिदुर्लभ की ओर दृष्टिपात कर लो। यश, कीर्ति, पूजा भी पर्याय में प्राप्त की जा सकती है, परंतु स्वात्मानुभूति दिगम्बर पर्याय में ही संभव है, अन्य किसी पर्याय में नहीं। उसका दुरुपयोग मत कर देना। सुखिया–स्वभाव मत बनना।

आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने 'मोक्ष पाहुड' में लिखा है–

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ।।६२।।

सुख में अर्जित भक्ति व ज्ञान दुःख के आने पर विलय को प्राप्त हो जाता है। अतः योगी को यथाशक्ति आत्मा को दुःख से वासित भावित करना चाहिए। भोगों को भोगना तो बंध का हेतु है ही, पर भोग–भावना भी बंध का हेतु है, निर्बन्ध का हेतु नहीं। इसलिए, हे तन के त्यागियो ! मन के त्यागी भी बनो। मन का त्याग नहीं होगा, तो तन का त्याग कुछ नहीं कर सकेगा। आचार्य कुमुदचन्द्र स्वामी ने 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' में बड़ा सुंदर काव्य लिखा है–

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या ।
जातोऽस्मि तेन जनबान्धव दुःखपात्रं
यस्मात्क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ।।३८।।

अंतिम पंक्ति पर ध्यान दें। जो क्रिया भाव से शून्य है, वह फलवती नहीं होती है। इसलिये यहाँ कह रहे हैं कि शरीर की सहानुभूति को भूल जाओ। जितना आप सुकुमार बनोगे, उतना ही तुम्हारा शरीर कठोरता से काम करेगा। सुखिया कभी सुखी नहीं हो सकता। जो जीव देहसुख में प्रतिबद्ध हैं, वे जीव शुद्धावस्था को प्राप्त नहीं कर सकते। जो जीव तत्त्व के विचार से रहित है, वह जीव नित्य ही ध्यान भी करे परन्तु शुद्धात्मा को प्राप्त नहीं कर सकता। मुमुक्षु तो यह कहता है कि जीवन–मरण में, लाभ–अलाभ में जो साम्यभाव है, इसका नाम शुद्धस्वभाव की प्राप्ति है। जीवन हो चाहे मरण हो, इस तन के टुकड़े कल होते हैं तो आज हो जायें, परन्तु मेरी समता का विघात न हो, क्योंकि योगी का काम समाधि ही है। योगी हमेशा भावना भाता है–

तवपादौ मम हृदये, मम हृदयं तव पदद्वये लीनम् ।
तिष्ठतु जिनेन्द्र ! तावद्यावन्निर्वाण संप्राप्तिः ॥ समाधिभक्ति ॥७॥

हे जिनदेव! आपके दोनों चरण–कमल मेरे हृदय में निवास करें, और मेरा हृदय आपके चरणों में ही निवास करे, जब तक निर्माण की प्राप्ति न हो जाए। बस, इतनी भावना चौबीस घंटे बनाना, परन्तु देह के प्रति विरक्त रहना। देह कीआसक्ति विदेह की ओर कभी नहीं जाने देगी। आज संसार में ध्यान तो बहुत हो रहे हैं, पर देह के लिए हो रहे हैं, देही के लिये नहीं हो रहे। योग कर रहे हैं, व्यायाम कर रहे हैं। अहो ! यह शरीर स्वयमेव स्वस्थ होगा। शरीर स्वस्थ रखने के लिये किये गये ध्यान को जिनवाणी मोक्षमार्ग नहीं कहती। ध्यान आत्मकल्याण के लिए करना, आत्मा के पोषण के लिए करना और आत्मा का पोषण जहाँ होगा, वहाँ शरीर का पोषण तो हो ही जायेगा। भो ज्ञानी ! दो बगीचे आपके पास हैं– एक आत्म–बगीचा है, एक देह–बगीचा है। पानी सीमित है। तब आप किस बगीचे को हरा–भरा करना चाहते हो, किसको सुखाना चाहते हो ? परन्तु आत्मकल्याण तभी संभव है, जब देह का रास्ता छोड़कर आत्मानुराग में चला जायेगा।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

बहिरात्मपना हेय, मुक्ति उपादेय

मुक्खो विणासरूवो चेयणपरिवज्जिओ सया देहो ।
तस्स ममत्ति कुणंतो बहिरप्पा होइ सो जीवो ॥४८॥

अर्थ: शरीर सदैव मूर्ख है, विनाशरूप है, चेतना से रहित है। जो उसकी ममता करता है वह बहिरात्मा है।

रोयं सडणं पडणं देहस्स य पिक्खिऊण जर–मरणं ।
जो अप्पाणं झायदि सो मुच्चइ पंच–देहेहिं ॥४९॥

अर्थ: देह के रोग, सड़न और पतन तथा जरा और मरण को देखकर जो भव्य आत्मा को ध्याता है वह पाँच प्रकार के शरीरों से मुक्त हो जाता है।

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य देवसेन महाराज कह रहे हैं कि देह ही जीव के लिए परम अशांति का कारण है। जितने संबंध हैं, वे सब देह के हैं, जबकि आत्मा में देह का अत्यंताभाव है। देह का धर्म स्पर्श, रस, गंध और वर्ण है और आत्मा का धर्म ज्ञान–दर्शन है। यह आत्मा कभी भी स्पर्श–रस–गंध–वर्णरूप नहीं होगी और यह शरीर कभी भी ज्ञान–दर्शनरूप नहीं होगा। लेकिन फिर भी जीव ने अज्ञानतावश परद्रव्य को ही अपना स्वद्रव्य स्वीकार किया है। अतः आपने अपने शरीर में राग की महिमा के कारण ही पंच–परावर्तन–रूप संसार में परिभ्रमण किया है।

भो ज्ञानी! कितने जीव इस देह के राग में अपने स्वरूप को भूल रहे हैं, कितने भूल चुके हैं तथा कितने भूल को सुधार कर भगवान् बन गये हैं। भूल हो सकती है, भूल होने में कोई दिक्कत नहीं है; परन्तु भूल को भूल स्वीकार करना, यह ज्ञानी का काम है। पर जो पुनः–पुनः भूल करे, उससे बड़ा कोई अज्ञानी नहीं है। एक बार दोष लग सकता है, एक बार भूल हो सकती है– उसका प्रतिक्रमण होता है, प्रायश्चित्त होता है। किन्तु पुनः–पुनः भूल करना यह

आपका राग है, क्योंकि उसमें आप सुख का अनुभव कर रहे हो।

भो चेतन ! ज्ञाता–दृष्टा भाव सहजभाव है, किन्तु किसी पदार्थ पर बार–बार दृष्टि जाना रागभाव है। ज्ञाता–दृष्टा भाव में बंध नहीं है, किन्तु रागभाव में नियम से बंध है। अतएव जहाँ स्नेह होगा, राग होगा, वहाँ नियम से बंध होगा। जिनवाणी स्नेह/राग की बात नहीं करती, वात्सल्य की बात करती है। धर्म, धर्मात्माओं में वात्सल्य होना चाहिए, राग/प्रेम/स्नेह नहीं होना चाहिए। क्योंकि वात्सल्य निःस्वार्थ होता है, निष्काम होता है, निःकांक्षित होता है, जबकि स्नेह/राग/प्रेम में आकांक्षा होती है। वात्सल्य का संबंध वीतरागता का है। वह हमेशा धर्म को देखता है। जबकि राग/स्नेह व्यक्ति को देखता है कि यह मेरे ग्रुप के हैं, मेरे संघ के हैं।

आचार्य समंतभद्र स्वामी ने कहा : **'न धर्मो धार्मिकैर्विना।'**

धर्म धर्मात्मा के बिना नहीं होता। व्यक्ति को देखोगे तो शरीर को देखना पड़ेगा और धर्म को देखोगे तो धर्मात्मा दिखेगा, चर्म नहीं दिखेगा। जबकि माँ जिनवाणी कहती है कि हम तिर्यंच, नारकी, देव और मनुष्यों में भेद नहीं देख पाते, क्योंकि सभी में सम्यक्त्व झलकता है। शरीर के आकार भले अलग–अलग होते हैं, परंतु श्रद्धा में भिन्नता नहीं होती।

एक मुनिराज मार्ग में गमन करते आपको मिल गये। आप देखकर मुस्करा गये और चरणों में झुक गये। प्रश्न यह है कि आपसे इनकी रिश्तेदारी कब से है ? अनंत विश्वास और अनंत आस्था से आपने चरणों में शीश झुकाया और यूँ ही नहीं, हृदय में गद्‌गद्‌पना भी आ रहा है, पता नहीं कबसे बिछुड़े मिले हैं। लेकिन मिलन उसके पूर्व पहले कभी नहीं हुआ था और आप अपनी सब व्यथा सुनाने को बैठ गये। भो ज्ञानी ! यही श्रद्धा–श्रद्धेय संबंध है। यदि भक्त–भगवान् का, गुरु–शिष्य का कोई संबंध है तो उसका नाम है श्रद्धा–श्रद्धेय संबंध। सब संबंध विच्छेद हो जायेंगे, पर श्रद्धा–श्रद्धेय संबंध अविच्छिन्न होता है।

भो ज्ञानी आत्माओ ! ध्यान से सुनना, आपने पत्नि को पूरा जीवन सौंप दिया, पत्नि ने आपको अपना पूरा जीवन सौंप दिया। राग के वश आप दो शरीर एक आत्मा की बात भी कर लेते हो। फिर भी अंतरंग में वह अनुभूति नहीं होगी जो परमेष्ठी के चरणों में शीश झुकाने से होती है। आप आपस में हँस लोगे, मुस्करा लोगे, परन्तु गद्‌गद्‌ भाव कभी नहीं होगा। क्योंकि स्त्री का स्थान मोक्षमार्ग नहीं है। जिनेन्द्रदेव ने कहा है कि सच्चे देव, शास्त्र, गुरु पर आस्था

या विश्वास का नाम व्यवहार–सम्यक्त्व है एवं तत्त्वों पर श्रद्धान मोक्षमार्ग है।

हे प्रभु! जब मेरे सब संबंध छूट जायेंगे, तब आपका ही संबंध मेरे काम आयेगा। परंतु स्वार्थ अंतरंग के संबंध को दिखने नहीं देता। हे अर्जुन ! मेरी रक्षा करो। हे नकुल ! तुम कहाँ गये, मेरी साड़ी को खींचा जा रहा है। सहदेव ! आप भी नहीं दिखते हो। हे भीम ! तुम्हारी गदा का पौरुष कहाँ चला गया, आज दुःशासन इस सभा में मेरी साड़ी को खींच रहा है? हे द्रोपदी ! तुम पाँचों पाण्डवों को देखती रही, युधिष्ठिर तो तुझे दाँव पर भी लगा गये। पर पहले तुम्हें परमेश्वर याद नहीं आये। सत्य है, व्यक्ति पहले परमेश्वर को नहीं देखता, पहले पुरुष को देखता है। जब तेरा पुरुष थक जाता है, तब परमेश्वर याद आता है।

भो मनीषियो ! आज मुझे कोई भी जीव दुःखी नहीं दिखता। दुःखी आपकी मानसिकता है और दुःख का कारण आपका असंयम है, अश्रद्धा है। संयम, श्रद्धा और शील ये जाज्वल्यमान हो जायें तो तुम कहीं भी चले जाना, दुःख लेशमात्र भी नहीं होगा। तू श्रद्धावान् बन जायेगा, तो श्रद्धेय भी बन जायेगा और तू श्रद्धावान् नहीं बना, तो श्रद्धेय तीनकाल में भी नहीं बन पायेगा। अरिहंत भगवान् ने कहा है कि पाँच पापों की वजह से संसार के पंच–परावर्तन में भटकना पड़ता है। यदि अरिहंत भगवान् की वाणी पर आपकी श्रद्धा है, तो पाँच पापों को क्यों नहीं छोड़ रहे आप? यदि आप आज ही श्रद्धा के साथ इन्हें छोड़ दोगे, तो आज ही तुम श्रद्धेय बन जाओगे। क्योंकि श्रद्धेय तेरा पुरुषार्थ बनाता है, श्रद्धेय कहीं से आता नहीं है, श्रद्धेय तेरी स्वयं की परिणति ही बनाती है। जिसने श्रद्धा का अभाव किया है, वह कभी श्रद्धेय नहीं बन सका।

भो चेतन ! सब पर श्रद्धा है, शव पर श्रद्धा है, लेकिन शिव पर श्रद्धा नहीं है। शव पर श्रद्धा यदि नहीं होती तो जलाने क्यों जाते। परन्तु एकमात्र शिव की श्रद्धा ही मोक्षमार्ग में कार्यकारी है। यदि शिव बनना चाहते हो तो शिवमार्ग पर चलो, शव से मुक्ति मिल जायेगी। शव न बनो, शिव बनो। देखो–एक दृष्टि से सब शव है। और द्रव्यदृष्टि से शिव हैं। **कीमत श्रद्धेय की नहीं है, कीमत श्रद्धा की है। जीवन में भगवान् कहीं नहीं हैं, भगवान् भक्त की भक्ति में विराजमान हैं।** तीर्थंकर की माँ भगवान् को जन्म नहीं देती, बालक को जन्म देती है। भगवान् को जन्म देने वाला यदि कोई है, तो वह भक्त ही है। एक जगह एक मुनिराज से गृहस्थावस्था के माता–पिता मिलने के लिये आये। उस नगर के लोगों से माँ कह रही थी–

यह हमारा लड़का है और उस नगर के लोग कह रहे थे– यह सारे मुनि महाराज हैं। दृष्टि किसकी विशाल थी ? माता–पिता को राग का बालक दिख रहा था और नगरनिवासियों को वीतरागता के भगवान् महाराज दिख रहे थे।

भो ज्ञानी ! राग विशालता को संकुचित कर देता है और भक्ति मनुष्यों को विशाल बना देती है। आप व्यक्ति को भगवान् के रूप में ही देखना, भगवान् को बालक के रूप में नहीं देखना। बालक देखोगे तो वह एक व्यक्ति का होगा और भगवान् देखोगे तो वह विश्व के होंगे। मुमुक्षु वही होता है जो संतों को, निर्ग्रन्थों को आम्नायों/पंथों/सम्प्रदायों में नहीं देखता है, वह परमेश्वर को परमेष्ठी में देखता है। सूत्र को ध्यान में रखना, **चर्म को देखोगे तो व्यक्ति को देखना पड़ेगा और धर्म को देखोगे तो धर्मात्मा दिखेगा।**

अतः अपने को तत्त्वसार समझाना है, जैन तत्त्वविद्या को समझना है। मैं समझता हूँ कि जो मिश्री में स्वाद नहीं है, वह जैनतत्त्व में स्वाद है। क्योंकि मिश्री का स्वाद जिह्वा मात्र तक रहता है, परन्तु तत्त्व का स्वाद जीवद्रव्य को मिलता है। अतः सत्य–स्वरूप कभी नष्ट नहीं हो सकता। सत्य, सत्य ही रहेगा। सत्य को ढँका जा सकता है, परंतु सत्य का नाश कभी नहीं किया जा सकता। अर्थात् सत्य को दबाया जा सकता है, पर वह नियम से प्रकट होगा। वस्तुस्वरूप यही है कि देह धर्म नहीं है, धर्म तो देही है।

मनीषियो ! देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि नरक में निवास कर लेना, पर मूर्ख के साथ वास नहीं करना। जिनके संसर्ग से तेरी आत्मा का विघात होता है, ऐसे संसर्ग को छोड़कर गुणियों के साथ निवास करो।

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानि–समाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः ।। २३।। इष्टोपदेश।।

अज्ञानी की उपासना करोगे तो अज्ञान ही मिलेगा, ज्ञानी के पास जाओगे तो ज्ञान मिलेगा। यह लोकप्रसिद्ध है कि जिसके घर में जो होगा, वही तो देगा। यदि तुम जड़ के घर में जाओगे, तो तुमको जड़ ही बना देगा। ये द्रव्यकर्म,भावकर्म, नोकर्म तेरी आत्मा के धर्म नहीं हैं, ये जड़स्वभावी हैं। इनका संयोग करोगे तो तेरी आत्मा जड़ ही होगी। अतः ज्ञानी के संयोग में जाओ, अज्ञानी का संयोग छोड़ दो। देह जड़रूप है, विनाशरूप है और चेतना से रहित है।

भो ज्ञानी ! जिस प्रकार दर्पण में देखकर चेहरे पर लगे दाग को पोंछकर साफ कर लेते हो, उसी प्रकार जिनबिम्बरूपी दर्पण में जाकर देखो, चेहरे पर कर्मों की कालिमा लगी हुई है, पाप–परिणामों का पंक चिपका हुआ है, उसे अलग करने के लिये परिणामों को सँभालो। संस्थान–संबंध हमारी आत्मा का धर्म नहीं है। देह के पीछे जीव ने सब कुछ किया है। यह जीव कर्मों के बीच में है, परन्तु कर्म–स्वरूप नहीं है। कर्मों ने कभी किसी को बाँधा नहीं है, कर्म बहुत ईमानदार हैं। परंतु तेरे कर्म ही कर्म को बाँधते हैं। जीव कभी कर्मरूप हुआ नहीं है। कर्म, कर्म है और जीव, जीव है। कर्म कभी बंध नहीं कराता है, कर्म बंध का निमित्त होता है। तेरे रागादिक परिणाम न हों, तो कर्मबंध न हो। अतः कर्मबंध होगा, तो तेरे द्वारा होगा। शरीर की नश्वरता को समझो, आत्मा का निरंतर ध्यान कर अशरीरी बनने का पुरुषार्थ करो, तभी तेरा जीवन सार्थक होगा।

अतः जड़ की संगति छोड़ना श्रेष्ठ है। आत्मतत्त्व को देखो, तभी परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर सकोगे।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय ।।

१ १ १

ज्ञान व वैराग्य भावना से राग-द्वेष हानि

जं होइ भुंजियव्वं उदयस्स आणियं तवसा ।
सयमागयं च तं जइ सो लाहो णत्थि संदेहो ।।५०।।

अर्थ : जो कर्म तप के द्वारा उदय में लाकर भोगने के योग्य होता है, वह यदि स्वयं उदय में आ गया है तो वह बड़ा भारी लाभ है। इसमें कोई सन्देह नहीं है।

भुंजंतो कम्मफलं कुणइ ण रायं तह य दोसं च ।
सो संचियं विणासइ अहिणवकम्मं ण बंधेइ ।।५१।।

अर्थ : (जो) कर्मों के फल को भोगता हुआ न राग को और न द्वेष को करता है, वह पूर्वसंचित कर्म को विनष्ट करता है और नवीन कर्म को नहीं बाँधता है।

प्रवचन

भो मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही सुन्दर सूत्र दिया कि, भो ज्ञानी ! देहधर्म को समझ लो। उस देहधर्म को समझने के उपरांत आत्मधर्म पर दृष्टि करो। यह दृष्टि भूल जाओ कि मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ; क्योंकि जब तक तू देह से प्रतिबद्ध रहेगा, तब तक आत्म–दृष्टि नहीं बनेगी। अज्ञानी– मनुष्य पर्याय को ही सर्वस्व मानकर बैठा है। मनुष्य पर्याय/विभूति अथवा शरीर से महान् नहीं, अपितु संयम से महान् है। मनुष्यशरीर सिद्धत्व की साधना के लिए मिला है, भोगों के लिए नहीं मिला, योग के लिए मिला है। जिस मल के पिण्ड के ऊपर तुम रीझ रहे हो, भो ज्ञानी ! शमशान घाट में जाकर देखना, कुछ नहीं मिलेगा, मात्र राख मिलेगी। जिसे राख होना है, उससे राग किस बात का ? तू तो वैसा है जैसा सिद्धालय में विराजमान है। तू ऐसा नहीं है जैसा यहाँ दिख रहा है। जो शाश्वत है, वह यह नहीं है। अशाश्वत दिख रहा है, फिर भी तू अशाश्वत में शाश्वत को खोज रहा है।

भो चैतन्य ! विश्व में जीव को जितना शरीर से राग है, उतना राग अन्य किसी से नहीं।

अपनी चमड़ी की रक्षा के पीछे न जाने कितने जीवों की चमड़ी को तूने खिंचवा दिया है। अहिंसा, करुणा की बात करता है और अपने मुख की हड्डी को चमकाने के लिए न जाने सुबह से कितनी हड्डी अपने मुख में रख लेता है। कुछ समझो, मुमुक्षु आत्माओ ! उस पेस्ट में क्या पड़ा है ? जिसको स्पर्श करना हिंसा है, उसको मुख में रखकर आप अहिंसक कैसे हो ? कभी–कभी उन जीवों पर भी तो दृष्टि करो, जिनका सुनहरा जीवन तुम्हारी चमड़ी की शोभा में चला जाता है। यह शौक नहीं, यह तुम्हारा शोक है। अरे, मन के काले–कलूटो ! मन को काला मत करो। तेरा कभी न तन सफेद होगा, न कभी मन सफेद होगा। यदि सफेदी चाहते हो तो, भो ज्ञानी आत्माओ ! प्रभु की भक्ति करो। आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी ने 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' में लिखा है–

भक्तेः सुन्दर रूपं, स्तवनात्कीर्तिस्तपोनिधिषुः।।११५।।

किसी की आलोचना–प्रत्यालोचना करके तुम कीर्ति–कामना चाहते हो, वह प्राप्त नहीं होगी। यदि कीर्ति चाहते हो तो प्रभु के गुणों का कीर्तन करो।

भो ज्ञानी ! अज्ञानी रूप में जीता है, जबकि ज्ञानी स्वरूप में जीता है। आज तक जितनी पर्यायों का विनाश हुआ है, रूप के पीछे हुआ है। लोक में जितने विसंवाद होते हैं, अनाचार हो रहे हैं, अत्याचार हो रहे हैं, सब रूप के पीछे हो रहे हैं। रूप पुद्‌गल है, जड़ है। सड़ना–गलना ही जिसका धर्म है, ऐसे शरीर के पीछे, भो ज्ञानी आत्माओ ! बनने वाले भगवन्तों का विघात मत करो। जब कामदेव जैसे जीव के शरीर की सुन्दरता नहीं टिकी, फिर तुम्हारे तुच्छ शरीरों की सुन्दरता क्या टिकेगी ? जितने सम्बन्ध सुधर रहे हैं, बिगड़ रहे हैं, इस शरीर के पीछे, आत्मा के पीछे नहीं। ग्रंथराज इष्टोपदेश में आचार्य पूज्यपाद स्वामी कह रहे हैं –

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि ।
स काय: संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ।।१८।।

भो चेतन! जिसके संयोग को प्राप्त करके पवित्र–से–पवित्र भी अपवित्र हो जाते हैं। ओहो ! विश्व में यदि कोई अपवित्र द्रव्य है तो, भो ज्ञानी ! वह शरीर है। इस शरीर को देखकर छोटे–बड़े की दृष्टि मत करो। भूल जाओ पर्यायबुद्धि को, कि मैं मनुष्य हूँ, जैन हूँ, क्षत्रिय या ब्राह्मण हूँ। मात्र अपनी पर्याय को देखो कि तुम क्या हो? क्या थे? क्या होगे ? इस देह के राग

के पीछे देह को नष्ट मत करो। इस शरीर का उपयोग निर्मल कर लो और यदि निर्मल उपयोग कर लोगे तो तुम निर्मल/विमल केवलज्ञान को प्राप्त करके भगवत् स्वरूप को प्राप्त कर लोगे। पर आपने एक ओर प्रभु को देखा और दूसरी ओर शरीर को देखा। भगवान् के चरणों में माँगने भी गया और माँगकर भी क्या आया– हे भगवन् ! मेरी पर्याय का कष्ट दूर हो जाए, मेरी दुकान चलने लग जाये, मेरा मकान बन जाये। अहो ज्ञानी आत्माओ ! एक वीतरागी के चरणों में क्या भीख माँगी ? माँगना है तो इकट्ठा ढेरसारा माँगो। हे प्रभु ! देना है तो दे दो– 'जिणगुण सम्पत्ति होउ मज्झं,' आपके गुणों की जो सम्पदा है वह मुझे चाहिए है। मुमुक्षु ऐसा माँगता है और अज्ञानी बेटा–बेटी के सिरदर्द को ठीक करने हेतु माँगता है। अहो ! ये तो सामान्य पदार्थ है, आत्मा के दर्दों को ठीक करने की बात करो। जब कर्म ठीक हो जायेगा, तो शरीर के दर्द अपने आप ठीक हो जायेंगे।

भो ज्ञानी ! ज्ञानीजीव हर समय यह खोज करता है कि कर्म के पिण्ड से कैसे बचें। ध्यान रखना आज से, देह को ही जीवन मत मान लेना, यह कर्म का विपाक है। चाहे सुन्दर शरीर मिला हो, चाहे असुन्दर शरीर मिला हो, परन्तु न राग करो, न द्वेष करो। हीरे का व्यापारी, मात्र इक्कीस वर्ष का नवयुवक, उसके पैर में जरा–सा सफेद दाग आ गया तो हीनभावना घर कर गई शरीर के राग के पीछे। इतना मानसिक तनाव कि दो–तीन बार आया, बोला–महाराज श्री! बहुत टेन्शन रहता है। मैंने कहा– भैया ! तुम विकल्प मत करो, सबकुछ ठीक हो जायेगा, तुम शरीर के पीछे क्यों पड़े हो ? बोला– जब घर जाता हूँ तो ऐसा गलता है जैसे परिवार के लोग हीनदृष्टि से देख रहे हों। हमारा जब पन्ना से विहार हुआ कटनी तक ही पहुँचे, कि समाचार मिला–भैया ने फाँसी लगा ली। कितना विवेकशील था? फाँसी लगाने के पूर्व उसने पर्ची लिखी, उसमें लिखा कि 'महाराजश्री ! नमोस्तु, तीन–कम–नौ कोटि मुनिराजों को नमोस्तु। मैं अपनी हीन भावना के कारण फाँसी लगा रहा हूँ।' देखो, इस शरीर के पीछे निर्मल पर्याय को नष्ट करके चला गया।

भो चेतन ! याद होगा आपको कि लक्ष्मीवती नाम की कन्या दर्पण में चेहरा देख रही थी। निर्ग्रन्थ मुनिराज वहाँ से निकल पड़े। बोली–यह नंगा कहाँ से आ गया, मेरे श्रृंगार में विघ्न डाल दिया ओहो ! तुम रूप में रो रही थी। योगी तो सीधे निकल गये शांत स्वभाव से, परन्तु एक अंतर्मुहूर्त नहीं लगा कि कन्या को गलित–कुष्ठ हो गया। पाप कितना ही छिपाकर करना,

लेकिन कर्म कहता है कि जब मैं उदय में आऊँगा तो सब प्रकट हो जायेगा। भो ज्ञानी ! इस शरीर के पीछे किसी को हीन मत देखो, किसी को दीन मत देखो। जिस जीव की होनहार जैसी है, वैसे परिणाम होते हैं। तीर्थंकर के समवसरण में भी किसी को बलात् नहीं ले जाया गया, जिनकी होनहार बिगड़ चुकती है वे समवसरण से भी लौट आते हैं। मारीचि इसका उदाहरण है। इसी तरह जिसकी होनहार निर्मल है, वही वीतरागवाणी को सुन सकता है, क्षीण पुण्यात्मा जीव सर्वज्ञ की वाणी को सुनने के परिणाम नहीं कर सकता।

मनीषियो ! आचार्य देवसेन स्वामी इन दोनों गाथाओं में अभूतपूर्व चर्चा कर रहे हैं। लोकदृष्टि से आप कहें कि मैं हीन हूँ, परन्तु परमार्थदृष्टि से आपसे बड़ा कोई नहीं होगा। यह मोक्षमार्ग हीनता का मार्ग नहीं है, वीरता का मार्ग है। यदि दरिद्रता भी तुम्हारे जीवन में सामने आ रही हो तो, भो ज्ञानी ! हम क्यों नहीं परिग्रह के परिमाण में प्रवेश कर जाएँ? 'दरिद्री' शब्द दुःखकारी है, 'परिग्रह का परिमाण' शब्द सुखकारी है। इसलिए विभूति के सद्भाव में हर्षित मत हो और अभाव में बिलखो मत। जब तक शरीर स्वस्थ है, इन्द्रियाँ सबल हैं, तब तक तुम तपस्या कर लो, वृद्धावस्था में कुछ नहीं कर सकोगे। यहाँ कितनी अद्भुत की बात कह रहे हैं कि शरीर नष्ट हो रहा है, धन नष्ट हो रहा है, इंद्रियाँ कार्य नहीं कर रही हैं, उपसर्ग/परीषह भी आ रहे हैं, फिर भी ज्ञानी मुस्करा रहा है।

भो चेतन ! **तू क्यों बिलख रहा है ? जो कर्म का बंध तुमने पूर्व में किया था, वह आज उदय में आकर खिर गया । प्रसन्न हो जाओ कि आज मैं हलका हो गया।** जिस कर्म को तुम तप के द्वारा बुलाकर निर्जीर्ण करते, वह कर्म स्वयं उदय में आ गया, तो प्रसन्न हो जाओ। मुनिराजों ने तो बड़ी–बड़ी तपस्याएँ की, तब कर्म को उदय में ला पाये। मेरा कर्म तो आज ही उदय में आकर खिर गया। बहुत अच्छा यह हुआ कि हमारी जाग्रतावस्था में खिरा है। कम–से–कम सहन करने की सामर्थ्य तो है। अभी तो मेरा पुरुषार्थ काम कर रहा था, मैंने सहन कर लिया। कहीं वृद्धावस्था में आता तो क्या होता? नवीन कर्म का बंध हो जाता। इसलिए बिलखना मत।

भो प्रज्ञ ! आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि कर्म स्वयं ही उदय में आ गया, बहुत बड़ा लाभ हुआ है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है। मुनियों ने जो घोर उपसर्ग सहन किये, वे इसी चिंतवन के बल पर किये हैं। अहो ! तुम्हारे ऊपर कौन–सा उपसर्ग है ? जहाँ पाँच–सौ

योगियों को घानी में पेल दिया, शरीर से रक्त निकल रहा था, हड्डी चूर–चूर हो रहीं थी और वहाँ परमयोगी अपने आत्मवैभव के चिंतन से कर्मों की उन हड्डियों को चूर्ण–चूर्ण कर रहा था। अतः, प्रभु से एक प्रार्थना आप लोग जरूर करना कि हे भगवान् ! मैं उस दिन की तैयारी कर रहा हूँ जब उपसर्ग और परीषह आयें और यह गाथा मेरे हृदय में गूँजने लग जाये। परन्तु अभ्यास पूर्व से करना पड़ेगा, तभी उपसर्ग/परीषह में उत्तीर्ण हो सकोगे। समय तो आयेगा, सबके साथ घटित होता है। बड़े–बड़े धुरंधर जीवों को भी कर्मों ने नहीं छोड़ा। आदिनाथ जैसे तीर्थंकर को नहीं छोड़ा। देखो, बेटा चक्रवर्ती–कामदेव एवं स्वयं तीर्थंकर, जिनके चरणों की सेवा देव करते हों, वे भी छः महिना घूमते रहे। क्योंकि जब वे सम्राट थे, तब उन्होंने बैलों के मुँह में मुसीका लगवाने को कहा था। कर्म कहते हैं कि आपने एक दिन मुसीका लगवाया था, हमनें छः महिने मुसीका लगवा दिया।

भो ज्ञानी ! इसलिये धोखे में मत रहना, किसी के आहार–पानी को मत रोक देना, क्योंकि स्वामित्व पर व्यक्ति अंधा हो जाता है। युवावस्था अंधी अवस्था है, फिर धन मिल जाये और स्वामित्व भी मिल जाये, जहाँ तीनों एकसाथ मिल गये हों तो उनका तो कहना ही क्या ? एक को सहन करने में कष्ट होता है तो जिसके पास तीनों हों, बहुत कठिन है। आचार्य देवसेन स्वामी करुणादृष्टि से कह रहे हैं– भो ज्ञानी ! **कर्म के फल को भोगते समय न राग करो, न द्वेष करो। जो कर्म के विपाक में राग–द्वेष नहीं करता, वह पूर्वसंचित कर्म का विनाश कर देता है एवं नये कर्म का बन्ध नहीं करता।** यदि राग–द्वेष करते रहोगे तो कभी मोक्ष नहीं होगा ; क्योंकि पूर्व के कर्म नष्ट तो हुए, परन्तु नवीन कर्म का बंध हो गया। जो मुमुक्षु जीव होता है, वह पूर्व को तो नाश करता है और वर्तमान में किवाड़ बंद कर लेता है, इसी का नाम संवर है। संवर सहित निर्जरा मोक्षमार्ग में प्रयोजनभूत है और संवर से रहित निर्जरा मोक्षमार्ग में कार्यकारी नहीं है। संवर एवं निर्जरा की प्राप्ति बिना तपस्या के संभव नहीं है। आचार्य उमास्वामी महाराज ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' में कहा है– ''तपसा निर्जरा च'', तप से निर्जरा भी होती है और संवर भी होता है। इसलिए, मनीषियो ! संवर की ओर बढ़ो, निर्जरा की ओर बढ़ो, आस्रव को छोड़ो। आस्रव हेयतत्त्व है। संवर, निर्जरा व मोक्ष उपादेय तत्त्व हैं।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय ।।

१ १ १

शुभाशुभ भाव नवीन कर्म-बंध के कर्ता

भुंजंतो कम्मफलं भावं मोहेण कुणइ सुहमसुहं ।
जइ तो पुणो वि बंधइ णाणावरणादि अट्ठविहं ॥५२॥

अर्थ: (अज्ञानी) कर्मों के फल को भोगता हुआ, यदि मोह से शुभ और अशुभ भाव को करता है, तब ही वह ज्ञानावरणादि आठ प्रकार के कर्म को बाँधता है।

परमाणुमित्तरायं जाम ण छंडेइ जोइ समणम्मि ।
सो कम्मेण ण मुच्चइ परमट्ठवियाणओ समणो ॥५३॥

अर्थ: जब तक योगी अपने मन से परमाणुमात्र भी राग को नहीं छोड़ता है, (तब तक) परमार्थ का ज्ञायक वह योगी कर्म से नहीं छूटता है।

भव्य आत्माओ !

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन पीयूष देशना हम सभी सुन रहे हैं। देवसेन स्वामी ने अनुपम सूत्र दिया कि, भो ज्ञानी ! कर्म के तीव्र उदय में पुरुषार्थ भी कार्यकारी नहीं होता और कर्म का मंद उदय होता है, तो अल्प पुरुषार्थ भी कार्यकारी हो जाता है। क्योंकि पुण्य के वैभव का जब प्रादुर्भाव होता है, तो आँधी जैसा आता है और पाप का जब उदय होता है तो वह भी किसी तूफान से कम नहीं होता। देखो संसार की दशा, एकसाथ तीन चीजें प्राप्त हुईं–चक्ररत्न प्रकट हुआ, पुत्ररत्न प्राप्त हुआ और तीर्थंकर को कैवल्य की प्राप्ति हुई एक ही समय में। सेनापति संदेश लेकर पहुँच गया कि आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ है। राजप्रसाद से दासियों की भीड़ आकर कहने लगी कि महारानी को पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है और वनपाल ने आकर संदेश दिया, हे चक्रेश ! प्रथम तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ स्वामी को कैलाश पर्वत पर कैवल्य की प्राप्ति हुई है। यह था पुण्य का वेग। ज्ञानीजीव यहाँ विवेक लगाता है कि पहले कौन–से पुरुषार्थ के फल को भोगा जाये। एक क्षण को स्तब्ध हो गया चक्रवर्ती भरतेश। फिर बोला–जिसकी प्राप्ति के लिए मुनिजन भी परिश्रम करते हैं, ऐसे धर्मपुरुषार्थ के

फल की प्राप्ति हुई है, अतः तीर्थंकर के कैवल्य की पूजा पहले होना चाहिए। चक्रवर्ती भरतेश अपने दलबल के साथ कैलाश पर्वत पर पहुँचकर भगवान् आदिनाथ के चरणों में नतमस्तक होकर महान अर्चना करता है, जिसको जिनागम में कल्पद्रुप पूजा कहा गया है। द्रुम अर्थात् वृक्ष। जैसे कल्पवृक्ष ऐच्छिक फल को प्रदान करते हैं, ऐसे ही जब चक्रवर्ती समवसरण में भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजा करता है तो प्राणिमात्र के ऐच्छिक परिणामों की पूर्ति भी करता है। अर्थात् किम् इच्छित् दान देता है। मनीषियो ! जीवन में वैभव का मिलना सामान्य है: पर वैभव को प्राप्त करके बेभव की ओर ले जाना, यह पुण्यात्मा का काम है। अरिहंत की उपासना करने के बाद चक्रवर्ती अर्थपुरुषार्थ को देखता है, चक्ररत्न के सामने अरिहंत की उपासना करता है। इसके बाद फिर कामपुरुषार्थ पर दृष्टिपात करता है, बेटे के जन्मोत्सव को मनाता है। देखो ! धर्मपुरुषार्थ जहाँ प्रबल है, अर्थ व काम पुरुषार्थ की वहाँ कोई महिमा नहीं है और जिसका धर्मपुरुषार्थ कमजोर है, उसका अर्थ व काम पुरुषार्थ कोई कार्यकारी नहीं है। यदि धर्मपुरुषार्थ तुम्हारा निर्मल है, तो काम व अर्थ की बात मत करो, वह तो मोक्षपुरुषार्थ को प्रदान करने वाला है।

भो ज्ञानी ! सँभलने की आवश्यकता है, चाहे वह पुण्य का आवेग हो, चाहे पाप का। अनाचार दो ही कालों में होता है – अशुभ उदय में हीन भावना से ग्रसित हो जाता है, बिल्कुल नीचे गिर जाता है और शुभ के उदय में अहं की भावना में इतना ऊँचा उठ जाता है कि जमीन और आकाश ही नहीं दिखता। बस, भावों का सामंजस्य मिलाना ही विश्व का सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। यदि परिणामों का पोत नहीं सँभला, तो भवसागर में डूबते देर नहीं लगेगी। एक क्षण के परिणाम अनन्त वैभव को दे करके चले जाते हैं और एक क्षण के परिणाम घात करके भी चले जाते हैं। जीवन में ध्यान रखना, दरिद्री धन से तो दरिद्र है, परन्तु अपने भावों से दरिद्र नहीं है। लंकेश सोने की लंका में रहनेवाला था, परन्तु भावों से दरिद्री था, भावों का भिखारी था, क्योंकि विकारी था। विश्व का सबसे बड़ा भिखारी कोई है तो विकारी है। जो विकारों में जीता है, उसे न यश दिखता है, न प्रतिष्ठा दिखती है, न लाभ दिखता है, न वंश दिखता है, न कुल दिखता है, अपितु सबकुछ लुटा देता है। यश भी चला गया, चारित्र भी चला गया, अब जीवन में बचा ही क्या ? इसलिए आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि, भो ज्ञानी ! नाना प्रकार के अशुभ परिणाम (विकार) रूपी काँटे जो तुम्हारे अंतस् में हैं, उन काँटों को पहले उखाड़ दो, उनको ध्वस्त कर दो, तभी तेरे चारित्र की निर्मल ध्वजा फहराती

रहेगी। इसलिए कर्म के बन्ध के समय और कर्म के विपाक के समय, यह दो समय सँभलने के हैं। बंध के समय में सँभलते रहे तो विपाक आयेगा क्यों ? और माना कि नहीं भी सँभल पाये और बंध भी कर लिया तो, भो ज्ञानी ! उदयकाल में ही सँभल जाओ तो भी अच्छा होगा, कम–से–कम नवीन कर्म का बंध तो नहीं होगा।

यदि तुम अपने परिणाम खराब कर रहे हो, कलुषित भाव कर रहे हो, दूसरे के अहित का विचार कर रहे हो, तो दूसरे का अहित हो या न हो, पर तुम्हारे हाथ तो कर्मों से रंग ही जायेंगे। कोई बचानेवाला नहीं है। कर्म का विपाक आता है तो व्यक्ति को कषाय होने लगती है और फेंकते हैं कषाय दूसरों के ऊपर तथा कहते हैं कि तुमने ऐसा कर दिया। पर यह कभी नहीं कहता है कि कर्म का बंध हमने किया था, जो अब मेरे उदय में आ रहा है; मैं दूसरों को दोष क्यों दे रहा हूँ? दूसरों पर आँख उठाना बंद करके देखोगे तो स्वयं पर दृष्टि जायेगी। इसलिए योगीराज अपनी दृष्टि से अपने आपको ही देखते हैं। जैनशासन में अरहंत की प्रतिमा में नासादृष्टि है। वे यही कह रहे हैं कि अब किसी को मत देखो। माँ जिनवाणी कह रही है कि, बेटा। अभी कुछ नहीं बिगड़ा, अपने आप सँभल जाओ, सुधार लो अपनी भूल को। क्योंकि भूल होना बहुत बड़ी बात नहीं है, पर भूल को सुधार लेना बहुत बड़ी बात है।

भो ज्ञानी ! देव–शास्त्र–गुरु का सान्निध्य क्यों ? अनादि की भूल सुधारने के लिए। आचार्य कुंदकुंद महाराज ने 'समयसार' जी में यही तो लिखा है–

सुदपरिचिदाणुभूया सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुवलंभो णवरि ण सुलभो विहत्तस्स ।।४।।

सब ही लोकों में काम और भोग विषयक बंध की कथाएँ तुमने अनादि से सुनी हैं, परिचित हो और अनुभवशील हो, परन्तु एकत्व–विभक्त्व आत्मस्वभाव का अनुभव कभी नहीं किया। इसलिए इन्द्रिय–विषयों में मत चले जाना। कर्म का फल भोगो, पर उसके भोक्ता मत बनो, नहीं तो पुनः भोगना पड़ेगा।

भो ज्ञानी आत्माओ ! जीव कितना निमग्न है, अपनी बातों को कितनी एकाग्रता से कर रहा है? परन्तु जिनेन्द्र की वाणी पर दृष्टि नहीं जा रही– यह दशा जीव की अनादि से रही

है। पंचमकाल में साधना की चरम सीमा कोई है, तो वह है निर्ग्रन्थ दशा। निर्ग्रन्थ दशा को प्राप्त करके भी यह रागदशा नहीं गई तो तू उभयलोक से पतित हो गया। वर्तमान के सुख तूने बुद्धिपूर्वक छोड़े हैं, सो तेरे ही गये एवं वर्तमान में तेरी साधना में कमजोरी है, सो भविष्य में सुख मिलनेवाले हैं नहीं। तूने दोनों हाथों से अपने आपको धोके में डाल दिया है। हे योगी ! कर्म का विपाक तीर्थंकर–जैसी आत्मा को नहीं छोड़ता है, आप तो सामान्य मुनिराज हैं। और ध्यान रखना कि कष्टों/उपसर्गों को देखकर आप साधना की परीक्षा मत करना। साधना निज का विषय है, उपसर्ग/परीषह कर्म का विषय है।

भो ज्ञानी ! शरीर का बौना होना खतरनाक नहीं है, किन्तु चिन्तन का बौना होना बहुत खतरनाक है। जिसका चिन्तन विशाल है, वह लघु में भी प्रभु को देखता है। जिनशासन तो निगोदिया में भी सिद्ध भगवान् को देखता है। यह चिन्तन की महिमा है। आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि कर्म के फल को भोगते हुए यदि भाव को मोह से युक्त कर रहा है, शुभ अथवा अशुभ भाव कर रहा है तो, भो ज्ञानी ! पुनः बंधेगा। जेल में कैद कर दिया गया तो जिस दिन से जेल में कैद हुआ उसी दिन से छूटने के दिन भी हैं। मुमुक्षु जीव प्रसन्न है, क्योंकि दुःख तब तक मनाओ जब तक जेल में पहुँचे नहीं थे। अब तुम खुश हो जाओ, क्योंकि आज का दिन कम हो गया। ऐसे ही कर्म का बंध कह रहा है कि जो विपाक आ रहा है उसे शांति से गुजार लो। कर्मों की जेल में तू बैठा है, मोह–माया के पैर पर खड़ा हुआ है, धीरे से मौन होकर निकल जाओ। इसलिए सर्वश्रेष्ठ साधना है मौन। बोलने वाले के सब कार्य बिगड़ जाते हैं। मौन से अपने आप सिद्धि होगी। यदि आपने कर्म के उदयकाल में संक्लेषता की, तो अशुभ उदय में तो नवीन कर्म का बंध होगा। क्यों होगा? क्योंकि आप अहंकार में डूब गये। इसलिए हर्ष में फूलो मत और विषाद में कूलो मत, यह जिनेंद्र की देशना है। ज्ञानी हर्ष में फूलता नहीं है और विषाद में कूलता नहीं है। जब योगियों की ऐसी दशा हो सकती है तो, भोगियो ! भूल मत जाना, तुम्हारी क्या दशा होगी ? जिस सरिता में 'गज' जैसे जीव बह गये, वहाँ मूषकों की क्या दशा होगी ? भो ज्ञानी ! अब समझना, जिन कर्मों की सरिता में तीर्थंकर–जैसे गजराज नहीं बचे, फिर हम सभी सामान्य मूषक कैसे बचेंगे ? आपने सबकुछ छोड़ा, यदि परमाणुमात्र भी राग तुमने नहीं छोड़ा, तो कर्म से मुक्त नहीं हो सकते।

ग्रंथराज समयसार जी में आचार्य कुंदकुंद देव ने लिखा है कि **सम्पूर्ण आगम को**

कंठस्थ कर लो, घोल कर पी जाओ; परन्तु जब तक तुम्हारे विषय नहीं धुलेंगे, तब तक कल्याण होनेवाला नहीं है। 'प्रवचनसार' जी की चरणानुयोग चूलिका में कुंदकुंद देव ने बहुत ही गहरा कथन किया है – **'जिनवाणी को नहीं–जाननेवाले का कल्याण हो जायेगा, पर जिनवाणी को नहीं–माननेवाले का कभी कल्याण नहीं होगा।'** इसलिए वीतरागवाणी को तुम जानो भी, मानो भी और तदनुसार परिणमन भी करो।

भो ज्ञानी ! राग की आग को छोड़ो, यह तुझे अनादि से झुलसा रही है। निज की ओर लक्ष्य बनाओ, राग–दशा को छोड़ो, वीतराग–दशा की ओर ध्यान करो और तदनुसार प्रवर्तन करो, तभी मुक्ति की प्राप्ति संभव है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

संवर सहित तप ही मोक्ष-सापेक्ष निर्जरा का कारण है

सुहदुक्खं पि सहंतो णाणी झाणम्मि होइ दिढचित्तो ।
हेऊ कम्मस्स तओ णिज्जरणट्ठं इमो भणिओ ॥५४॥

अर्थ: ज्ञानीपुरुष सुख–दु:ख को भी सहता हुआ ध्यान में दृढ़–चित्त होता है, तब उसका तप कर्म की निर्जरा के लिए हेतु है, ऐसा कहा गया है।

ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं ।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥५५॥

अर्थ: जो जीव अपने आत्मभाव को नहीं छोड़ता है, परपदार्थरूप नहीं परिणत होता, किन्तु अपने आत्मा का मनन करता है, वह निश्चय से संवर एवं निर्जरारूप कहा गया है।

ससहावं वेदंतो णिच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो ।
सो जीवो णायव्वो दंसण–णाणं चरित्तं च ॥५६॥

अर्थ: अपने आत्मस्वभाव को अनुभव करता हुआ (जो) परभाव को छोड़कर निराकुल मन वाला होता है, वही जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र (स्वरूप) जानना चाहिए।

भो मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी की पावन देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही अनूठा सूत्र दिया – हे योगी ! सम्पूर्ण आगम का ज्ञाता होने पर भी तू तत्त्वज्ञाता नहीं हो सकता। जो प्रयोजनभूत तत्त्व है, वह है निज आत्मतत्त्व। आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि जब तक परमाणुमात्र भी राग की कणिका विद्यमान है, तब तक तू मुक्ति को वरण नहीं कर सकता और जहाँ निरन्तर राग ही राग की वृद्धि हो रही हो, वहाँ

मोक्षमार्ग कैसा ? योग का अभ्यास भी किया, योगमार्ग पर भी चला, परन्तु विरागमार्ग को प्राप्त नहीं कर पाया। भो ज्ञानी ! योगाचार्य बनने से काम नहीं चलेगा, योग के निरोध से काम चलेगा। जब तक योग का निरोध नहीं है, तब तक निरास्रव भाव नहीं है एवं जब तक निरास्रव भाव नहीं है, तब तक संवर–निर्जरा नहीं है। अतः वही पुरुषार्थ सम्यक् है, जिसमें निरास्रव भाव है। इस जीव ने आत्मभाव एवं आस्रव भाव में अंतर नहीं जाना। आस्रव भाव भिन्न नहीं है, आत्म भाव भी भिन्न नहीं है। वही भाव आस्रव का जनक है, वही भाव आत्मतत्त्व का जनक है और दोनों में आत्मा है। आस्रव का कर्ता भी आत्मा है और निरास्रव भाव का कर्ता भी आत्मा है। भावों से यदि आस्रव होता तो मोक्ष कब होगा ?

भो ज्ञानी ! भावों के भी विभिन्न भेद हैं। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग– ये बंध के हेतु हैं। इनमें से तेरी आत्मा का पहला शत्रु यदि कोई है तो मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व के पाँच प्रकार हैं, परन्तु मिथ्यात्वपरिणाम के भेद अनेक हैं। असंख्य लोकप्रमाण इस जीव के मिथ्यात्वपरिणाम हैं। बाह्य पदार्थ में राग दिखता हो या न दिखता हो, परन्तु परिणाम में मिथ्यात्व का राग बैठा हुआ है, वह सबसे बड़ा शत्रु है, सबसे बड़ा परिग्रह है, जिसे अंतरंग परिग्रह कहते हैं। एकांत, विपरीत, विनय, संशय एवं अज्ञान यह पाँच प्रकार का मिथ्यात्व है। पता नहीं किस समय तुम कौन–से मिथ्यात्व में जी रहे हो ? अग्रहीत की तो बात छोड़ो, ग्रहीत मिथ्यात्व क्या होगा ? वही उपदेश तूने दूसरे को दिया, जिससे उसके वीतराग धर्म के प्रति निर्मल श्रद्धा के टुकड़े–टुकड़े हो गये।

भो मनीषी आत्माओ ! सम्यक्त्व की दुर्लभता को समझो, श्रद्धा की दुर्लभता को समझो। यदि छोटे से बालक ने पूजा की और पूजा करते समय उसने पुष्प की जगह नैवेद्य चढ़ा दिया, तो उसको डाँटना मत। जब पूजा करके आये, तो उसे आराम से बैठाकर समझा देना; क्योंकि जो चलेगा, वही तो गिरेगा। किसी व्यक्ति को दुत्कारो मत, क्योंकि जिनवाणी कहती है कि एक निगोदिया में भी सिद्ध परमेश्वर हैं। जिस दिन भूल को सुधार लेगा, भगवान् बन जायेगा। कच्चा माल नहीं होता तो पक्का माल तैयार होगा कहाँ से ?

भो ज्ञानी ! द्रव्यानुयोग कहता है कि प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव रखो। जब तक मैत्रीभाव नहीं है, तब तक तुम्हारे जीवन में वात्सल्य नहीं है, धर्मभावना नहीं है। राग करो तो वीतराग

गुणों में करो। अज्ञानी को मित्र के प्रति तो ठीक है, परन्तु शत्रु के प्रति भी राग होता है। अज्ञानी कहता है– यह मेरा शत्रु है, मेरी इनसे बोलचाल नहीं है। अर्थात् शत्रु में भी ममकार भाव चल रहा है। देखो, द्वेष में भी राग है। यदि द्वेष में राग नहीं होता तो तेरा कोई शत्रु बनता ही नहीं। अब चिंतन करिये कि जीवन में कितने घंटे आपने किसके लिए दिए हैं ? कितनी श्वासें आपकी किसके लिए समर्पित की गई ? राग बहुत घनघोर है, शब्द तो सामान्य है। आप तुरन्त कह देते हो कि राग मत करो। पर किससे न करूँ ? कम–से–कम राग की सीमा तो बाँध लो। असीम राग के स्थान पर सीमित हो जायेगा। जो आस्रव हो रहा है, वह तो सीमित हो जाएगा।

भो मनीषियो ! परमाणुमात्र भी यदि राग है, तो वह बंध का ही कारण है। 'पद्म–पुराण' में उल्लेख आया है कि एक पिता मृत्यु के बाद अपने बेटे का बेटा हो गया। उसको जातिस्मरण हो गया, तो वह मौन हो गया। मौन किस बात पर था ? अब मैं अपने बेटे को पिता कैसे कहूँ ? एक दिन मुनिराज के पास गया। मुनिराज मुस्कुरा गए, बोले–हे मूढ़ जीव ! जिस पर्याय में तू है, उस पर्याय के सम्बन्ध को देख, यह रागदृष्टि को हटा। बस, उसको अपनी पर्याय का सम्बन्ध देखकर पर्यायी का ज्ञान हो गया। यह सम्बन्ध शाश्वत तो हैं नहीं। राग भी शाश्वत नहीं है, वह भी नष्ट होगा। जब नष्ट होगा, तो पहले ही आप नष्ट कर दो तो आप विरागी कहलाओगे।

आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं– ज्ञानी हो चाहे अज्ञानी, कर्म की सत्ता दोनों के पास है। एक जीव दुःख में भी सुख की खोज कर लेता है और एक जीव सुख में दुःख की खोज कर लेता है। भो ज्ञानी ! अशुभ काल में भी तू सुकृत कर ले, तो ज्ञानी बन जायेगा। आयुकर्म तेरा क्षीण हो रहा है, शरीर की दशा तेरी क्षीण हो रही है और सामर्थ्य कमजोर हो रही है, तो अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति तपस्या में लगा दो। ज्ञानीजीव सुख–दुःख दोनों को सहन करता है एवं अपने ध्यान में दृढ़–चित्त होता है। परन्तु इन कुटुम्ब के लोगों से बहुत सुरक्षा रखना। जब भी दगा देंगे, ये ही लोग देंगे। सगा ही दगा देता है। जब–जब तुम्हारे संयम को नष्ट करायेंगे तो ये कुटुम्बी ही करायेंगे। जब भी परिणामों को कलुषित करायेंगे तो ये ही करायेंगे, पड़ोसी कभी नहीं आयेगा। एक योगी निर्विकल्प ध्यान की ओर जा रहे थे, स्वतंत्र सत्ता को जान रहे थे। वहाँ से ससुर निकल पड़ा और बोला– जब तुझे ये ही ढोंग करने थे, तो मेरी

बेटी के साथ विवाह क्यों किया ? रागी राग में इतना अंधा हो गया कि जीव को जीव नजर नहीं आया। 'मेरी बेटी के साथ धोखा किया है, मैं तुझे देखता हूँ।' पहले लोहे के कीलें ली एवं मुनिराज के सिर में ठोंक दी। फिर भी शांति नहीं मिली, कषाय की तीव्रता तो देखो, जलती हुई सिगड़ी भी सिर पर रख दी। झुलस रहा है शरीर, योगी क्या कर रहे हैं ? सुख–दु:ख की अवस्था में झूल रहे हैं। दोष इसका नहीं है, दोष मेरा है। एक क्षण का दोष है कि मैंने शादी का भाव किया था। आज तो मात्र सिगड़ी से जल रहा हूँ और कहीं जीवन भर का पूरा सम्बन्ध स्थापित करके रहता, तो पता नहीं क्या होता ? यह है सम्यक् चिन्तन। भोगी और योगी में इतना ही अन्तर होता है। भोगी पर को दोष देता है और योगी कर्म–विचित्रता कहके स्व में प्रवेश कर जाता है। भोगी जलता–ही–जलता जाता है और योगी जलते हुए भी जल बन जाता है।

भो ज्ञानी ! जलते हुए भी जो जल बनके जीता है, वही परमानन्द में अवगाहन, निजानंद में लीन होकर शुद्ध दशा को प्राप्त कर लेता है। सिगड़ी तो जल रही थी, पर अंदर में बैठे–बैठे वे जल नहीं रहे थे, वे चमक रहे थे। रागी उसी अग्नि में जल करके भस्म हो जाता है, परन्तु विरागी उसी अग्नि में जल करके कुन्दन हो जाता है। मनीषियो ! तिलक शीश पर होता है और जो जलता है वह जीव त्रैलोक्य–तिलक हो जाता है। इसलिए आज से जलना सीख लेना गजकुमार मुनिराज जैसा। ओहो ! इतनी समता जिस दिन आपके अन्दर आ जाए, सोच लेना मैं समयसार में जी रहा हूँ।

आचार्य देवसेन महाराज कह रहे हैं कि जिस समय गजकुमार मुनिराज ध्यान में लीन थे, उस समय जलने का दु:ख तो था, वेदना तो थी, पर वेदकभाव से वेदन कर रहे थे, रागभाव से नहीं। यह था समयसार। दृढ़चित्त होकर जो तप किया जाता है, वह तप निर्जरा का स्थान होता है। जो समतापूर्वक तपस्या करते हैं, वह तपस्या निर्जरा का हेतु है। अत: जो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते एवं परभाव में परिणमन नहीं करते, ऐसे जो जीव हैं उनके संवर के साथ निर्जरा शीघ्र ही होती है।

हे योगी ! द्रव्यसंयम धारण करने के बाद इतिश्री मत कर लेना। ये आत्मप्रभावना का भेष है। यदि आप धर्म से प्रभावित होंगे, तो नियम से धर्मप्रभावना होगी। यदि कहीं आप ही धर्म से दूर होकर प्रभावना कर रहे हो, तो यह झलक जाता है कि ये तन–प्रभावना में हैं कि

धर्म–प्रभावना में ? जो योगी अपने स्वभाव का वेदन करते हुए, निश्चल चित्त होकर परभाव से विमुक्त हो जाता है, तभी आप उस पंक्ति को लगाना कि–

''तिन सुथिर मुद्रा देख मृगगण, उपल खाज खुजावतै''।। छहढाला।।

मृगगण जिनके शरीर पर खुजली खुजा रहे हैं पाषाण समझ करके, फिर भी वे स्थिर बैठे हैं। धन्य हो, नमोस्तु कर लो ऐसे योगी को। प्रभु ! वही दशा मेरी हो कि जिनको तन का भान नहीं, उनको पर का भान क्या होगा ? यह है समयसार। अभ्यास अभी से करना होगा। जब आपके घर में अच्छा विसंवाद चल रहा हो और आप घर के आँगन में बैठ जाना सामायिक करने। फिर देखो, जो लाठी बरसाने वाले थे, वे ही चरण पूजने लगेंगे। विसंवाद भी दूर हो गया और चरण भी पुज गए। किसी बात को विराम देना हो तो विराम ले लो। अग्नि तभी शांत होती है, जब उसमें ईंधन न डालें। अग्नि बुझाने के लिए तुम्हारे घर में पानी नहीं है, तो कोई चिंता नहीं है। पानी डालो या मत डालो, किन्तु कषाय को भड़काओ तो मत। तुम योगी बनो या न बनो, दिक्कत नहीं है, परन्तु, भो ज्ञानी ! भोगों को तो मत भोगो। यही तो तीर्थंकर की देशना है, विधि और निषेध। निषेध में दिक्कत है तो निषेध का शमन कर दो। लेकिन विषय–वस्तु वही है। उस जीव को जानो, जो परभाव को छोड़ देता है, स्वभाव का वेदन करता है, वही चेतन (दर्शन–ज्ञान) में स्थित परम योगी सुसमय में लीन होता है– यही मोक्ष का मार्ग है।

।। भगवान् महावीर स्वामी की जय ।।

९ ९ ९

निश्चयनय से आत्मा ज्ञानादि-गुणमय

जो अप्पां तं णाणं जं णाणं तं च दंसणं चरणं ।
सा सुद्धचेयणा वि य णिच्छयणयमस्सिए जीवे ॥५७॥

अर्थ: निश्चयनय के आश्रित जीव में जो आत्मा है, वही ज्ञान है और जो ज्ञान है, वही दर्शन है, वही चारित्र है और वही शुद्ध चेतना भी है।

उभयविणट्ठे भावे णिय–उवलद्धे सुसुद्धससरूवे ।
विलसइ परमाणंदो जोईणं जोयसत्तीए ॥५८॥

अर्थ: राग और द्वेषरूप दोनों भावों के विनष्ट होने पर, अत्यंत शुद्ध आत्मस्वरूप निजभाव के उपलब्ध होने पर योगशक्ति से योगियों के परम आनंद विलसित होता है।

किं किज्जइ जोएणं जस्स य ण हु अत्थि एरिसी सत्ती ।
फुरइ ण परमाणंदो सच्चेयणसंभवो सुहदो ॥५९॥

अर्थ: उस योग से क्या करना है ? जिसकी ऐसी शक्ति नहीं है कि उससे सत्–चेतन से उत्पन्न सुखद परमानंद प्रकट न हो।

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर की पावन देशना को हमारे आचार्यभगवन्तों ने सहजता से हम सभी को प्रदान किया है। आचार्य देवसेन स्वामी ने भी कथन किया है कि यदि परमाणुमात्र भी राग है, तो वहाँ नियम से बंध है। इसी बात को आचार्य कुंदकुंद स्वामी ने 'समयसार' जी में लिखा है–

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो बहुभावसंजुत्तो ॥

अर्थात् जिसकी बुद्धि अज्ञान से मोहित है एवं जो राग–द्वेषादि बहुत भावों से सहित है, ऐसा जीव कहता है कि शरीरादि बद्ध और धनधन्यादिक अबद्ध पुद्गल–द्रव्य मेरा है।

अहो भव्य जीवो ! तुमने मोह के मद को अनादि से पिया है और यह मोह–मद ही आपको मोहित किये हुये है। अज्ञान से मोहित जीव निरन्तर यही सोचता है, कि ये पुद्गलद्रव्य मेरे हैं। जो बद्ध हैं, वह भी मेरे हैं और निर्बद्ध हैं, वह भी मेरे हैं। अर्थात् ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म तुझसे बंधे हुये हैं, यह बद्ध पुद्गल हैं। स्त्री, पुत्र, मकान आदि ये निर्बद्ध पुद्गल हैं। बद्ध में अपना भाव हो, ठीक है; कम–से–कम तू बद्ध में बंधा हुआ है, लेकिन निर्बद्ध को अपना कह रहा है। मोह की दशा तो देखो, संश्लेष–संबंध को भी स्वभाव मान रहा है। जो निर्बद्ध है, वह निर्मल संबंध है तथा जो बद्ध है, वह संश्लेष–संबंध है। संबंध अनेक प्रकार के होते हैं– आधार–आधेय संबंध, कारण–कार्य संबंध, श्रद्धा–श्रद्धेय संबंध, ज्ञान–ज्ञेय संबंध और संश्लेष–संयोग संबंध।

भो ज्ञानी ! कर्म से तेरा संबंध तो संश्लेष संबंध है। मेरा–तेरा संबंध यह संयोग संबंध है और परमेष्ठी के रूप में देखोगे तो श्रद्धा–श्रद्धेय संबंध है। जिस भूमि पर बैठा है, यह आधार–आधेय संबंध है। जिसे तू जान रहा है, जिसे तू देख रहा है, यह ज्ञान–ज्ञेय संबंध है। परमेष्ठी ध्येय हैं, तू ध्याता है, ये ध्याता–ध्येय संबंध है। परन्तु यदि संसार में कोई निर्मल संबंध है तो गुण–गुणी संबंध है। यही मेरा संबंध है। गुण–गुणी संबंध ही स्वभाव संबंध है, बाकी संसार के नाना संबंध हैं।

भो मनीषियो ! दुःख के अनेक भेद जानना चाहते हो तो संयोग को समझ लो। जितने संयोग कम थे, उतने दुःख कम थे। जितने संयोग बढ़ गए, उतने दुःख बढ़ गये। मैं कल प्रवचन सुनने नहीं आ सका, क्योंकि मित्र की माँ की मृत्यु हो गई थी। देखना, जिनवाणी से दूर हुआ संबंध के पीछे। संयोग में दुःख है कि नहीं ? यदि सुखी होना चाहते हो तो आप दुःख के संयोगों को क्यों जुटाते रहते हो ? नाना संबंधों को क्यों स्थापित करते रहते हो ? अहो मुमुक्षु आत्माओ ! आश्चर्य है कि लोग परिचय बढ़ाने को श्रेष्ठ मान रहे हैं। जहाँ परिचय होगा, वहाँ नियम से राग बढ़ेगा।

भो ज्ञानी ! संसार की विचित्रता देखो ! संध्या वेला में पक्षीगण एक वृक्ष पर बस जाते हैं, परन्तु प्रातःकाल होते ही अपने–अपने कार्यवसात् अपनी–अपनी दिशाओं में लौट जाते हैं। यह रैनबसेरा है, इसे समझना। जिसने रात्रि को निज के जागरण में व्यतीत किया है, उसको जाने में रोना नहीं होता है और जिसने रात्रि को राग में बिताया है, उसको प्रातः होने पर रोना पड़ता है। आप लोग घर में रहो, कोई दिक्कत नहीं है। सबके साथ रह रहे हो, कोई दिक्कत

नहीं है; परंतु इन सबको स्वभाव बनाकर मत रहना। दृष्टि यह रखना कि मात्र संयोग चल रहा है, इसमें स्वार्थ की मिश्री मिली है। मुमुक्षु जीव तो परिवारदृष्टि को नष्ट करना चाहता है। चारों ओर से जो वार कर रहा हो, उसका नाम परिवार है। एक इधर खींचती है, एक उधर खींचता है। कभी भाई खींचता है, कभी बहिन खींचती है, कि मेरी इच्छा पूरी नहीं की आपने। कभी बेटा खींचता है, तो कभी बेटी खींचती है और पत्नि का कहना ही क्या ? यह संसार की दशा है, मोह की महिमा है। मोह तो तुम्हारा शत्रु है। शत्रु को इतना महिमामण्डित नहीं करनी चाहिए, कि हमने अपने आप को ही खो दिया।

मैत्रीभाव जगत में मेरा, सब जीवों से नित्य रहे।
दीन–दुःखी जीवों पर मेरे, उर से करुणास्रोत बहे ॥ मेरी भावना॥

'मेरी भावना' पुस्तक में नहीं, 'मेरी भावना' मेरी भावना होनी चाहिए। जैनसिद्धान्त में मैत्री की परिभाषा आप लोगों ने शायद पढ़ी नहीं है। ग्रंथराज सर्वार्थसिद्धि में आचार्यमहाराज मैत्री की परिभाषा में यह नहीं कहते, कि हाथ से हाथ मिला लो। वह तो इसका निषेध कर रहे हैं। तुमने हाथ से हाथ मिलाया, उसके हाथ में निगोदिया जीव तेरे हाथ के निगोदिया जीव से टकराये, वे मर गये और तूने हिंसा कर दी। गले से गले लग जाना मैत्री नहीं है, एक को दूसरे का पसीना/बीमारी लग गई और जीवों की हिंसा भी हो गई। एकसाथ एक ही थाली में भोजन करने बैठ जाने, जूठन खाने को जिनवाणी मैत्रीभाव नहीं कहती है। दूसरे के गिलास का पानी पीना, खड़े–खड़े भोजन करना, इसका नाम मैत्रीभाव नहीं है। खड़े–खड़े भोजन करने का शौक है तो हमारे साथ चलो। एक हाथ में क्यों ? दोनों हाथों से खाओ। दूसरे की पीड़ा देखकर उसकी पीड़ा को दूर करना, किसी गिरते को उठा लेना, इसका नाम मैत्रीभाव है।

भो चेतन ! पुण्यात्मा वह है, जिसकी धर्म–धर्मात्माओं के प्रति और जिनवाणी सुनने के प्रति तत्त्वजिज्ञासा है। जिनवाणी विभूति को पुण्य नहीं कहती। 'पुनाति आत्मानं इति पुण्यं' जिससे आत्मा पवित्र हो, उसका नाम पुण्य है। आत्मा धन या वैभव से पवित्र नहीं होगी, वह तो रत्नत्रय धर्म से पवित्र होगी। जिसकी रत्नत्रय–धर्म के प्रति भावना है, वह पुण्यात्मा है।

मनीषी आत्माओ ! हमारे आचार्यों ने परमानंद की चर्चा करते हुये कहा है कि आत्मा ही धर्म है। मत खोजना धर्म को पर्वतों की चोटी पर, जंगलों में, नदियों में, तालाबों में। यहाँ धर्म नहीं है। अहो मृग ! तू कस्तूरी खोज रहा है जंगल में। अरे ! थोड़ा सिर नीचे तो कर,

सुगंध तेरी नाभि में ही है। अहो मृग–आत्मन् ! तू रत्नत्रय की खोज तीर्थों में कर रहा है, पर्वतों, नदियों तालाबों में कर रहा है। यह तीर्थभूत आत्मा तू ही है। रत्नत्रय ही दिव्य नौका है एवं जो तिरा दे, उसका नाम तीर्थ है। जब छोटी–सी नौका सागर को पार करा देती है, फिर यह तो दिव्य नौका है, जो अवश्य ही भवसागर से पार करायेगी। यदि नदी, तालाब और सागर से पार होना है तो काठ की नौका में बैठो, और यदि भवसागर से पार होना है तो आ जाओ, रत्नत्रय की नौका में बैठ जाओ।

मनीषियो ! दिखावा मोक्षमार्ग में है ही नहीं। दिख जाये, वह विषय अलग है, पर दिखावा नहीं है। इसलिए श्रमणसंस्कृति का दूसरा नाम अकिंचन संस्कृति है। दस धर्मों में एक आकिंचन्य धर्म है। एक भैया जी कह रहे थे– महाराजश्री ! किसको छोड़ूँ, कहाँ जाऊँ ? आत्मा को छोड़ो, आत्मा में जाओ। कैसे? अरे ! राग–भाव से युक्त आत्मा को छोड़ो और उसमें वीतराग भाव को खोज लो। अपने में अपने को खोजो। निश्चयनय से आत्मा ही दर्शन–ज्ञान–चारित्र है और वही शुद्ध चेतना भी है। इसलिए धर्म आत्मा में ही है। जब राग–द्वेष भाव नष्ट हो जायेंगे, तब शुद्धस्वरूप की प्राप्ति होगी।

देखो, अन्य मतों में तो लोगों को साधु बनाने के लिये भी कुछ लेना पड़ता है, किंतु जिनशासन में सब छोड़ना पड़ता है। साधु बने तो न तिलक लगाना, न कुछ कहना, न कुछ भी करना। बस जैसे हो, वैसे हो जाओ। उसी का नाम साधु है। जिनवाणी में साधु को निर्ग्रन्थ वेष, यथाजात रूप वाला कहा गया है। बस, निज में विहार करो, घूमने–फिरने से काम नहीं चलेगा। जब तू स्वरूप को प्राप्त कर लेगा, तो फिर परमानंद में विलास होगा। यही तत्त्वसार है।

इन तीन गाथाओं में आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि तुम परमानंदस्वभावी तो हो, पर परमानंद–भोगी नहीं हो। पर को बहुत जोड़ा, अब निज में निज को जोड़ना। पर को छोड़ना पड़ेगा, तभी तो आत्मा से आत्मा जुड़ेगी। जिसकी योगधारण करने की शक्ति नहीं है, वह जीव परमानंद को प्राप्त नहीं कर सकता। आप तो कम–से–कम परमानंद की उपासना करते रहो, उपासक तो बने रहो, कभी–न–कभी तो शक्ति आयेगी। जब योगशक्ति तेरे अन्दर जाग्रत होगी, तो एक क्षण में तू परमानंद में लीन हो जाएगा।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

चित्त की स्थिरता परमानन्द की जननी है

जा किंचि वि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहियजोयस्स ।
ताम ण परमाणंदो उप्पज्जइ परम सुक्खयरो ॥६०॥

अर्थः जब तक योग के धारक योगी का मन ध्यान में कुछ भी चलायमान रहता है, तब तक परम सुखकारक परमानन्द का उत्पादन नहीं होता है।

सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ को वि सासओ भावो ।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो खु ॥६१॥

अर्थः सकल विकल्पों के रुक जाने पर कोई अद्वितीय शाश्वत भाव उत्पन्न होता है, जो आत्मा का स्वभाव है। यह निश्चय से मोक्ष का कारण है।

अप्प सहावे थक्को जोई ण मुणेइ आगए विसए ।
जाणइ णिय–अप्पाणं पिच्छइ तं चेव सुविसुद्धं ॥६२॥

अर्थः आत्मस्वभाव में स्थित योगी उदय में आये हुए इंद्रियविषयों को नहीं जानता है, (किन्तु) अपनी आत्मा को ही जानता है और उसी अति विशुद्ध आत्मा को देखता है।

मनीषियो !

वर्तमान शासननायक वर्द्धमान स्वामी के शासनकाल में हम सभी विराजते हैं। उसमें आचार्य भगवंतों की देशना है कि इन्द्रियों की सबलता वहाँ कार्यकारी नहीं होती जहाँ वैराग्य की सबलता सामने खड़ी होती है। आप जिस समय जिनवाणी सुनते हो, क्या उस समय कषाय नहीं होती ? वेदनीय कर्म नहीं होते? जब आप एक घंटे कषायों को जीत सकते हो तो, भो ज्ञानी ! ऐसा भी पुरुषार्थ हो सकता है कि जीवन भर कषायों पर शासन किया जा सकता है, जीवन भर इंद्रियों को वश में रखा जा सकता है। यहाँ आपका उपयोग जिनवाणी में है, इसलिए इन्द्रियों के भोगों में सामर्थ्य नहीं है। हे जीव! तेरे उपयोग में ही सामर्थ्य है। क्योंकि उपयोग जहाँ होता है, इन्द्रियों का काम वहाँ निष्प्रभावी होता है।

भो ज्ञानी ! जो इन्द्रियों को नष्ट करने के लिए योगी बनना चाहता है उसे जिनवाणी योगी नहीं कहती। इन्द्रियों को नष्ट नहीं किया जाता, इन्द्रियों को तो वश में किया जाता है। जब तक आत्मा इन्द्रियों पर अपना सबल और सशक्त पुरुषार्थ नहीं करेगा, तब तक परमानंद दशा कहाँ ? इन्द्रियों को दोष मत देना, परद्रव्यों को दोष मत देना। आप विश्वास करना जिनवाणी पर और अपने ऊपर कि मैं जिधर चित्त ले जाऊँगा वहीं भूख है, प्यास है, वहीं योग है।

मनीषियो ! भूख–प्यास सहन करने को मैं आश्चर्य नहीं मानता हूँ। जब घर में इष्ट का वियोग होता है तो चूल्हे में आग नहीं जलती और दिनभर रोने में निकाल देता है। इष्ट का स्मरण करने में कितना आनन्द आता है ? एकाग्रता हो जाती है, तब न भूख सताती है न प्यास। वैसे ही जब योगी को निज का अभीष्ट दिखता है, वहाँ भूख–प्यास की याद नहीं सताती और जब योगवृत्ति प्रबल होती है तो भोगवृत्ति शान्त हो जाती है। जब भोगवृत्ति बढ़ती है तो योगवृत्ति समाप्त हो जाती है।

भो चेतन ! योगी की जैसे–जैसे तत्त्व की संवित्ति प्रारम्भ हो जाती है, वैसे–वैसे सुलभ पदार्थ भी अरुचिकर लगने लगते हैं। जैसे–जैसे विषयों की प्रवृत्ति समाप्त होती जाती है, वैसे–वैसे स्वसंवित्ति जाग्रत होती जाती है। देखो, चकमक की बटइया हाथ में पकड़ो तो शीतल लगती है, पर घर्षण कर दो तो अग्नि प्रज्वलित होती है। हे योगी ! ये चेतन चकमक बटइया है, उसमें घर्षण करो तो केवलज्योति प्रकट हो जाती है। ऐसे ही मेरा प्रभु दिखता नहीं, पर मेरा प्रभु प्रकट होता है। अज्ञानी कहता है कि मेरा प्रभु दिखता है और ज्ञानी कहता है मेरा प्रभु प्रकट होता है। जिस दिन यह प्रकट हो जायेगा, उस दिन देखने की आवश्यकता नहीं होगी, वह तो स्वयं ज्ञाता–दृष्टा है।

ध्यान रखना, यह प्रभु बड़ा विचित्र है। अनुभव करोगे तो देह में अनुभूत होता है और देह को निकालकर देखोगे तो बिल्कुल नहीं मिलेगा। जैसे मंदिर के दरवाजे खोलने पर अंदर प्रभु दिख जाते हैं, उसी प्रकार हृदय खोलने पर तेरा प्रभु तुझे नहीं दिखेगा। ये शरीर को छोड़कर मिलने वाला नहीं है, ये मोह को छोड़कर मिलेगा। अज्ञानी शरीर को छोड़कर, शरीर को भेदकर चैतन्य भगवान् को देखना चाहते हैं और ज्ञानी कहता है कि मोह के कपाट को खोल दो तो चैतन्य प्रभु दिख जाएगा।

भो ज्ञानी ! जिस की दृष्टि जैसी होती है, उसको वैसा ही दिखाई देता है। भोगदृष्टि को कभी योग नहीं झलकता और योगदृष्टि में कभी भोग नहीं झलकते। एकसाथ दो दृष्टियाँ कभी त्रैकालिक नहीं हो सकती। गिरगिट को तो रंग बदलने में देर लगती है पर, हे नर ! तेरे मन को रंग बदलने में जरा भी देर नहीं लगती। कल जिन संतों के चरणों में बैठा था, आज उन्हीं संतों का विरोधी हो जाता है और परसों जिनका सहपाठी नहीं था, अब उनके साथ हो जाता है। यह संसार की विचित्रता है।

भो चेतन ! हिरन को बाँसुरी सुनने में कितना आनन्द होता है और तुझे जिनेन्द्र की वाणी सुनने में कितना आनन्द आता है ? हे पापी ! तू पाप की दृष्टि त्याग दे। देह को चीर कर भगवान् मिलनेवाले नहीं। इस शरीर को समाप्त क्यों न कर दे, पर परमात्मा मिलनेवाला नहीं। संयम की साधना करेगा तो परमात्मा प्रकट हो जायेगा। मोही जीव कभी भगवान् में राग करता है, तो कभी 'आत्मा' शब्द में राग करता है; परन्तु अन्दर से आत्मा को देख नहीं पाता। बात को समझना, राग में आकर तू कहीं चैतन्य–मृग का घात मत कर देना। इस राग में आकर तू मुक्तिवधू का घात मत कर देना। इस राग में आकर तूने क्या–क्या नहीं किया ? यह कषाय की छुरी तेरे हाथ में है, लोभ के कारण मोती चाहता है, पर तुझे वे मिलनेवाले नहीं। मनुष्य आयु के लाल को तू कमाकर लाया था और यहाँ तूने उसे गँवा दिया। कर्म कहता है कि मैं तुझे हथकड़ी–बेड़ियों में डाल दूँगा और निगोद में सीधे पटकूँगा, भूल में मत रहना। जो आज है, वह सब पुण्य का खेल है, पुण्य को खा रहे हो।

भो ज्ञानी ! जो यथार्थ को यथार्थ नहीं कह पाता, इससे बड़ा कोई पापी नहीं है। अतः मैं समझता हूँ कि आकिंचन्य को समझ लोगे तो परमानन्द का आनन्द प्रारम्भ हो जाएगा। भो ज्ञानी ! विषय बहुत गंभीर है। ज्ञानी के अन्दर का विषय कभी समाप्त नहीं हो सकता। पुस्तकों की इतिश्री हो सकती है, लेकिन आत्मा की इतिश्री कभी नहीं हो सकती। पुराण पुद्गल से रचित होते हैं, जबकि अध्यात्म पुद्गलरहित होता है। पुराण पुद्गल है और उसमें सब पर्यायों का ही कथन है। परन्तु जो पुराणों से परे हो जाता है, उसका नाम परम पुरुष होता है। 'अस्ति–पुरुष चिदात्मा' यह तो बहुत दिनों से सुन रहे हो। परन्तु देवसेन स्वामी पुनः–पुनः समझा रहे हैं, यह उनकी परम करुणा है।

देखो, सहज मन की एकाग्रता का विषय भिन्न है। वह सब कहा नहीं जाता, भोगा नहीं

जाता, मात्र अनुभव में आता है। जब समाधि में मन अच्छा लगता है तो बाहर का चिन्तन भी भार लगता है। इसलिए तो मैं गहरे की बात करता हूँ जिससे आपको स्वभाव में विश्वास होने लगे। आज लोग वाह–वाह में इतना दौड़ रहे हैं कि साधुस्वभाव पर दृष्टि नहीं है। जब साधुस्वभाव की बात ही चारित्र है, तब साधुस्वभाव कितना प्रशांत होगा।

तुलसी संगत साधु की, ज्यों गंधी की बास।
जो गंधी कुछ दे नहीं, तो भी बास सुबास ॥

विदिशा की गली से कोई इत्र बेचनेवाला निकल जाये तो गली महक जाती है। भो गरीबी ! तुम्हारे पास चैतन्य गंध खरीदने को पैसा नहीं तो योगी को देख लो। जब योगी को देखने में इतनी प्रसन्नता है, आनन्द है, तो इसको प्राप्त करने में कितना आनन्द होगा?

हे योगी ! साधु बन सको या न बन सको, पर साधुस्वरूप पर विश्वास दिला सको, इसका नाम साधु है। क्योंकि साधु जब भी बनेगा, अपने उपादान से ही बनेगा। संसार में उससे बड़ा कोई साधु नहीं, जिसकी आस्था, जिसकी श्रद्धा, जिसकी चर्या, जिसकी वृत्ति यह झलका दे कि हाँ, साधु होते हैं। भो ज्ञानी ! यदि यह स्थिति समाप्त हो गई तो वीतराग धर्म समाप्त हो जाएगा। 'तिलोयपण्णति' में लिखा है कि जब तक इस वसुधा पर अग्नि का वास है, तब तक संतों का वास है। हे विदिशा की भावी भगवंत आत्माओ ! जब तक तुम्हें सिकी हुई रोटी मिलती रहे, तब तक तुम इन संतों के चरणों में सिर टेकते रहना और इस पंचमकाल में जब तक संतों की चलेगी, तब तक चतुर्विध संघ जाज्वल्यमान रहेगा और कहनेवाले भी ऐसे ही जीते रहेंगे, क्योंकि यदि राम का उदय होगा तो रावण को तो होना ही है, अन्यथा राम की पहचान कौन करायेगा?

योगी कहता है कि तुम सब को जीने दो। तुम वर्तमान की पर्याय मत देखा करो। वह भी तीर्थंकर बनेगा। भो ज्ञानी ! आपको जो सामायिक करने व पूजा करने को कहा जाता है, वास्तव में मन को स्थिर करने को कहा जाता है। पूजा तो ध्यान का आलम्बन है। यदि पूजा का आलम्बन लेते–लेते निजानन्द में चला गया, तो पूजा अपने आप छूट जायेगी। अतः भगवान् की भक्ति नहीं करोगे तो क्या करोगे? ज्ञानी भगवान् के चरणों में अनुभव लेना चाहता है कि भगवान्! आप कैसे थे? भगवान्– जैसा बनने के लिए भगवान् की पूजा करता है। पूज्यपाद स्वामी ने 'समाधि–शतक' में लिखा है– दीपक जलता है, पर प्रत्येक दीप जले

भी नहीं होते, बुझे भी होते हैं। दीप कब जलता है ? जब जले दीपक के आगे बुझा दीपक झुकता है। हे बुझे दीपो ! तुम केवली के चरणों में झुकोगे, तभी तुम्हारा बुझा दीपक जलेगा। तुम परमेष्ठी के प्रति झुकना नहीं चाहते हो, तो नभ में कैसे पहुँच पाओगे? पहले नवो, फिर नभ में चले जाओ। 'नमः श्री वर्धमानाय' जब तुम नव जाओगे, तो वर्द्धमान बन जाओगे। अतः परमानन्द को प्राप्त करना चाहते हो तो परमानन्दी के पास वास करो। जिसके पास वास करोगे, उसी की तो बास आना है। अब तो बहुत भटक लिया है, बहुत थक गया हूँ, इसलिए, हे प्रभु ! अब तो आपके चरणों में वास करूँगा। देखो, जब सभी विकल्प थक जाते हैं, तब शाश्वत स्वभाव उत्पन्न होता है। यही शाश्वत स्वभाव अपना स्वभाव है, निश्चय से वही मोक्ष का कारण है।

आचार्यभगवंत योगी की दशा को कह रहे हैं कि जो स्वभाव में स्थिर हो चुका है, उसे अब कोई लक्ष्य नहीं करना। क्योंकि अनुभूति का विषय तो वास्तव में योगी का मन है। आपकी श्रद्धा, आपकी ज्ञानानुभूति है। पर स्वानुभूति तो योगी बनने पर ही होगी। अतः आत्मानुभूति के टुकड़े न करें। वह अंशी नहीं होगी, वह तो निःअंशी ही रहेगी। वह तो अखण्ड–ध्रुव है, इसलिए आपकी श्रद्धानुभूति है, आपकी ज्ञानानुभूति है। परन्तु परमानन्दानुभूति जो है वह भोगने में नहीं, छोड़ने पर ही मिलेगी, जुड़ने पर ही मिलेगी। आचार्यभगवंत योगीन्दुदेव स्वामी 'योगसार' में स्वयं कह रहे हैं कि विषय के उदय में आ जाने पर भी वह इन्द्रियविषय को नहीं जानता, अपनी आत्मा को ही जानता है और उसे ही देखता है। आत्मा ही विशुद्ध चेतन आत्मा का भोक्ता है। अतः, मनीषियो ! भोग को छोड़ो, योग से जुड़ो और परमानंद में लीन हो जाओ।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

सेना पर नहीं, सम्राट पर विजय प्राप्त करो

ण रमइ विसएसु मणो जोइस्सुवलद्धसुद्धतच्चस्स ।
एकी हवइ णिरासो मरइ पुणो झाणसत्थेण ॥६३॥

अर्थ: जिसने शुद्ध तत्त्व को प्राप्त कर लिया है, (ऐसे) योगी का मन इंद्रियविषयों में नहीं रमता है। (वह) विषयों से निराश होकर आत्मा में एकमेव हो जाता है, पुनः ध्यानरूपी शस्त्र के द्वारा मरण को प्राप्त हो जाता है।

ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयं गओ सव्वो ।
खीयंति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ॥६४॥

अर्थ: जब तक सम्पूर्ण मोह क्षय को प्राप्त नहीं होता है, तब तक इस आत्मा का मन नहीं मरता है, मोह के क्षीण हो जाने पर शेष घाति कर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

मनीषियो !

अन्तिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही अनुपम सूत्र दिया कि जीवन में यदि तेरा चित्त शांत है तो, हे ज्ञानी ! तुझे चैतन्य प्रभु की प्राप्ति होगी। चित्त में शांति नहीं तो तुझे चैतन्य प्रभु की प्राप्ति नहीं हो सकती है। चित्त की अशांति का प्रभाव यह है कि नाना प्रकार के चित्र–विचित्र आकारों को तू प्राप्त हो रहा है। यह चित्त अशान्ति का ही कारण है।

भो चेतन ! चित्र देखने में तेरा चित्त कितना प्रसन्न हो रहा है ? परन्तु चारित्र को नहीं देख रहा है। चारित्र को देख लेता तो नाना प्रकार के चित्रों को नहीं प्राप्त होना पड़ता और कहता है– मैं परमात्मा को प्राप्त करना चाहता हूँ। लेकिन अंदर से पूछो कि पर्याय की पर्याय को देखकर भी कितने प्रसन्न हो जाते हैं ? कैसे कहूँ कि पर्याय से वैराग्य हो रहा है? ये मैं हूँ, ये मेरे हैं, पर उसमें अंश मात्र भी तेरा नहीं है, फिर भी तू प्रसन्न है और कहता है कि मैं तो वैरागी हूँ। जबकि कषाय के उदय से तेरे तीव्र परिणाम हो रहे हैं, कलुषित भाव हो रहे

हैं, इससे चारित्रमोहनीय कर्म का आस्रव हो रहा है। संयम को तड़पता है, परंतु संयम प्राप्त नहीं कर पाता। सोचता है कि मैं भी साधना करूँ, तो कभी मोह सताता है, पर संयम के परिणाम होने पर भी संयम को स्वीकार नहीं कर पाता।

मनीषियो ! आपके लिए भी कितने मुनिसंघ मिले होंगे, कितने महान् आचार्यभगवंत आपके नगर में विराज चुके हैं, फिर भी आपके परिणाम संयम की ओर क्यों नहीं हुए? जिनालय में तीनलोक के नाथ का चित्र विराजमान है, जिनबिम्ब विराजमान है। ओहो ! प्रभु ! मेरे अन्दर की दुर्दशा को धिक्कार हो। इन सरागियों का चित्र इतना महत्त्वशाली हो जाता है कि वीतरागी प्रभु का चित्र मेरी आँखों से ओझल हो जाता है। कितने तीर्थों की वंदना करके आप आ गए, कितनी सिद्धभूमियों की रज को आप मस्तक पर लगाकर आ गए, कितने अतिशय क्षेत्रों की वंदना की है, फिर भी, मनीषियो ! राग के चित्र ने वीतराग को नहीं देखने दिया। अहो ! लगता है कि नारी का चित्र वीतरागी से ज्यादा महत्त्वशाली है। वीतराग के जिनबिम्ब के सामने पहुँचकर घर को दौड़ते हो। किस को महत्त्व दे रहे हो ? अरिहंत के बिम्ब के सामने तू चार–पाँच छंद पढ़कर धोक देता है और तेरा चित्त चित्र में चला गया, यहाँ भी तूने बंध कर लिया। अन्य क्षेत्र में तेरा चारित्र भ्रष्ट हुआ है, तो पुण्यक्षेत्र में अपने चारित्र को सुधार लेता। तूने तो अपने चित्त को तीर्थंकर के चरणों में विकृत किया है, तेरा बंध कहाँ ले जाएगा?

भो ज्ञानी ! मात्र इसी क्षण को मत देखो, जीवन के सभी क्षणों का स्मरण करो। तुमने किस–किस क्षण पर, किस–किस स्तर पर, कैसा–कैसा चित्त मलिन किया था? आगे आकर बैठ गए हो तो धर्मात्मा के रूप में दिख रहे हो। आगे बैठने से काम नहीं चलेगा, एक पर्याय का बंध न जाने कितनी पर्यायों में झेलना पड़ेगा। करनेवाला कोई है (इस जन्म की पर्याय) और भोगनेवाला कोईऔर है (तेरी आत्मा)। मजा लूटता है मनुष्य, और भोगना पड़ता है बेचारे नारकी को। आनंद लूटते समय इतना ध्यान रखो कि अगली पर्याय भी है, नरक पर्याय भी है। नरक और नारकी तुम्हें नहीं दिखते, लेकिन तिर्यंच तो तुम्हारे सामने हैं। तड़प जाओगे देखकर। अभी भोपाल से हम लोग आ रहे थे। संसार की विडम्बना देखकर शरीर ही नहीं हृदय भी दहल गया। एक बकरे को उल्टा लटका दिया और देखते–देखते उसके दो टुकड़े कर दिये। कोई रोकनेवाला नहीं और खुलेआम रोड पर उसकी बिक्री चल रही

है। मत जाओ चित्रों में, यह भी एक जीव था। ध्यान रखो, कर्म के उदय में तीर्थंकर तुम्हारे सामने खड़े हों, वह भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर पाएँगे। इसलिए अपना–अपना आरक्षण करा लो, आज सुरक्षित हो जाओ। आज तुम्हारा बुद्धि–विवेक काम कर रहा है, आज तुम्हारा मन प्रवचन सुनने में लग रहा है, गुरुओं के चरणों में बैठकर जिनवाणी सुनने लगा है। हमारे पास ऐसे लोग भी आते हैं, कहते हैं कि 'महाराज जी ! मंदिर में मन नहीं लगता।' सोचो, कितना तीव्र पाप का उदय है? जिसको गुरुओं को देखकर आँखें फोड़ने का भाव आ रहा है, समझ लेना, मनीषियो ! श्रद्धा की आँख फूट गईं, उसे समझानेवाला विश्व में भी कोई नहीं मिल सकता।

भो चेतन ! मैं आपको बताए देता हूँ कि जिस दिन तुम्हारे परिणाम साधना–आराधना के हो रहे हों, समझ लेना आज तुम्हारा सिद्धत्व का उदय है। क्या बंध होगा, क्या उदय में आएगा? बाद में विचारना। यदि वर्तमान में तुम्हारे परिणाम इधर–उधर हो रहे हैं, तो समझ लेना कि विनाश सुनिश्चित है। इसलिए, भो ज्ञानी! चित्र में नहीं, चारित्र में जाओ। चित्रों में तू जिया था, इसलिए पंचमकाल में आ गया और छठवें काल का जीव तो नियम से नरक में जाएगा, दुर्गति का ही पात्र होगा। न कोई धर्म होगा, न कोई धर्मात्मा। ऐसे काल से बचना चाहते हो तो अभी भी सुहावना पंचमकाल है। यहाँ पर केवलज्ञान का सरोवर सूखा है, परंतु श्रुतज्ञान का सरोवर तो अभी लबालब भरा है। उसमें ही डुबकी लगाते रहोगे, तो भी तुम गीले होकर अपने कंठ को आर्द्र करके, अपने मार्ग पर चलकर, अपने मार्गी को प्राप्त कर लोगे।

भो ज्ञानी ! जब तुम तीर्थंकर जिनेन्द्र के बिम्ब के सामने पहुँचते हो तो कितने समय देखते हो और कितना बैठते हो ? जैसे ही सामने पहुँचे कि आँखें बन्द करके खड़े हो गए। दुश्मन थे भगवान् जो आँख बंद करके खड़े हो गए। जरा समझना विषय को। देखो, जब कोई सामग्री तुम बाजार से खरीदकर लाते हो तो उसे बार–बार देखते हो, फिर थोड़ी देर बाद उठ कर देखते हो, फिर एकांत में देखते हो। इसलिए ध्यानकेन्द्र अलग होते हैं, उपासनाकेन्द्र अलग होते हैं, स्वाध्यायभवन अलग होते हैं, और चैत्यालय अलग होते हैं। जिस चित्र को खींचकर लाए हैं, उस चित्र को हम देख रहे हैं। यदि ज्ञानकेन्द्र सुरक्षित है, तो ध्यानकेन्द्र बन सकता है और ज्ञानकेन्द्र नहीं है तो ध्यानकेन्द्र कभी नहीं हो सकता है। तो पहले आपने जिनदेव का ज्ञान किया, फिर आपने जिनदेव का ध्यान किया। ज्ञान से ध्यान

की सिद्धि होती है, इसलिए पहले ज्ञान, फिर ध्यान, फिर निर्णय।

भो चेतन ! चित्र मत खींचना पर्याय के और यदि खिच भी जाए तो उसमें तुम मत जाना, क्योंकि लोक में जितनी रामायण–महाभारत हुई, सब चित्रों की ही देन है। चित्र देख लिया तो चित्त विचलित हो गया और चित्त विचलित हुआ कि चारित्र विचलित हो गया और चारित्र विचलित हुआ कि मोक्ष विचलित हो गया। क्या चाहिए? पहले इन्द्रियनिरोध नहीं, पहले चित्तवृत्ति का निरोध करो। चित्तवृत्ति का निरोध हो जाएगा तो इन्द्रियनिरोध स्वयं ही हो जाएगा। चित्तवृत्ति को नहीं रोकना चाहते और इन्द्रिय को मोड़ना चाहते हैं, तो वह कभी नहीं मुड़ेगी। आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही अच्छी बात कही है कि यदि तू परमानंद में लीन होना चाहता है तो, हे योगी ! मन के मोड़े बिना, तू मुड़ने वाला नहीं है। मोड़ लो चित्त को और समझ लो मेरी बात को, पता नहीं कब मस्तिष्क की नस फट जाए। एक बात और याद रखना जीवन में, कभी ज्ञान के लिए मानसिक तनाव करने मत बैठना कि मैं ज्ञानी बनूँ। मुमुक्षु के लिए ज्ञानी बनने की कोई आवश्यकता नहीं, उसे तो ध्यानी बनने की परम आवश्यकता है। ज्ञान तो कषाय का भी कारण बन सकता है, और स्वभाव से भी भटक सकता है, परंतु सम्यग्ज्ञान कभी भटकाएगा नहीं। जो थोड़ा ज्ञान है, वह स्वभाव से विचलित कर देगा। इसलिए जो भी साधना करें आप, सहज करें। पूरा जिनशासन ही सहज है। सहजता, सरलता और सत्यता ये तीन अपने जीवन में उतार लेना, फिर दुनियाँ में कहीं भी चले जाना, आपको सर्वत्र मित्र ही मित्र मिलेंगे।

भो ज्ञानी ! वह ज्ञान किस काम का जो अहं की झाड़ी में छुपा है। अपना ज्ञान किसी को दे नहीं सकेगा, किसी को बता नहीं सकेगा, क्योंकि 'मैं ज्ञानी हूँ' का भूत लगा है। जीवन में ज्ञानी तो बनना, ज्ञानी बनने में पाप नहीं है, परंतु अहंकारी मत बनना। अहंकारी का ज्ञान कभी चारित्र की ओर नहीं बढ़ता। उसे चारित्र से भय लगने लगता है। ''चारित्तं खलु धम्मो'' की गाथा शून्य हो जाती है। दर्शन–मोह और चारित्रमोह, ये दोनों उसके सामने आकर खड़े हो जाते हैं। अतः अनन्तानुबंधी कषाय अनन्त संसार का अनुबंध करानेवाली है। जीवन में ध्यान रखना, यदि आपको क्रोध आ जाए, लोभ आ जाए, मायाचारी आ जाए तो, भो ज्ञानी ! सँभल जाना। यदि मुनिराज को कषाय आ गई और अड़तालीस मिनिट के आगे बढ़ गई, तो मुनिव्रत समाप्त हो गया। देशव्रती के आ गई और पन्द्रह दिन के आगे निकल गई तो, भो ज्ञानी !

देशसंयम गया और सम्यग्दृष्टि के छः माह से आगे निकल गई तो सम्यग्दर्शन समाप्त हो गया। यह अनन्तानुबंधी कषाय की करुणा है जो अनंतकाल से आपकी सिद्धालय से रक्षा किये हुए है। भो ज्ञानी ! यह कृपा नहीं है, कृपाण है। अज्ञानी कृपाण को कृपा मानता है। यह कृपाण ही तो मेरे सम्यग्दर्शन–चारित्र के टुकड़े–टुकड़े कर रही है, घात कर रही है।

भो चेतन ! संसार में जीना वास्तव में कठिन है, परमार्थ का जीवन सहज है; परंतु सहजता मिलेगी तभी, जब चित्रों से बाहर आ पाओगे। पहले लोग वस्त्र बड़ी सहजता से बेचते थे। वे वस्त्र लज्जा ढँकने के थे। परंतु आज के वस्त्र वासना ढँकने के हैं। वस्त्र धारण तो किए हैं, पर धारणा निर्मल नहीं होती। पतला खाकर और पतला पहनकर आपकी कषाय भी पतली हो रही है। तुरंत प्रकट हो रही है, वासना प्रकट हो रही है।

त्रेसठवीं गाथा का अंक कह रहा है कि, भो चेतन ! आमने–सामने हो जाओ और आमने–सामने की लड़ाई लड़ो। कर्मों को सामने खड़ा कर लो और ध्यान की अग्नि जला दो। आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि जब तक तेरा मन विषयों में रमण कर रहा है तब तक, योगी ! तू कल्याण नहीं कर सकेगा। जब योगी को शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है तो, मनीषियो ! फिर विषयों में मन रमण नहीं कर सकेगा। जितना क्षीणपुण्यात्मा जीव होगा, उतना विषयों के प्रति राग ज्यादा होगा। पुण्यात्मा जीव का भोजन भी अल्प होता है, अन्य जीवों का भोजन अधिक होता है और लालसा भी अधिक होती है। प्रमाण समझना–प्रथम काल में बेर बराबर, द्वितीय काल में हरड़ बराबर, तृतीय काल में आँवला प्रमाण, चतुर्थ काल में दो बार और पंचम काल में बार–बार। न दिन देखता है, न रात्रि देखता है। सोते–सोते भी पान दबाकर सोता है कि यदि मृत्यु हो जाए तो शायद नरक में पान न मिले, इसलिए बेचारे पान दबाकर सोते हैं। धिक्कार है ऐसे जीवों के लिए, जिनको नींद नहीं आती, अतः तम्बाकू खाकर सोते हैं।

भो चेतन ! कम–से–कम अब तो तत्त्वसार समझ लो। जीवन में कुछ तो परिणमन करो, परिवर्तन लाओ। इतना तो नियम कर सकते हो कि जब तुम चारपाई पर चले जाओ, तो पाँचों प्रकार के पाप का त्याग करना और चारों प्रकार के आहार–पानी का त्याग तथा जब तक मैं जागूँगा नहीं, तब तक मेरी समाधि। और यदि नहीं जाग पाए और चले गए तो कम–से–कम समाधि लेकर तो गए। यह ज्ञान का सार है कि संयम भी जीवन में उतरता जाए।

देखो ! जब योगी शुद्ध तत्त्व को प्राप्त करता है, तब जो विषय हैं वे निराश अकेले महसूस करते हैं। जो संत और भगवंत होते हैं, वे कषायों से उदास नहीं होते, कषायों को उदास महसूस करा देते हैं। ज्ञानियों से कषाय उदास हो जाती है और ज्ञानी अपने आप में प्रमुदित हो जाता है। ध्यानरूपी अग्नि के द्वारा, ध्यानरूपी शस्त्र के द्वारा वे कषाय मरण को प्राप्त हो जाते हैं। इसलिए, भो ज्ञानी ! सबसे पहले शत्रु को क्षीण करना पड़ेगा और यदि शत्रु कोई है तो वह है मोह। सेना को मत मारो, व्यर्थ रक्त मत बहाओ। राजा को बंदी बना लो, तो सेना अपने आप भाग जाएगी। झंझट में मत पड़ो। मोह को पकड़ लो, इन्द्रियाँ अपने आप भाग जाएँगी। मोह–राजा को पकड़कर अपना तिरंगा ध्वज ठोक दो; दर्शन, ज्ञान और चारित्र का तिरंगा। तेरा देश स्वतंत्र हो गया। आचार्यभगवान् कह रहे हैं कि जब तक सम्पूर्ण मोह क्षय को प्राप्त नहीं होगा, तब तक, भो ज्ञानी ! ये मन मरनेवाला नहीं है। मन नष्ट नहीं हुआ तो सेना की भर्ती शुरू कर देगा। यह मोह क्षीण कब होगा ? जब तू क्षीणमोह गुणस्थान में पहुँच जाएगा। भो ज्ञानी ! बारहवें गुणस्थान में जब तू प्रवेश करेगा, तब ये राजा नष्ट होंगे। राजा को नष्ट करने के लिए अपनी फौज तैयार रखो। हे साधक! गुप्तियों के गुप्तचर तैयार रखना, इसके बिना काम नहीं चलेगा। विजय प्राप्त करना है तो इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय और कर्मों में मोहनीय कर्म, गुप्तियों में मनोगुप्ति, व्रतों में ब्रह्मचर्य व्रत, इन चार पर जिसने विजय प्राप्त कर ली, वह अनंतचतुष्टय का धारी हो जाएगा। जब मोहनीय कर्म नष्ट हो जायेंगे तो शेष घातिया कर्म भी नष्ट हो जायेंगे, और तेरा कैवल्य सूर्य उदित हो जाएगा। फिर आप आदमी नहीं कहलाओगे। तुम केवली बनकर अघातिया कर्म नष्ट करके सिद्ध बन जाओगे।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

कर्मों का राजा मोह

णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं ।
तह णिहयमोहराए गलंति णिस्सेसघाईणि ॥६५॥

अर्थ: राजा के मारे जाने पर जैसे सेना का महात्म्य गल जाता है, (एवं) स्वयं ही नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मोह–राजा के नष्ट हो जाने पर शेष समस्त घातिया कर्म (स्वयं ही) गल जाते हैं।

घाइचउक्के णट्ठे उप्पज्जइ विमलकेवलं णाणं ।
लोयालोयपयासं कालत्तयजाणगं परमं ॥६६॥

अर्थ: चारों घातिया कर्मों के नष्ट होने पर लोक–अलोक को प्रकाशित करने वाला, तीनों कालों को जानने वाला, उत्कृष्ट–निर्मल केवलज्ञान उत्पन्न होता है।

भव्य आत्माओ !

अंतिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य श्री देवसेन स्वामी ने अलौकिक सूत्र दिया है कि, हे प्रज्ञ ! तू सेना को नष्ट करने का विचार रखता है, परन्तु सम्राट पर दृष्टिपात नहीं करता। बली ने अनन्तबली को दबा रक्खा है। तेरे अनंतवीर्य, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तसुख की सत्ता को जिसने ढँक रखा है, वह मनीषियो ! मोह है, जिसे लोक में तू मित्र कहता है। अब लोक की भाषा तुम भूल जाओ, लोकोत्तराचार की भाषा प्रारम्भ करो। जब तक तुम लोक में जिओगे, लौकिकता में जिओगे, तब तक लोकोत्तराचार को प्राप्त नहीं कर सकते। आज तक आपने सिद्ध भगवंतों की आराधना की, परन्तु सिद्धस्वभाव को नहीं जाना। भो ज्ञानी ! उस सिद्धस्वभाव को जानना चाहते हो तो पहले असिद्ध–भाव का विसर्जन कर दो। वह असिद्ध–भाव बाहर नहीं, तेरे अंदर है। तेरे अंदर में पाँच–पाँच खिड़कियाँ इन्द्रियों की हैं, इनको बंद कर दो। नौ–नौ द्वार तुम्हारे अंदर हैं, इन द्वारों को बंद कर दो। जब यह खिड़की–दरवाजे बंद हो जायेंगे, फिर तुम्हें चित्र दिखने

लगेगा। पर जब तक बाहर का प्रकाश अन्दर आता है, तब तक अन्दर का चित्र नहीं दिखाई देता। अन्दर के प्रकाश में ही अन्दर का चित्र दिखता है। आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि यदि उस चैतन्य चित्र को देखना है तो, भो चेतन! इन खिड़कियों को, गवाक्षों को बंद कर दो। जब विषयों के गवाक्ष बंद हो जाएँगे, तो अक्ष (आत्मा) का निर्मल चित्र बनना प्रारम्भ हो जाएगा।

भो प्रज्ञ ! अन्दर की साधना अथवा अन्दर की वासना का प्रतिबिम्ब करानेवाला, दिखानेवाला कोई है तो नेत्र हैं। देखो ! आँख निर्मल है, तो अंतःकरण निर्मल है। अंतःकरण निर्मल है, तो आँख निर्मल है। जिसके अंदर में कोई बुराई छिपी हुई है, उसकी आँखें अपने–आप बता देती हैं। सरलस्वभावी की आँख देखना, उसमें वीतरागता नजर आयेगी और रागी–द्वेषी की आँख देखना, उसके अंदर कषाय नजर आयेगी। जिनवाणी कह रही है कि जहाँ सरोवर भरा हो तो वहाँ से बह रही वायु शीतल होती है, उसी तरह जिसके अंदर में कषाय पल रही है, उस जीव से पूछना, अंदर में कितना गर्म होगा। जिसका चेहरा क्रोध से तमतमा रहा हो, उसकी आँखों को देखकर ही भय लगता है। ओहो ! उसके हृदय को देखने में क्या होगा ? हे जिनदेव ! आपकी वर्गणाएँ इतनी शीतल हैं कि लोक में नारकी को भी शांति मिलती है, तो फिर आपकी अंतरात्मा कितनी शीतल होगी।

भो ज्ञानी ! दुःखी क्यों हो आप लोग ? 'दुःख' नाम की कोई वस्तु नहीं है। जहाँ मोह है, वहाँ दुःख है। मोह हट जाता है तो दुःख चला जाता है। भोली आत्माओ ! मालूम है कि धर्म के नाम पर विसंवाद न होते हैं और न होंगे। धर्म तो अविसंवादी ही होता है। 'धर्म' शब्द से मोह जिसको लगा है, वह मोह का विसंवाद है। सत्य का कहीं कोई लेशमात्र भी विसंवाद नहीं होता है, पर सत्य के नाम पर सत्ता खिंची चली आती है और वहाँ झगड़ा–ही–झगड़ा होता है। परन्तु सत्य की खोज के नाम पर सत्ता को बिल्कुल मत खोजना। अरे भाई ! फल की आकांक्षा से ही आम लगाया जाता है। आम का फल जब भी आयेगा, उसमें गुठली नियम से आयेगी, चिन्ता मत करना। जितने तीर्थंकर केवली भगवान् आराधना करने बैठते हैं, साधना करने बैठते हैं, वे वीतमोह होकर बैठते हैं और जित–मोह बनते हैं। लेकिन उनकी यशकीर्ति नाम की गुठली अपने आप इतनी विशाल हो जाती है कि छिपाई नहीं छिपती। तीर्थंकर चन्द्रप्रभु स्वामी सम्मेदशिखरजी पर कितने ऊपर जाकर बैठे, परन्तु क्या अपने आपको छिपा सके ? भो ज्ञानी ! अपयश भी नहीं छिपता, यश भी नहीं छिपता, चाहो तो भी नहीं छिप सकता।

इसलिए अपयश में मोह मत करो और यश में भी मोह मत करो। यह निर्णय करो कि मोही का यश ज्यादा है या निर्मोही का यश ज्यादा है? मोही का यश फैलता है तो मात्र छः खण्ड तक और निर्मोही का यश फैलता है तीनलोक में। परन्तु निर्मोही आप हैं नहीं, मोही हैं, इसलिए आपको निर्मोही का पता नहीं। निर्मोही अर्थात् तेरहवें गुणस्थान में विराजे तीर्थंकर महामुनिराज। उनका यश तीनलोक में व्याप्त होता है। परन्तु मोही परम–पुण्यात्मा यदि कोई होता है तो चक्रवर्ती होता है। चक्रवर्ती से बड़ा कोई मोही नहीं होता। मोही यदि किसी को सुख दे सकता है तो इंद्रियजन्य सुख देगा मनुष्यों को, किन्तु निर्मोही का सुख देखो, वह एक क्षण में नरक के नारकी को भी सुख दे देता है।

मनीषियो ! रत्नत्रयधर्म की जय हो। देखो, जयवन्त यह तन नहीं है, जयवन्त यह चैतन्य नहीं है, जयवन्त रत्नत्रयधर्म है, जिससे यह तन और चैतन्य दोनों पूज्य हो जाते हैं। यदि आप अपनी जय बुलवाना चाहते हो तो विजयी होकर जाओ। पर पुत्र से लड़कर मत आना, भाइयों से लड़कर मत आना, पत्नि से लड़कर मत आना। विजय करना है तो इन्द्रिय और मन से लड़कर आओ, तब तुम छः खण्ड के स्वामी बनोगे। इसका नाम होगा चारित्रचक्रवर्ती। जो चक्ररत्न को धारण करे, वह चक्रवर्ती और जो इन्द्रिय–मन को जीतता है, वह चारित्रचक्रवर्ती। सबसे बड़ा चक्रवर्ती वह होता है जिसने मोह के सम्राट को जीत लिया है। यों ही नहीं होता है चक्रवर्ती। बत्तीस–हजार मुकुटबद्ध राजाओं का राजा होता है अर्थात् उन पर विजय प्राप्त किया होता है। ऐसे ही आप आस्रव के बत्तीस भावों को जिस दिन जीत लोगे, उस दिन चारित्रचक्रवर्ती बन जाओगे। जैसे वह चक्रवर्ती बत्तीस हजार राजाओं का स्वामी होता है, ऐसे ही आप जब अपने इस वीतराग चारित्र की ढाल से, तलवार से, आस्रव के बत्तीस सम्राटों को विजय कर लोगे उस दिन आप चारित्रचक्रवर्ती हो जाओगे। जब तक आप भाव–आस्रव एवं द्रव्य–आस्रव का समापन नहीं करोगे, तब तक आप मोह को नहीं जीत सकोगे, और मोह को नहीं जीता तो चारित्र–चक्रवर्ती नहीं बन सकोगे।

मनीषियो ! मद का काम होता है– सत्य का विनाश कर देना तथा सत्य–ज्ञान से दूर कर देना। पर्यायदृष्टि से मृत्यु भी सत्य है, जन्म भी सत्य है, संसार भी सत्य है। संसार में हैं तो सुख–दुःख सत्य है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। प्रकृति का धर्म है उत्पन्न होना और विनष्ट होना। बिलखना या हर्षित होना यह अज्ञानी का धर्म है। यदि सत्य को समझना चाहते हो तो ध्यान रखना, अपना चिंतन बढ़ाना कि विश्व में कुछ भी नहीं है। मात्र सत्य को समझ लो। रोना

असत्य है, हँसना असत्य है, क्योंकि मृत्यु जब सत्य है ही, तो रोना किसके ऊपर और मृत्यु के बाद जन्म भी सत्य है, जब तक संसार तुम्हारा है।

भो ज्ञानी ! तुझे लोक देखना है कि आत्मलोक देखना है ? आत्मलोक देखना है तो मौन का अभ्यास करो। क्योंकि मोह को दृढ़ता देनेवाला, आलम्बन देनेवाला कोई है तो वचन है। जहाँ वचन हैं, मन तो वहाँ होगा ही, तन तो वहाँ होगा ही। इसलिए जितने बंध रहे हैं, सब बोलने से बंध रहे हैं।

हे दशरथ ! अब तुम रो रहे हो, बिलख रहे हो। तुमने वचन क्यों दिए ? बोले, तो फँस गये। इसलिए जीवन में ध्यान रखना, आप सँभलकर ही वचन बोलना। कुछ लोग यह मौका ही देखते हैं कि तुम बोलो फिर मैं आपको देखता हूँ। अहो ! राजा हरिश्चन्द्र से पूछ लो कि आपको डोम के यहाँ अनुचरी क्यों करना पड़ी? क्योंकि तुमने वचन दे दिया था। इसलिए, निर्ग्रन्थ योगी किसी को कभी वचन नहीं देते, वे तो मौन ही रहते हैं। क्योंकि मोह की बेल को बढ़ानेवाली, मोह की लता को फैलानेवाली कोई शल्य है तो वह वाणी है। इसलिए, ध्यान रखना कि सम्पर्क मत बढ़ाओ। सम्पर्क बढ़ाना मोह को बढ़ाना है। जिस शत्रु के नाश के लिए निर्ग्रन्थ बना, मुनिदीक्षा धारण की, भो ज्ञानी ! उस शत्रु को ही हम अपने पालने में पालने लग जायेंगे तो तेरा संयम धारण करना व्यर्थ हो जायेगा।

आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि राजा के मारे जाने पर उसकी सेना स्वयमेव नाश को प्राप्त हो जाती है, वैसे ही मोहनीयकर्म गलित होने पर संसार का पूरा मान समाप्त हो जाता है। ऐसे मोह राजा के नष्ट होने पर घातिया कर्म भी स्वयमेव विगलित हो जाते हैं। भो ज्ञानी ! ये वीतराग जिनेन्द्र का शासन है, रागी–भोगियों का शासन नहीं है। पहले मोहराजा को नष्ट कर दो, घातियाकर्म स्वयमेव नष्ट हो जायेंगे, पश्चात् केवलज्ञान सूर्य प्रकट हो जायेगा। यह श्रमणसंस्कृति की ही देन है कि अनुचर को भी स्वामी बना देती है।

भो मनीषियो ! एक भक्त को भी भगवान् बनाने का यदि कोई स्थान है, तो यह वीतराग शासन है। भक्त बन जाओगे, तो नियम से भगवान् बनोगे। यही निश्चय–व्यवहारदृष्टि है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

“ज्ञान की पूर्णता सिद्धत्व की जनक है”

तिहुवणपुज्जो होउं खविउ सेसाणि कम्मजालाणि ।
जायइ अभूदपुव्वो लोयग्गणिवासिओ सिद्धो ॥६७॥

अर्थ: (अरहंत अवस्था में) तीनभुवन के जीवों का पूज्य होकर, पुनः शेष कर्मजालों को क्षय करके अभूतपूर्व लोकाग्र का निवासी सिद्धपरमात्मा हो जाता है।

गमणागमणविहीणो फंदण–चलणेहि विरहिओ सिद्धो ।
अव्वाबाहसुहत्थो परमट्ठगुणेहिं संजुत्तो ॥६८॥

अर्थ: (वह जीव) गमन व आगमन से रहित, परिस्पंदन और हलन–चलन से रहित, अव्याबाध सुख में स्थिर, परम अष्ट गुणों से संयुक्त सिद्धपरमात्मा होता है।

भव्य आत्माओ !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही अनुपम सूत्र दिया है कि, भो ज्ञानी ! अपने शत्रु की खोज संसार में नहीं, अंदर में करना है। उस शत्रु ने एक भव में नहीं अनेक भव में, एक रूप में नहीं अनेक रूप में तुझे परेशान किया है। कभी मित्र के रूप में आया तो कभी शत्रु के रूप में। लेकिन हमने शंका वीतराग धर्म पर की, मोह–शत्रु पर किंचित भी शंका नहीं की, जबकि वही हमें दुःखित करने वाला है। हमने कभी यह कल्पना भी नहीं की कि मैं दुःखी क्यों हूँ? मेरे में कष्ट न हो और मुझमें कष्ट न हो, चाहे चेतन कितना भी कष्ट में रहे– इसकी कोई चिन्ता नहीं। भोगों में कोई शंका नहीं की। हमें किंचित भी नहीं लगता कि इसका परिणाम क्या होगा, क्योंकि मोह कह रहा है कि चिंता नहीं करना, हम तुम्हारे साथ हैं। मोह धैर्य बंधा देता है कि आपको कष्ट होगा ही क्यों ? क्योंकि हम आपको सत्य का भान ही नहीं होने देंगे। सत्य का भान ही नहीं है, क्योंकि तुम सपेरे की टोकनी में हो और मान रहे हो कि सपेरा ही मेरा सर्वस्व है, सुन्दर संगीत सुनाता है, दूध पिलाता है। परन्तु तुझे यह मालूम नहीं कि तू टोकनी के अंदर है। भूल गया अपनी स्वतन्त्रता को। भगवान् बनने वाली आत्माओ ! तुम भी मोह की

आवाज को सुनकर झूम रहे हो और राग की टोकनी में बंद हो तथा विलासिता की बीन में अनुरक्त हो। तू अपनी स्वतंत्र आत्मा को खो चुका है और तुझे मालूम ही नहीं है कि मैं कभी निर्बन्ध भी था। अहो ज्ञानी ! तू तो सिद्धभूमि में विचरण करने वाला है। कहाँ तू भोगों की भूमि में घूम रहा है ?

आचार्य देवसेन स्वामी सिद्धभूमि की चर्चा कर रहे हैं। स्वतन्त्रता की अनुभूति करो। बंध में सुख नहीं है, निर्बन्ध में सुख है। यह आप स्वयं जानते हो, अनुभव कर रहे हो कि सहजता में आप किसी के घर दस दिन भी रुक सकते हो, परन्तु यदि कोई आपसे यह कहे कि अब तुम घर नहीं जा सकते हो, तो उसी क्षण से वेदना प्रारम्भ हो जायेगी। अहो ! उस पिंजड़े के पक्षी से भी तो पूछो। सोने के कटोरे में काजू–किसमिस की खीर रखी हुई है, फिर भी उसमें वह आनन्द नहीं है जो पेड़ पर खट्टे–मीठे आम में महसूस होता है। काजू–किसमिस की खीर जरूर है, लेकिन स्वतंत्रता का आनन्द नहीं है। अरे ! जब तक तू मोह की खीर खाता रहेगा और तृष्णा का नीर पीता रहेगा, तब तब निर्बन्ध नहीं हो सकेगा। हे पिंजड़े के पंछी ! जिस भूमि की चर्चा आचार्य देवसेन स्वामी करने जा रहे हैं, उस भूमि पर जब तू बैठ जायेगा, फिर तू निज के अमृत का पान स्वयं करेगा, फिर तुझे पिंजड़े में मोह की खीर नहीं खानी पड़ेगी। अतः सिद्धभूमि पर दृष्टिपात करो, उस भूमि का लक्ष्य तो बनाओ जो अपने आप में निर्बन्ध है।

भो चेतन ! अब तो तुमने तीर्थों में भी व्ही.आई.पी. कमरे निर्मित कर दिये, उसमें ए.सी. लगवा दिये। यह साधना के स्थान थे, उसे तुमने विलासिता का स्थान बना दिया। बड़ी–बड़ी बोलियाँ लगाकर तुम भोगों की वस्तुओं को तीर्थभूमि में इकट्ठा कर रहे हो। जहाँ बैठकरके यह याद तो आती थी कि यह सिद्धभूमि है, कैसे–कैसे वीतरागी संतों ने यहाँ पर साधना की होगी। हे भव्य चेतन आत्माओ ! यदि संयम की बात की, तो पंचमकाल खड़ा हो जाता है। अहो ! जिसे तुम आकर्षण का केन्द्र कह रहे हो, यह नमोस्तु शासन है। जिस दिन इस निर्ग्रन्थ देह को तुम आकर्षक बना लोगे, तो उस दिन नमोस्तु–नमोस्तु होना बंद हो जायेगा अर्थात् जिस दिन संयम में शिथिलता बढ़ जायेगी, उस दिन धर्म से आप दूर हट जायेंगे। ये देह आकर्षण का केन्द्र नहीं, वीतरागता का केन्द्र है। सम्मेदशिखर जी की वन्दना करने आप इस वर्ष भी गये होंगे और दस वर्ष पूर्व भी गये होंगे। उस समय की भावना और आज की भावना को बताओ। अब तुम गाड़ियों से ऐसे पहुँचते हो जैसे सामान्य स्थान पर जाते हो। जब तुम लकड़ी

टेक–टेक कर जाते थे, मिट्टी में चलते थे, तब कैसा लगता था कि मैं तीर्थक्षेत्र में आया हूँ। अब तो फर्श हो गया है, तुम्हें अपने घर की अनुभूति वहाँ भी दिखना प्रारम्भ हो जाती है।

भो ज्ञानी ! इसलिये ध्यान रखना, जितनी सुविधाएँ बढ़ेंगी, उतनी साधना मन्द पड़ेगी। क्योंकि साधना अर्थात् सुविधाओं का विसर्जन। उतनी ही सुविधा दो, जिससे साधना में अन्तर नहीं आये। तीर्थ तो तिरने के लिए होते हैं, गिरने के लिए नहीं होते। जब तुम घर में ऊब जाते हो, वासना में ऊब जाते हो, तो तीर्थों की वन्दना के लिए चल देते हो और वे ही सुविधाएँ अब तीर्थों में मिलने लग गई तो तिरा कहाँ, तू गिर ही तो गया। यद्यपि ये बातें आपको अच्छी नहीं लग रही होंगी, परन्तु यह ही सत्य है। साधना और साधनों में अन्तर को समझो। ये साधन तो साधना के शत्रु हैं, क्योंकि इन्द्रियों के साधन, भोगों के साधन कभी भी अतीन्द्रिय भोग के साधन नहीं बन सकते हैं। जैसा काम होता है, कारण भी वैसा ही होता है। कारण है तुम्हारे इन्द्रियसुखों के लिए और कार्य चाहते हो तुम अतीन्द्रिय सुख का। बालू को पेलने से तेल नहीं निकलता, पानी को मथने से मक्खन नहीं निकलता। अतः सिद्धभूमि पर पहुँचने के पहले सिद्धक्षेत्र जो आज तुम्हारे सामने दिख रहे हैं, उन पर तो तुम अच्छे से पहुँच जाओ।

पर्युषण पर्व में पाँच वर्ष का बालक भी एकासन कर लेता है। क्यों ? उसमें इतनी शक्ति कहाँ से आ गई ? निर्मल साधनों को देखकर उसके परिणामों में भी निर्मलता आ गई और आपके एकासन करने को देखकर उसका भी एकासन करने का मन बन गया। अतएव जैसे साधन होंगे, वैसे ही साधना होती है।

भो चेतन ! इन्द्रियों के सुख ही दुःख हैं, इसमें संशय मत करना। जब तक मोह है, राग है, तब तक सुख लगते हैं और मोह/राग हट जाता है तो सुख ही दुःखरूप महसूस होने लगता है। इसलिये अनन्त, अक्षुण्य, अविनाशी सुख चाहते हो तो मोह को क्षीण कर दो, अक्षीण सुखी हो जाओगे। जब तक अक्षीण मोह नहीं है, तब तक अक्षय सुख भी नहीं। भो भव्य ज्ञानी ! आज से तुम मोह नहीं छोड़ सको तो कम–से–कम 'कम' तो कर दो। तुम यह मान कर बैठे हो कि मेरे से कुछ नहीं चल पायेगा, उसकी सीमा तो बाँध दो। क्योंकि कषाय की मन्दता तभी होगी, जब लक्ष्य निर्मल होगा। कषाय की मन्दता अर्थात् प्रेक्टिकल में चारित्र। जितनी कषाय मन्द होगी, उतनी विषय–प्रवृति नियम से मन्द होगी। जैसा चेहरा

होगा, दर्पण वैसा ही झलकायेगा। जैसा अन्दर का तेरा बिम्ब होगा, वैसा चारित्र तेरा बाहर होगा। भो चेतन ! जब तक तेरा पुण्य का चादर चमक रहा है, तब तक तू भले ही भोगों में आच्छादित रहे और अपने आपको चिदानन्द चैतन्य स्वरूप में लीन भले कहता रहे, परन्तु जिस दिन पुण्य का चादर क्षीण हो जायेगा, उस दिन तेरा घट फूटा दिखेगा। तब तुझे मालूम चलेगा कि तेरा चैतन्य कैसा था। सम्यग्दृष्टि जीव क्रिया नहीं छोड़ता, अपितु पुण्य–उदय को छोड़ देता है। जब पुण्य के उदय को छोड़ देता है सम्यग्दृष्टि, तब वह परम पुण्यात्मा अर्हन्त बन जाता है। बात को समझना, जो पुण्य का उदय रहता है उससे संसार के सुख मिलते हैं और संसार के सुख को भोगने से पाप का आस्रव होता है। सम्यग्दृष्टि का लक्ष्य होता है– मुझे पुण्य से शत्रुता नहीं है, पुण्य के फल को भोगकर मैं पाप के बन्ध में नहीं जाना चाहता हूँ। इसलिए पुण्य–उदय को छोड़कर वह परमार्थ की ओर चला जाता है। उसी का नाम मुमुक्षु होता है।

भो ज्ञानी ! सम्यग्दृष्टि जीव के पुण्य–उदय से परमात्मपद का उदय होता है, इसलिए आचार्यों की वाणी पर लक्ष्यपात करो। सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य के लिए पुण्य नहीं करता, वह पापों के बचने के लिए पुण्य करता है। वह पुण्य को छोड़ता नहीं है, छोड़ता तो पापों को ही है। यदि तू पुण्य ही छोड़कर बैठ गया तो फिर करेगा क्या ? इसलिए व्याख्यान ऐसा हो जो जीवों के भव को सुधारनेवाला हो, भव में भटकानेवाला न हो। सम्यग्दृष्टि जीव पुण्य के उदय से प्राप्त सामग्री को हेय समझता है, लेकिन अर्हंत की पूजा को हेय नहीं समझता। यह है आगम की व्यवस्था।

आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं, कि सिद्ध भगवान् सिद्धालय में कैसे हैं ? भो ज्ञानी ! उनके ज्ञान में तो चराचर द्रव्य झलक रहे हैं, वे तीनलोक में पूज्य हैं। जो सम्पूर्ण कर्मजाल को क्षय कर देता है, वह तीनलोक में पूज्य होता है। जो पूर्व में कभी प्राप्त नहीं हुआ, ऐसे अभूतपूर्व के साथ जो लोक के अग्रभाग पर निवास करते हैं तथा कर्मातीत हो चुके हैं, वे निश्चयनय से नहीं अपितु निश्चय से सिद्ध हैं। अब वे कभी असिद्ध नहीं हो सकते, कितने ही कल्पकाल बीत जायें। जो आत्मा एक बार सिद्ध हो जाती है, उन्हें संसार में फिर नहीं आना पड़ता। इसलिए, हे भव्य आत्माओ ! आप भी ऐसी भावना भाओ कि इन सिद्धों की आराधना करके वह आत्मसिद्धि की उपलब्धि मुझे भी हो।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

अशरीरी आत्मा अनन्त गुणात्मक

लोयालोयं सव्वं जाणइ पेच्छइ करणकमरहियं ।
मुत्तामुत्ते दव्वे अणंतपज्जायगुणकलिए ॥६९॥

अर्थ: (सिद्ध परमात्मा) इन्द्रियों के कर्म से रहित, एकसाथ सर्व लोक व अलोक को, अनंत पर्याय व अनंत गुणों से संयुक्त सभी मूर्त और अमूर्त द्रव्यों को जानते हैं और देखते हैं।

धम्माभावे परदो गमणं णत्थि त्ति तस्य सिद्धस्स ।
अच्छइ अणंतकालं लोयग्गणिवासिओ होउ ॥७०॥

अर्थ: उस सिद्ध परमात्मा का, धर्मद्रव्य का अभाव होने से लोक से परे अलोक में गमन नहीं है, इस कारण लोकाग्र निवासी होकर वहाँ अनंतकाल तक रहते हैं।

प्रवचन

भव्य बंधुओ !

अन्तिम तीर्थेश वर्द्धमान स्वामी के शासन में हम सभी विराजते हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही अनुपम सूत्र दिया। भो ज्ञानी ! जिस सिद्धत्व की चर्चा तूने शास्त्रों में की है, गुरु–मुख से सुनी है, उन सिद्धों की चर्चा से तू स्वयं की चर्चा कर। सिद्धि चर्चा से नहीं, सिद्धि चारित्र से होगी। जिन जीवों ने सिद्धि को प्राप्त किया है, उन जीवों ने चारित्र पर दृष्टिपात किया है और चर्चा को बन्द कर दिया है। इसी का नाम मौनसाधना है। जो दूसरों के बारे में नहीं सोचे तथा स्वयं के बारे में भी न सोचे, मनीषियो ! वहीं परम सत्य है। वे मौन थे और मौन साधना की थी, फिर भी मूक नहीं थे।

भो ज्ञानी ! ध्यान से समझना। जो सिद्ध हुए हैं, वे पूर्व में असिद्ध थे और जो असिद्ध होते हैं, उसी को सिद्ध किया जाता है। जो असिद्ध थे, उन्होंने अपने आपको समझा कि मैं अपने आपको सिद्ध कैसे बनाऊँ। जो भी धातु होती है, जो भी औषधी होती है, वह असिद्ध होती है, वैद्य से सिद्ध कराई जाती है और सिद्ध हो जाने पर मनुष्यों के अनेक प्रकार से रोगों को

समाप्त कर देती है। इस आत्मा में जन्म, जरा, मृत्यु ये तीन रोग हैं। इनको नष्ट करने के लिए इस आत्मा को सिद्ध करना पड़ता है और जब यह आत्मा सिद्ध हो जाती है, तो पुनः ये कभी जन्म–मरण रोग को प्राप्त नहीं होती। जीवन में ध्यान रखना, मौन 'मूक' नहीं है। मुनि 'मौनी' होते हैं। मूक तो मनुष्य और तिर्यंच होते हैं। योगी मूक नहीं होते, योगी तो मौनी होते हैं। जो बोलने की आकांक्षा लाता हो, जो बोलने की भावना रखता हो, फिर भी बोल नहीं पा रहा है, इसका नाम मौन नहीं, मूक है। जो बोलने की सामर्थ्य रखने के उपरांत भी अपने योग की निर्मलता के लिए, अपनी कषायों के शमन के लिए जो वचनवृति का विसर्जन कर देते हैं, उसका नाम मौन है। बुद्धिपूर्वक वचनवृत्ति का विसर्जन करना ही मौन है। ध्यान रखना, बुद्धिपूर्वक पापों का विसर्जन जो किया जाता है, उसी का नाम व्रत होता है और जो उसे करता है, उसका नाम व्रती होता है। जिन्होंने सिद्धि को प्राप्त किया है, वे व्रती भी बने थे, वे त्यागी भी बने थे, वे मौनी भी बने थे और वे मुनि भी बने थे। सारी–की–सारी भूमिकाओं को लेकर चले थे, पर दृष्टि एक ही थी कि मुझे परमलक्ष्य प्राप्त हो।

भो ज्ञानी ! इसीलिए मुमुक्षु जीव अपने आप में अंधा होता है, बहरा होता है एवं लंगड़ा भी होता है। मुमुक्षु जीव जब तक अपने आप में अंधा नहीं होगा, तब तक अनन्तज्ञान का नेत्र खुलेगा नहीं। जहाँ विश्व की आँख खुली होती है, वहाँ मुमुक्षु की आँख बंद होती है। मुमुक्षु कहता है कि, हे प्रभु ! मेरे नेत्र की ज्योति नष्ट हो जाये। निज को देखने के लिए नहीं, पर को देखने के लिए। दो दृष्टियों से मैं अंधा हो जाऊँ, एक तो मैं किसी के छिद्रों को न देखूँ और मैं छिद्र में प्रवेश न करूँ। हे प्रभु ! मैं बहरा भी रहूँ, मैं सुनूँ तो निज आत्मतत्त्व को सुनूँ या प्रभु! आपकी देशना को सुनूँ। अन्यथा मैं बहरा रहूँ, क्योंकि जितना बाहर का सुनेंगे उतने समय परिस्पंदन होगा, हलन–चलन होगा तथा चंचलता होगी। इस चंचलता का ही प्रभाव है कि नवीन कर्मों का बंध होता है। इतना ध्यान रखना कि यदि कोई कमजोर होता है, वही उतावला होता है और जो सबल होता है, वह सबकुछ सहने में समर्थ होता है। जितने पूर्व में योगियों पर उपसर्ग हुए हैं, उनको कौन बचाने गया था? फिर भी शत्रु उनके चरणों में था, उन्हीं के चरणों में आँसू बहाये और उन्हीं के चरणों में सम्यक्त्व रत्न को भी प्राप्त कर लिया। यदि मुनिराज प्रतिकार करते, तो स्वयं का भी अहित था और सामनेवाले का भी अहित था। यह बात समझने के लिए आपको तीव्र क्षमा चाहिए और शक्ति चाहिए। बिना शक्ति के आप किसी को क्षमा कर ही नहीं सकते। श्रेष्ठ वह नहीं जो किसी के प्राणों का वियोग कर रहा है,

परन्तु श्रेष्ठ वह है जो प्राणों के वियोग होने पर भी प्राणी की रक्षा करता है।

थोड़ा व्यावहारिकता को भी समझो। जिसे तूने शत्रु बनाया है उसे तू मित्र बना लेता, तो तेरे एक साथ हजारों मित्र बन जाते। ये कर्मसिद्धांत कह रहा है कि एक समय का परिणाम यानी एक–सौ–अड़तालीस शत्रुओं का जन्म। वे एक–सौ–अड़तालीस शत्रु तो मुख्यरूप से दिख रहे हैं, पर असंख्यात लोक–प्रमाण शत्रुओं को तूने जन्म दे दिया और सोच रहा था कि मैंने कुछ नहीं किया। कभी–कभी तेरे मित्र भी शत्रु हो जाते हैं, जबकि मित्र से कभी तेरा झगड़ा हुआ ही नहीं। समझना इसे, कि जिसे तूने शत्रु बनाया था वह तेरे मित्र का भी मित्र था, इसलिए वह मित्र भी अब तेरा शत्रु हो गया। शत्रु–मित्र को समझो। जो साता है, वह असाता की सखी है और दोनों एक ही कर्म की प्रकृति है। इसलिए जो मुमुक्षु होता है, वह किसी भी बात को सहजता में टाल देता है। जितने दलदल में जाओगे, उतने फँसते जाओगे; क्योंकि सागर गहरा है, पर पानी उथला है। जहाँ पानी उथला होगा, पंक अधिक होगा और पंक होगा तो उसमें तुम जितने प्रवेश करोगे, उतने ही फँसते जाओगे।

भो चेतन ! पंचमकाल में आयु का नीर कम है, पापों का पंक अधिक है और जितने नीचे जाओगे, उतने गहरे फँस जाओगे। फिर पंक से निकलने के मौके कम हैं, क्योंकि आयु थोड़ी है। व्यक्ति का जितना चिंतन पापों में जाता है, उतना चिंतन जिनेन्द्र की वाणी में नहीं जाता। बात को समझना, जितना चिंतन गहरा होगा, उतना चरण गहरा होगा और जिसका चरण गहरा होगा, उसका करण भी उतना ही निर्मल होगा। चरण अर्थात् चारित्र और करण अर्थात् परिणाम। जिसका करण निर्मल होगा, वही अंतःकरण से सिद्ध प्रभु बन जायेगा और जब तक करण निर्मल नहीं है, वह कभी सिद्ध नहीं बन सकता। जिस चरण से करण बिगड़े, वह चरण नहीं, दुष्चरण है। अर्थात् जिस चरण से परिणाम कलुषित हों, उसे वीतरागवाणी में चारित्र संज्ञा नहीं दी। चारित्र उसे कहा है जिसके माध्यम से परिणाम निर्मल हों। तो बहरे हो गये, अंधे भी हो गये आप, फिर भी सुरक्षित नहीं हो, जब तक मौन नहीं हुए।

भो मनीषी ! किसी की आलोचना करने के बाद आप विराम लें और अपने आपसे पूछें कि तुम्हें कैसा लग रहा है ? व्यावहारिक दृष्टि से पूछ रहा हूँ, सत्य बताना? आलोचना में आपने समय खोया। समय अर्थात् आत्मा, समय अर्थात् काल और समय अर्थात् आगम। आपने तीन को एकसाथ खोया। इतना ही नहीं, जिसकी आपने आलोचना की थी, वे बातें यदि

उसके कान में पड़ जायें तो आपने अपना सभी खो दिया। देखो, यह मत सोचना कि मैंने तो नियम बना लिया कि महाराज, रोज आपके प्रवचन सुनूँगा, परन्तु इसमें यह नियम भी बना लेना कि जो सुनूँगा घर में जाकर उसका अनुभव भी करूँगा। भो ज्ञानी ! जिस समय तेरी दृष्टि में किसी का दुश्चरण आ रहा है, तू उसे मुख से कह रहा है, उस समय तेरा ज्ञान–दर्शन उपयोग कैसे हो रहा है ? धिक्कार हो, तूने इस भगवती आत्मा के ज्ञानगुण को, दर्शनगुण को दूसरे की बुराई करके काला कर दिया। इसमें अहित किसका हो रहा है ? आज कुछ सीखकर, कुछ समझकर जाना। मुमुक्षु कहता है कि मैं अंधा हो जाऊँ, बहरा हो जाऊँ और मूक हो जाऊँ। किसलिए ? दूसरों के दोष कहने के लिए मैं मूक हो जाऊँ, परन्तु प्रभु–भक्ति के लिए तो मैं वाचाल रहूँ। मैं लंगड़ा हो जाऊँ जब मेरा मन पापों में जाने लगे एवं मेरे पैर पापों की सामग्री जुटाने में लग जायें, उस समय मेरे पैर टूट जायें, जिससे कम–से–कम जा तो नहीं पायेंगे। यदि मन से पाप हुआ, तो अतिचार हुआ, कम–से–कम अनाचार से बच गया। जब–जब तुम्हारे पाप के परिणाम होते हैं, तब–तब तुम्हारे पैर टूट जाते हैं, ध्यान रखना, ढीले पड़ जाते हैं, फिर आप कषायों की वैशाखी लगाकर चल देते हैं। कषाय की वैशाखी इतनी मजबूत होती है कि तुझे उठा ले जाती है।

इस प्रकार अंधे भी हो गये, लँगड़े भी हो गये, बहरे भी हो गये। बस, यही मुमुक्षु का लक्षण है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

''मुक्त जीव का स्वरूप''

संते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छेइ तह य तिरियं वा ।
उड्ढगमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ।।७१।।

अर्थ: जैसे, कर्मों से मुक्त हुआ जीव धर्मद्रव्य के होने पर भी नीचे नहीं जाता, उसी प्रकार तिरछा भी नहीं जाता, क्योंकि मुक्त जीव ऊर्ध्वगमन–स्वभाव वाला है।

भो मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् वर्द्धमान स्वामी की पावन देशना हम सभी सुन रहे हैं। आचार्य देवसेन स्वामी ने बहुत ही अनुपम सूत्र दिया। भो ज्ञानी ! तूने ज्ञानी की सत्ता को तो प्राप्त किया, परन्तु सत्ता को प्राप्त कर लेना सत्य नहीं है। सत्ता को प्राप्त कर उसका अन्वेषण करके जो जीना है, वह सत्य है।

भो ज्ञानी ! ज्ञान–दर्शन तूने प्राप्त किया। जो असत्य का जीवन है, इसमें भी ज्ञान–दर्शन का भी स्वामित्व है और जो सत्य का जीवन है, इसमें भी ज्ञान–दर्शन का ही स्वामित्व है। एक व्यक्ति पैसे के माध्यम से दुग्ध खरीदता है, वह भी मुख से ही पीता है और एक व्यक्ति पैसे के माध्यम से ही मदिरा खरीदता है, वह भी मुख से ही पीता है। एक को पीने में आप घूमते नहीं हो और दूसरे को पीने के बाद आपको स्वयं ही शर्म महसूस होती है। जिस क्रिया को करने में स्वयं ही शर्म आती हो, वह क्रिया श्रेयस्कर कैसी? उसका परिणमन आगे कैसा होगा ? मुख से ही मदिरापान किया जाता है और मुख से ही दुग्धपान किया जाता है। ज्ञान से ही ज्ञानानन्द की ओर बढ़ा जाता है और ज्ञान से ही भोगानंद की ओर बढ़ा जाता है। परन्तु, मनीषियो ! ध्यान रखना, आपके ज्ञान को 'अज्ञान' संज्ञा दे दी जाती है और योगी के ज्ञान को 'ज्ञान' संज्ञा दे दी जाती है, पर है दोनों जगह ज्ञान। ज्ञातत्वभाव में कोई फर्क नहीं है। किन्तु एक का ज्ञान निर्बन्धता का हेतु है और दूसरे का ज्ञान बंध का हेतु है। परन्तु अज्ञानी जीव ज्ञान को दोष देता है, जबकि उस ज्ञान का कोई दोष नहीं है, दोष तेरे श्रद्धान का है। जिस

दिन तुझे वीतराग मार्ग पर श्रद्धा हो जायेगी, उसी दिन तेरा ज्ञानमार्ग मोक्षमार्ग की ओर चलने लगेगा और जब तक तेरा ज्ञान विषयों में लीन है, तब तक तेरा ज्ञान भोगों की ओर ले जा रहा है। इसमें ज्ञान का नहीं, अपितु श्रद्धान का दोष है। श्रद्धान कभी ज्ञान से शून्य नहीं होता है तथा श्रद्धा भी तभी बनती है जब ज्ञान सामान्य होता है।

भो ज्ञानी ! ज्ञान से बन्ध भी नहीं होता और ज्ञान से मोक्ष भी नहीं होता। यदि आँख से जानने पर बंध होता है तो सर्वाधिक बंध केवली भगवान् को होगा, क्योंकि वे विश्व के चराचर द्रव्यों के ज्ञाता हैं। भेदविज्ञानी मुमुक्षुजीव संसार के द्रव्यों को जानता है, देखता है, किन्तु लिप्त नहीं होता। जो लिप्त होता है, वह ज्ञानी नहीं होता, वह भोगों का श्रद्धानी होता है। उसको सिर्फ जाननदृष्टि नहीं है, अपितु जानने के साथ रागदृष्टि है। रागदृष्टि के साथ जो–जो जानोगे, वहाँ नियम से बंधोगे और वीतरागदृष्टि से जो–जो जानोगे, वहाँ नियम से आप निर्बन्धता को प्राप्त होंगे। मात्र देखना–जानना। दोनों न बंध हैं और न निर्बन्ध हैं। सर्वज्ञ प्रभु जानते–देखते नहीं हैं। जानता देखता तो राग है। वीतरागी के ज्ञान में तो दर्पण के समान झलकते हैं।

भो मुमुक्षु आत्माओ ! इस अभिमान को भूल जाओ कि मेरा ज्ञान–दर्शन प्रभु के ज्ञान–दर्शन के समान है। उनका ज्ञान–दर्शन वीतरागता से युक्त क्षायिक है और तेरा ज्ञान–दर्शन क्षायोपशमिक है। परन्तु जब शुद्ध भाव की चर्चा करोगे तो न क्षायिक हूँ, न क्षयोपशमिक हूँ, मैं तो पारिणामिक–स्वभावी हूँ। जीवत्व, चेतनत्व दृष्टि से मुझ में, निगोदिया में और प्रभु आप में कोई अन्तर नहीं है, हम सब समान हैं। फिर भी अंतर है, क्योंकि आपकी चेतना शुद्ध है और मेरी चेतना अशुद्ध।

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ग्रंथराज पंचास्तिकाय में लिख रहे हैं कि जो प्राणों से अतिक्रांत है, वह ज्ञानचेतना का भोगी है। सम्पूर्ण स्थावर एकेन्द्रिय जीव कर्मफलचेतना को भोग रहे हैं और त्रस जीव कर्मचेतना को भोग रहे हैं। कर्मफल भी भोग रहे हैं और अशुभ ज्ञानचेतना भी। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य ये सराग सम्यग्दृष्टि जीव के आंतरिक लक्षण हैं। जिसमें सराग सम्यक्त्व के भी गुण नहीं झलकते, उसमें वीतराग सम्यक्त्व कहाँ पाओगे? क्योंकि यदि भूमि है तो फलों की, वृक्षों की खोज की जा सकती है। यदि भूमि ही नहीं हो, तो कहाँ फल, कहाँ वृक्ष? यह अध्यात्मशास्त्र है। चाहे तुम धर्म के उद्देश्य से कषाय

करना, चाहे कर्म के उद्देश्य से करना, परन्तु कषाय का काम है– मैं तो बन्ध कराऊँगा। दंडक राजा ने पाँच–सौ मुनिराजों को घानी में पिलवा दिया। आगंतुक मुनिराज ने सुना, क्रोध आया, अशुभ तैजस पुतला निकला, बारह योजन की दंडक नगरी को जला डाला तथा वापिस आकर मुनिराज को भी जला दिया। द्वीपायन मुनिराज के क्रोध से द्वारका जल गई। अतः कषाय कभी अच्छी नहीं होती। इसलिए जीवन में ध्यान रखना, हम धर्मक्षेत्र में भी धार्मिक क्रिया–कलाप समत्व की प्राप्ति के लिए करें और यदि सरलता नहीं है तो, मनीषियो ! वे क्रियाकाण्ड तो कहलायेंगे, परन्तु आत्मकाण्ड उनमें लेखमात्र नहीं रहेगा। साथ ही इसे भी ध्यान रखना कि बिना क्रियाकाण्ड के ज्ञानकाण्ड झलकेगा भी नहीं।

हे प्रभु ! आपकी वाणी स्याद्वाद चिह्न से अंकित है एवं विरोध को मिटानेवाली है। सम्यग्दृष्टि जीव प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य दृष्टि को रखेगा, प्रत्येक क्रिया में ज्ञान–वैराग्य को लगायेगा। एक व्यक्ति बाजार में लौकी खरीदने की सोचता है। यहाँ पर दृष्टि देखना। बाजार में भाजी भी रखी हुई थी। वह व्यक्ति सोचता है कि भाजी खरीदूँगा तो पैसा ज्यादा लगेगा और परिवार बड़ा है, साग कम पड़ जायेगा, अतः लौकी खरीदना ही अच्छा है। जबकि यहाँ सम्यग्दृष्टि जीव की ज्ञान–वैराग्य शक्ति कह रही है कि यदि मैं भाजी खरीदता हूँ तो एक व्यक्ति की भाजी तोड़ने के लिए अनेक जीवों का वध करना होगा। इतने सारे पत्ते तोड़े जायेंगे, जबकि भगवान् तीर्थंकर की देशना है कि व्यर्थ में स्थावर का भी घात मत करो। इसलिए भाजी नहीं खरीदना, लौकी खरीदना। दोनों ने क्या खरीदा? एक की रागदृष्टि थी और एक की ज्ञान–वैराग्य दृष्टि थी। उसने ज्ञान लगाया कि भाजी में हिंसा ज्यादा है और लौकी एक खरीदूँगा तो एक ही जीव को कष्ट है। तो यह ज्ञान था और नहीं खरीदी भाजी, यह वैराग्य था। ऐसा सम्यक्दृष्टि जीव जहाँ भी कदम रखता है, वहाँ अपनी ज्ञान–वैराग्य दृष्टि को लेकर चलता है। लोग कहते हैं– महाराजश्री! तत्त्व की बातें बहुत कठिन हैं। परन्तु ऐसा नहीं है। तत्त्व की बातें तो परम सरल होती हैं। हमने आपका भोजन तो नहीं छुड़ाया, लौकी खाना तो नहीं छुड़ाया। बस, दृष्टि निर्मल करो। ज्ञानीजीव विवेक से काम करता है, अतः निर्बन्ध है और अज्ञानी वही क्रिया में बंध को प्राप्त होता है।

यदि आप बुद्धिपूर्वक खेत में दवा छिड़क रहे हैं, तो वह संकल्पी हिंसा के अन्तर्गत ही आयेगी। चाहे वह छिड़क रहा हो, चाहे वह बेच रहा हो, जैन सिद्धान्त कहेगा कि हिंसक

सामान का व्यापार करने वाला वह भले ही सवर्ण हो, परन्तु आचार्य उमास्वामी की भाषा (तत्त्वार्थ सूत्र) में उसे/वह म्लेच्छ कहा जाएगा, क्योंकि कर्म म्लेच्छ है। बहु–हिंसक व्यापार जहाँ होता है, मनीषियो ! वह कर्म से शूद्र है। अपना विषय चल रहा है ज्ञान–वैराग्य शक्ति का। ज्ञान न बंध है, ज्ञान न मोक्ष है। दृष्टि में बंध है, दृष्टि में मोक्ष है। बंधना संसार है, छूटना मोक्ष है।

भो ज्ञानी ! ममत्वभाव बन्ध है, और निर्मल भाव है मोक्ष। आप सर्वाधिक पुरुषार्थ ममत्व के लिए ही कर रहे हैं। पंचपरावर्तन ममत्व से ही हो रहे हैं। पंचमगति तो एक क्षण में होती है, ज्यादा समय तो पंचमगति की सिद्धि के लिए लगता है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी कह रहे हैं, यदि समयसार में भी राग हो गया तो भी बंधोगे। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया– भगवान् ! मुझे केवलज्ञान क्यों नहीं हो रहा? नहीं होगा, क्योंकि अभी आपको महावीर के प्रति राग है। जब महावीर स्वामी में राग गौतम स्वामी को केवलज्ञान की प्राप्ति में रुकावट बन गया तो, भो ज्ञानी आत्माओ ! तुम्हें घर का राग कैसे मोक्ष दिला देगा ? इसलिए राग को छोड़ो और अंत में धर्म में भी राग मत करना। दर्शन कहता है, दृष्टि कहती है कि ज्ञान बन्ध भी नहीं, ज्ञान निर्बन्ध नहीं। ज्ञान का काम जानना है। अन्तरंग में तुम्हारी दृष्टि क्या है, वैसा ही परिणमन होगा। एक जीव इनमें मुनिमहाराज देखता है, एक जीव इनमें बेटा देखता है। माँ आई, बोली– हमारे बेटा मुनि महाराज बन गये। माँ को तो बेटा दिख रहा है, उसको मुनिभक्ति की निर्जरा नहीं हो रही है, उसको बेटा का राग नियम से बंध करा रहा है। और एक जीव कह रहा है कि मुझे तो परमेष्ठी दिख रहे हैं। उसको राग नहीं है, उसको परम–पद झलक रहा है। इसलिए उसको बंध नहीं है। जानने–देखने में जो राग है, उसका नियम से बंध है।

'समयसार' जी ग्रंथराज में दिया है कि ज्ञानी को तो भोग भोगकर निर्जरा होती है। गलत नहीं लिखा, सत्य लिखा है। परन्तु भोगों से निर्जरा नहीं होती, भोग से तो बंध ही है। वह सम्यक्त्व के कारण निर्जरा है, भोग के कारण निर्जरा नहीं है। क्षायिक भोग भी होता है, आप अपने भोग से क्यों लगाते हो? सिद्धों–अरिहंतों के भोग होता कि नहीं ? अरे ! भोग भोगना तो ऐसा भोगना जिसका कभी अभाव ही न हो एवं न कभी विनाश ही हो। आचार्य देवसेन स्वामी कह रहे हैं कि धर्मास्तिकाय का अभाव होने से सिद्ध परमेश्वर लोकान्त में

विराजमान हैं। क्या उनमें आगे जाने की शक्ति नहीं थी? अरे ज्ञानी आत्माओ ! निमित्त से द्वेष और उपादान से राग में मत चले जाना, अनन्त शक्तिशाली सिद्धात्मा की शक्ति में प्रश्नचिह्न मत खड़ा कर देना। ये स्वीकार करो कि छः द्रव्यों का गमनागमन वहीं तक होता है, जहाँ तक धर्म व अधर्म द्रव्य होते हैं। लोक का द्रव्य लोक में रहेगा, इसलिए सिद्ध भगवान् संसार में हैं, परन्तु संसारी नहीं हैं। संसार में रहना बिल्कुल दुःख का कारण नहीं है, परन्तु संसारी बनना दुःख का कारण है। संसार में तो सिद्ध भगवान् भी रहते हैं। अतः भगवान् से प्रार्थना करना कि सभी संसारी सिद्धत्व को प्राप्त हों।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

१ १ १

अजन्मा है आत्मा का स्वरूप

असरीरा जीव घणा चरमसरीरा हवंति किंचूणा ।
जम्मण–मरण–विमुक्का णमामि सव्वे पुणो सिद्धा ॥७२॥

अर्थः पुनःवे सिद्धजीव शरीररहित हैं अर्थात् बहुत घने हैं, कुछ–कम चरम–शरीर हैं, जन्म व मृत्यु से रहित हैं। ऐसे सर्व सिद्धों को मैं नमस्कार करता हूँ।

प्रवचन

मनीषियो !

आचार्य देवसेन स्वामी सिद्धों का कथन करते हुए कह रहे हैं कि सिद्धालय में सिद्ध परमात्मा बहुत घने हैं एवं जब तक घने नहीं होंगे, तब तक सिद्धत्व की सिद्धि भी नहीं होगी। घने होने का उद्देश्य क्या था? कि परमेश्वर एक में अनेक रूप से विराजमान हैं, बहुत बड़ी शिक्षा दे रहे हैं। णमोकर महामंत्र जब प्रारम्भ होता है तो उसमें भी घने शब्द का प्रयोग बहुत अंतरंग में छिपा हुआ है। ''णमो लोए सव्व साहूणं'' यह शब्द अपने आप में घनत्व की चर्चा कर रहा है।

णमो लोए सव्व अरिहंताणं ।
णमो लोए सव्व सिद्धाणं ।
णमो लोए सव्व आइरियाणं ।
णमो लोए सव्व उवज्झायाणं ।
णमो लोए सव्व साहूणं ।

भो ज्ञानी ! यहाँ एकत्व दृष्टि को अथवा समत्व दृष्टि को नमस्कार नहीं, यह णमोकार मंत्र सिखा रहा है। महान् ग्रंथराज 'षट्खण्डागम' के मंगलाचरण में आचार्यभगवंतों ने पहले अरहंतों को नमस्कार किया है। किन्तु धवला जी की आठवीं पुस्तक में आचार्य वीरसेन स्वामी अपनी टीका में पहले ''णमो लोए सव्व साहूणं'' कह रहे हैं। शिष्य ने प्रश्न किया कि एक बात समझ में नहीं आई, अभी तक तो आप अरहंतों का गुणगान पहले करते रहे और यहाँ आपने साधुपरमेष्ठी की वंदना पहले की, यह आपने क्रम भंग क्यों कर दिया ? आचार्य श्री ने बहुत

ही सुन्दर उत्तर दिया– अरहंत आए कहाँ से? सिद्ध आए कहाँ से? जब तक साधुस्वभाव का जन्म नहीं होगा, तब तक अरहंतस्वभाव का जन्म कहाँ से होगा? यहाँ साधुपद की चर्चा नहीं कर रहे, साधुस्वभाव की चर्चा कर रहे हैं। जब साधुस्वभाव का जन्म होगा तभी, मनीषियो ! अरहंतपद का जन्म होगा।

जो मंगल आचरण है, वास्तव में वही मंगलाचरण है। भावमंगल निर्मल है तो द्रव्यमंगल भी निर्मल होगा। यदि भावमंगल तुम्हारे पास है तो, मनीषियो ! द्रव्यमंगल आपके लिए अपने आप में मंगलभूत है। एकत्वदृष्टि आपसे कह रही है कि यदि हमारे जीवन में साधुस्वभाव जन्म ले लेता है तो साधुभेष की प्राप्ति में देर नहीं लगती है। भो ज्ञानी ! ''णमो लोए सव्व साहूणं'' सूत्र कह रहा है कि लोक में साधु मंगल हैं, साधु उत्तम हैं, साधु शरणभूत हैं। साधु का जन्म नहीं होगा तो आचार्य व उपाध्याय का जन्म कहाँ से होगा? इस लोक में साधुओं की संख्या तीन–कम–नौ करोड़ है। साधु वही है जो आचार्य समन्तभद्र की परिभाषा से घटित होता है–

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रहः ।
ज्ञानध्यान–तपोरक्तस्तपस्वी सः प्रशस्यते ॥ र.क.श्रा.॥१०॥

जो पाँचों इन्द्रियों के विषयों की आशा से रहित हैं, आरम्भ–परिग्रह से रहित हैं और ज्ञान, ध्यान, तप में लीन रहते हैं, वे ही सच्चे (गुरु) हैं।

भो ज्ञानी ! प्रभु–द्वार नहीं होता, गुरु–द्वार होता है। यदि गुरु का द्वार खुला हुआ है, तो प्रभु का द्वार अपने आप खुला होगा। इसलिए हमारे आगम में प्रभु–द्वार की प्राप्ति का कथन नहीं है, प्रभु बनने का कथन है। आपका प्रभु से मिलन तो अनेक बार हुआ, परन्तु प्रभु एक बार भी नहीं बन पाये। भगवंतों के समवसरण में पहुँचा, प्रभु से मिला, लेकिन प्रभुता को लेकर मिला। यदि प्रभुता से हीन होकर मिला होता, तो आज तू भी प्रभु बन गया होता। यदि प्रभु बनना चाहते हो तो प्रभु बनके नहीं अपितु प्रभु के चरणों का सेवक बनके मिलना। भगवान् आदिनाथ से लेकर महावीर स्वामी तक जितने भी प्रभु हुए हैं, उन्होंने भी पहले अपनी प्रभुता को समाप्त किया था। भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी के समान समतापरिणाम रखना। परन्तु समत्व की दृष्टि तभी होगी, जब घने सिद्धों पर दृष्टि होगी।

भो चेतन ! एक व्यक्ति इंसान की खोज में निकला। कभी–कभी ऐसा होता है कि लोग भगवान् की खोज तो करने लगते हैं, किन्तु इंसान की खोज नहीं करते। यदि इंसान की

खोज की गई तो भगवान् तो अपने आप बन जाओगे। वह इंसान की खोज करने वाला बहुत दु:खित था, क्योंकि कोई इंसान नहीं मिल रहा था। खोजते–खोजते एक जिनालय की ओर देखता है, वहाँ सोने का कलश चमक रहा था। सोचता है– वहाँ चलकर थोड़ी देर विश्राम कर लूँ, फिर आगे चलूँगा। सीढ़ियों से चढ़कर विशाल चौबीसी जिनालय देखा। दर्शन करने के उद्देश्य से आगे बढ़ा, उसी बीच एक घटना घट गई। एक बुढ़िया माँ भी वहाँ दर्शन करने आई। उस माँ के आने के पहले एक बंदर घूमते–घूमते चौबीसी जिनालय में प्रवेश कर गया। बंदर मन ही मन सोचता है कि मनुष्य कितना स्वार्थी है, संसार में उसने भगवान् भी बनाये तो मनुष्य के आकार के बनाये। एक भी भगवान् मेरे आकार मे ंनहीं बनाये। जैसे ही बंदर प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ स्वामी की प्रतिमा के समक्ष पहुँचता है, तो देखता है कि नीचे एक बैल बना है। अब वह गद्‌गद् हो गया– मैं सोचता था कि मनुष्यों के ही भगवान् होते हैं, यहाँ तो मेरे भी भगवान् हैं। उसे क्या मालूम था कि ये चिह्न हैं कि भगवान् हैं। हाथी के बाद घोड़ा मिल गया एवं जैसे ही अभिनंदननाथ स्वामी के चरणों में पहुँचा तो बंदर को बंदर दिख गया। भो ज्ञानी ! अब तो वह वहीं बैठ गया, बोला मेरे भगवान् और मैं भी तो भगवान् । क्रमशः वह बंदर आगे महावीर स्वामी की प्रतिमा तक पहुँच गया, शेर को देखा तो प्रसन्न होकर वह बंदर जंगल में गया। सभी जानवरों से बोला– चलो ! चौबीसी जिनालय में अपने भी भगवान् हैं। बैल से लेकर सिंह तक सभी जानवरों को प्रतिमाओं के सामने बैठा दिया। जानवरों को देख बुढ़िया मूर्च्छा खाकर गिर गयी। तभी कर्मसिद्धान्त के एक विद्वान् दर्शन करने पहुँचे। उन्होंने देखा कि बुढ़िया पड़ी हुई है। बोले– 'अरे ! जीव ने स्वयं कर्म किया है, स्वयं फल भोग रहा है। कौन, किसका, क्या कर सकता है ?' उपदेश देकर खिसक गये। थोड़ी देर बाद एक अध्यात्मप्रेमी विद्वान् वहाँ पहुँचे, बुढ़िया को पड़ी हुई देखकर बोले– 'ओह ! प्रत्येक द्रव्य की सत्ता स्वतंत्र है, प्रत्येक परमाणु स्वतंत्र है, कोई किसी का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकता है, यह अपने चतुष्टय में पड़ी हुई है, किसी आत्मा की क्षति तो हो नहीं सकती', कहकर वे भी वहाँ से खिसक गये। थोड़ी देर बाद एक धर्मात्मा पुरुष आये, बुढ़िया को देखकर बोले– 'वत्थु स्वभावो धम्मो' । वस्तु का स्वभाव धर्म है, यह कहकर वह भी खिसक लिये। किसी को एक बुढ़िया पर दया नहीं आई। सभी अपने–अपने सिद्धांतों को सुनाकर चले गये।

मनीषियो ! जब तुम्हारे ऊपर संकट आयें तब तो यही कहना कि यह मेरे कर्म का विपाक है, यह वस्तु का स्वभाव है, किन्तु दूसरे के गाल पर चाँटा मार दो और कहना– भैया

! यह तेरे कर्म का उदय है। यदि ऐसा कहोगे तो दयाधर्म कहाँ चला जायेगा ? किसी ने बुढ़िया को नहीं उठाया, मूर्च्छा खाए पड़ी हुई है। अंत में वह व्यक्ति जो इंसान की खोज कर रहा था, वह ही सीढ़ियाँ चढ़कर बुढ़िया के पास पहुँच गया, पानी लेकर छींटा मारा, बुढ़िया की मूर्च्छा दूर हो गई। परन्तु उस बुढ़िया ने भगवान् की ओर नहीं देखा, सीधे घर की ओर भागी।

भो ज्ञानी ! ध्यान रखना, व्यक्ति को भय पहले दिखता है और जब तक भय दिखेगा, तब तक भगवान् दिखनेवाले नहीं हैं। वह व्यक्ति सोच रहा है कि मैंने मनुष्यों के आकारों को तो बहुत देखा, पर इंसान अभी तक नहीं मिल पा रहा है। वह व्यक्ति दर्शन करते हुए अभिनंदन स्वामी के दर्शन करने पहुँचा। नमस्कार किया तो नीचे बैठे हुए बंदर ने आशीर्वाद दे दिया। बंदर बोला– आपने नमस्कार किया तो मैंने आशीर्वाद दे दिया। वह व्यक्ति बोला– भोले प्राणी ! मैंने तुम्हें नहीं, भगवान् को नमस्कार किया है। भगवान् की प्रतिमा में नीचे बने बंदर को दिखाकर बंदर बोला– यह भगवान् बैठे हैं। वह व्यक्ति बोला– यह भगवान् नहीं, भगवान् का चिह्न है। विसंवाद होने लगा उस व्यक्ति में और बंदर में। बंदर बोला– आपने चौबीस तीर्थंकरों में किसी भी एक का चिह्न मनुष्य क्यों नहीं रखा? वह व्यक्ति बोला– मनुष्यों के चेहरे अधिकांशतः मिलते–जुलते हैं, अतः उनके चिह्न तीर्थंकरों की प्रतिमाओं में नहीं रखे। परन्तु आप सभी तिर्यंचों की जाति भले एक हो, पर चेहरे सबके अलग–अलग हैं। बंदर कहता है कि यह आप भूल कर रहे हो। मनुष्यों के चिह्न तीर्थकरों की प्रतिमा में इसीलिए नहीं रखे गये कि उनके चेहरे भले ही एक–से हैं, पर सबका मन एक–सा नहीं है और तिर्यंचों के चेहरे भले अलग–अलग हों, पर सबका मन एक–सा रहता है। आप देख लो यहाँ पर, हम सभी तिर्यंच एक–साथ बैठे हुए हैं, पर तुम कभी एक–साथ नहीं बैठ सकते। एक बुढ़िया पर भी किसी को दया नहीं आई। सबने कर्मसिद्धान्त और आत्मा के उपदेश दिये, पर 'धर्मस्य मूलं दया' की चर्चा किसी ने नहीं की। वह मनुष्य ही नहीं है जिसके अंदर में करुणा/दया की भावना नही ंहो। मनुष्य वही है, जिसके अंदर प्रेम, वात्सल्य, दया, एकत्वदृष्टि छिपी है। जब तक एकत्वदृष्टि नहीं बनेगी, एक सिद्ध में अनेक सिद्ध बनकर कैसे विराजेंगे ? व्यक्ति बोला– मेरी खोज पूरी हो गई, मुझे इंसान मिल गया।

भो प्रज्ञ ! यदि हमने यहाँ पर एकसाथ बैठना सीख लिया तो सिद्धालय में एक में अनन्त

सिद्ध बनके बैठ पाएँगे। वे घने सिद्ध तभी बने हैं, पहले वे यहाँ अपने आप में प्रेम व वात्सल्य में घने थे, कलुषता में घने नहीं थे। अरे ! शत्रु को शत्रु बनाकर भगाने वाले संसार में अनेक प्राणी हैं; पर शत्रु को भी मित्र बनाकर अपने हृदय में बिठा लेने वाले प्राणी संसार में विरले मिलेंगे। अहो भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी! जिसने आपको दस भव तक सताया, उपसर्ग किये, उसे भी आपने अपने आँचल में ही लगाया, आपकी कृपा से वह सम्यग्दृष्टि बन गया।

आचार्य देवसेन स्वामी ने इस गाथा में अनंतानंत अशरीरी सिद्ध परमेश्वरों को, जो चरमशरीरी हैं, अंतिम शरीर से किंचित न्यून हैं, जन्म–मरण से रहित हैं, जिन्होंने स्वात्मोपलब्धि (सिद्धि) को प्राप्त किया है, ऐसे सिद्धों को नमस्कार किया है।

कभी–कभी हमारे आचार्यभगवंतों ने बड़ी सहज दृष्टि से कथन किया है कि आप तो सिद्धों की आराधना करो और गरीब बन जाओ, जिससे कि आपका अहंकार–ममकार न बढ़ने पाये और चरमशरीरी की अवस्था प्राप्त करके, चर्म से रहित हो करके निज–धर्म की प्राप्ति हो जाए।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

व व व

स्वगत व परगत तत्त्व आत्मसिद्धि के सोपान

जं अल्लीणा जीवा तरंति संसारसायरं विसमं ।
तं भव्वजीवसरणं णंदउ सग–परगयं तच्चं ।।७३।।

अर्थ: जिसमें तल्लीन हुए जीव विसम संसार–समुद्र को तिर जाते हैं, वह भव्य जीवों को शरणभूत स्व और परगत तत्त्व सदा वृद्धि को प्राप्त हो।

मनीषियो !

तीर्थंकर भगवान् महावीर के शासन में आचार्यभगवंतों ने लिखा है कि ऐसा भी ज्ञानीजीव होता है जो वैभव को देखकर सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। पंचपरमेष्ठी को देखकर नहीं, वैभव को देखकर सम्यग्दर्शन होता है। यह तो कोई आश्चर्य नहीं। जब जड़द्रव्य को देखकर सम्यग्दर्शन होता है, तो चैतन्य प्रभु के जिनबिम्ब को देखकर जिसका सम्यक्त्व न जगे, उसके नेत्र 'नेत्र' नहीं, मात्र काँच के दो टुकड़े हैं। जैनसिद्धांत कहता है कि उपरिम जाति के देवों की विभूति एवं ऋद्धि का दर्शन भी सम्यक्त्व का हेतु है। देखो, देवों की विभूति को देखकर एक रोता है और दूसरा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है। एक तड़पता है कि अहो ! इसके पास वैभव क्यों ? मेरे पास क्यों नहीं? पर दूसरा कहता है कि नहीं, इस जीव ने पूर्व में निर्मल–निर्ग्रन्थ चारित्र की आराधना की होगी, इसी के परिणाम से इस भव में इसको विभूति मिली हुई है।

भो चेतन ! ध्यान रखना, चारित्र की आराधना मात्र नहीं, अपितु चारित्र–आराधना के परिणाम परम आवश्यक हैं। क्योंकि यदि परिणाम तुम्हारे पास हैं, तो आराधना निर्मल है और परिणाम नहीं हैं, तो साधना चलती रहेगी, परन्तु आराधना नहीं हो सकेगी। जब बछड़ा गाय के आँचल को पीता है, यदि आँचल में दुग्ध है, तो फेन टपकने लगता है; परन्तु यदि आँचल में दुग्ध नहीं है, तो वह बछड़ा गाय के आँचल को पीड़ा मात्र देगा, अपने समय को बर्बाद

करेगा, परन्तु पेट को नहीं भर सकेगा। भो ज्ञानी ! यदि साधना में परिणाम का दुग्ध है, तो चारित्र का फेन अपने आप टपकता है और जिसके अंतरंग में परिणामरूपी दुग्ध नहीं है, तो उसके चारित्र में फेन भी नहीं टपकता। वह जीव कोरी बातें तो कर सकता है कि मैं चैतन्य आत्मा का अनुभव कर रहा हूँ, परन्तु चारित्र दिख ही नहीं रहा है। अनुभूति कैसी? हमारे आचार्यों ने कहा है कि 'धर्मी सों गौ बच्छ प्रीत' जिस तरह गाय को अपने बछड़े के प्रति निष्काम दृष्टि से अनुराग होता है, उसी तरह धर्मात्मा के प्रति श्रावक का अनुराग होना चाहिए।

भो ज्ञानी ! आचार्य देवसेन महाराज इस गाथा में बहुत बड़ा आशीष देने जा रहे हैं। परन्तु आशीष उसी के शीष पर निहित होता है, जिसकी आँखें लोक के शीर्ष पर लगी होती हैं। जिसकी दृष्टि लोक के शीर्ष पर नहीं होती, उसे आशीष दिखता ही नहीं है। आशीष उसी के लिए होता है जिसका शीश झुका है अर्थात् जिसने चरणों में चारित्र को देखा है। दृष्टि आपकी निर्मल है तो सर्वत्र आपको परमेश्वर नजर आते हैं और दृष्टि निर्मल नहीं है तो, मनीषियो ! भगवान् जिनेन्द्र के चरणों में भी आपको भगवान् नजर नहीं आयेंगे।

ध्यान रखना, जीवन में कभी किसी से कुछ माँगना नहीं। माँगने से प्रीति घट जाती है और बिना माँगे ऐसा मिलता है कि किसी को मिला न हो। देखो संसार की दशा। कुछ लोग तो माँगते हैं तड़प–तड़प कर; परन्तु जिनका प्रबल पुण्य होता है, उनके यहाँ स्वयमेव टपकने लगता है। जिस पाषाण से प्रतिमा निर्मित हुई, उस पाषाण में विराजे एकेन्द्रिय जीव का प्रबल यशःकीर्ति नामकर्म का उदय होता है, जो कि तीर्थंकरों के संस्कारों से संस्कारित किया जा रहा है। इसी तरह उस भूमि में विराजे एकेन्द्रिय जीव का भी पुण्य का योग होता है, जिस भूमि पर मनुष्यों द्वारा धार्मिक अनुष्ठान किये जाते हैं। विदिशा नगरी का ऐसा अहोभाग्य है कि दक्षिण से उत्तर में मुनिराज आयेंगे तो विदिशा जायेंगे, उत्तर से दक्षिण जायेंगे तो विदिशा आयेंगे। मैं भी आया हूँ एवं इसकी मिट्टी को मस्तक चढ़ा रहा हूँ। जिस भूमि पर आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने साधना की हो, जिस भूमि पर देश के श्रेष्ठ आचार्यों ने अपने चरण रखें हों, उस भूमि की मिट्टी स्वयमेव ही तीर्थ बन जाती है। परन्तु आप यह मत सोचना कि यह तो मेरे घर का तीर्थ है। यह पर्याय का परिणमन है, तेरा द्रव्य ही परिणमनशील है। आज तुझे यहाँ पर्याय प्राप्त हुई है, कल कहीं–और होगी। इसलिए भूमि के राग में तू लीन मत हो जाना

और यही मानकर चलना कि जिस भूमि पर बैठूँ वहाँ, प्रभु ! आपकी भूमि नजर आती रहे। हे प्रभु ! मेरे जीवन में कुछ मिले या न मिले, दुनियाँ वैभव माँगे, विभूति माँगे, पर मुझे तो आपके दोनों चरण–कमल चाहिए है और मुझे कुछ नहीं चाहिए।

आचार्य देवसेन स्वामी यही कह रहे हैं कि जब तक स्वतत्त्व की प्राप्ति नहीं होती है, तब तक परगत तत्त्व को भूल मत जाना। स्वतत्त्व अर्थात् निज आत्मदेव और परगततत्त्व अर्थात् पंचपरमेष्ठी। जब तक स्वयं को परमपद की प्राप्ति न हो जाए, तब तक पंचपरमेष्ठी की आराधना करते रहना। आज तक आपने आराधना तो की है, पर आराध्य को नहीं समझा। मिथ्यादृष्टि देव भी अरहंत की ही आराधना करते हैं, उनके भवनों में दूसरे देव नहीं होते। परन्तु वे अरहंत देव की आराधना कुलदेवता मानकर करते हैं। मनीषियो! ये पंचपरमेष्ठी हैं, कुलदेवता नहीं है। अतः अपने निजदेव को नहीं भूल जाना।

भो ज्ञानी ! माँ जिनवाणी कह रही है कि पुद्‌गल की ख्याति किसी भी पर्याय में मिल सकती है, परन्तु आत्मख्याति दिगम्बर भेष मात्र में ही प्राप्त होती है। हम प्रतिमा की आराधना इसलिए करते हैं कि उसमें अपनी प्रतिमा को देख सकें। क्योंकि दर्पण देखने के लिए दर्पण को नहीं देखा जाता है, अपितु दर्पण में देखने के लिए दर्पण को देखा जाता है। 'प्रवचनसार' ग्रंथराज में आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है–

जो जाणदि अरहंतं, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं, मोहो खलु जादि तस्य लयं ॥ ८०॥

जो अरहंतदेव के द्रव्य को, अरहंतदेव के गुण को, अरहंतदेव की पर्याय को जान लेता है, वह अपनी आत्मा के द्रव्य–गुण–पर्याय को जान लेता है।

अतः जिनदेव के दर्शन करो निजदेव के दर्शन के लिए और जिसकी निजदेव के दर्शन की दृष्टि नहीं है, उसका जिनदेव का दर्शन है ही नहीं। इसलिए यह सोचना कि मैं मंदिर नहीं जाऊँगा तो भगवान् नाराज हो जायेंगे। भो चेतन ! यह भगवान् को खुश करने के लिए मंदिर नहीं आया जाता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी कह रहे हैं–

न पूजयार्थऽस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ ! विवान्त–वैरे ।
तथापि ते पुण्य–गुण–स्मृतिर्नः, पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥ ५७॥ स्वयंभू स्तोत्र॥

हे देवाधिदेव ! हे अरहंतदेव ! आपको पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है, आपको निन्दा से प्रयोजन नहीं है। प्रभो ! आप तो वीतरागी हो, आपके चरणों में आपके लिए नहीं आया हूँ। हे प्रभु ! आपके दर्शन से जन–जन के पाप–कलंक समाप्त हो जाते हैं, आत्मा पवित्र हो जाती है, इसलिए आपके चरणों में आया हूँ।

आप प्रभु की आराधना करने, पूजन करने, अपने लोभ का त्याग करने के लिए आते हो। आचार्य अमृतचंद्र स्वामी ने ग्रंथराज 'पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय' में लिखा है कि जो जीव लोभ का त्याग नहीं करता, पूजन व दान नहीं करता, वह हिंसक है, कषायी है। क्योंकि जैनसिद्धान्त कहता है कि जहाँ राग है, वहाँ लोभ है और जहाँ लोभ है, वहाँ राग है तथा जहाँ राग एवं लोभ दोनों बैठे हों, वहाँ निज परिणामों की हिंसा है। तू मंदिर में पूजा क्यों नहीं कर रहा है? तू द्रव्य क्यों नहीं चढ़ा रहा है? यह ढोंग कर रहा है कि हिंसा होगी। यह क्यों नहीं कहता कि मेरे अंदर में लोभ बैठा है कि इतना श्रीफल चढ़ाना पड़ेगा, इतनी द्रव्य चढ़ानी पड़ेगी, इतना पैसा खर्च होगा। उस लोभ को नहीं छोड़ना चाहता है, इसलिए तू हिंसक है।

भो चेतन ! चाहे द्रव्यहिंसा हो, चाहे भावहिंसा हो, हिंसा तो हिंसा ही है। भाव बने, तभी तो द्रव्य बना। द्रव्यहिंसा तो हिंसा है, पर भावहिंसा भी कम नहीं है। जैसे कोई जीव द्रव्य से भोग भोगे, वहाँ तो बंध है ही, पर भोगभावना भी बंध का ही हेतु है। देखो, महामच्छ के कान में बैठा हुआ तंदुल मच्छ सातवें नरक जा रहा है। क्यों ? जीवों का घात भी नहीं कर रहा है, परन्तु जीवघात के परिणामों से रहित भी नहीं है। इसलिए जो जीव भोगभावना में जी रहा है, वह भी बंधक है।

आचार्य देवसेन स्वामी इस गाथा में यह आशीष दे रहे हैं कि आप शरीर से आनंदित हों, पर अंतरात्मा से आनंदित हों। हर्षित न हों, अपितु प्रमुदित हों। ज्ञानी हर्षित नहीं होता, प्रमुदित होता है। धर्म व धर्मात्माओं के प्रति प्रमोद–भाव रखें। ध्यान रखना जीवन में, भगवान् में चमत्कार नहीं होता, प्रतिमाओं में चमत्कार नहीं होता, बल्कि जितनी निर्मल एवं विशुद्ध भावों से भक्ति की जाती है, आपकी वह भक्ति, मनीषियो ! चमत्कार बन जाती है। वही भक्तामर स्तोत्र है, वही आदिनाथ भगवान् हैं, आज भी वैसी ही भक्ति हो जाये तो अड़तालीस ताले टूट जायेंगे, चमत्कार–ही–चमत्कार नजर आयेंगे। परन्तु अध्यात्म कहता है कि यह बाह्य चमत्कार नहीं है, चैतन्य का चमत्कार है। यह ध्यान रखना, जहाँ दवा काम नहीं करती,

वहाँ दुआ काम करती है।

जब एक जड़बिम्ब में सूरिमंत्र दिया जाता है, तो उसकी प्रतिष्ठा हो जाती है, लोक में वह पूज्य हो जाता है, आचार्यमहाराज कह रहे हैं कि तुम अपने चेतनबिम्ब में सूरिमंत्र दो, यह अरहंत का उपदेश ही सूरिमंत्र है और अपने बिम्ब को निहारो। कैसे? जो जीव निजबिम्ब निहारने में तल्लीन है, वह जीव विसम संसार–सागर से पार हो जाता है। ध्यान रखना, पंचपरमेष्ठी भव्यजीव के लिये ही शरण हैं, अभव्यों के लिए नहीं। हे भव्य जीवो ! तुम स्वगत, परगत तत्त्वों और निजात्मा की आराधना करके, आनंदित होकर, वृद्धि को प्राप्त हो। कैसी वृद्धि को? चैतन्य–चित्–चमत्कार ऐसी सिद्ध–अवस्था को हम सभी प्राप्त हों। अब पर्यायों में भटकने का आशीष नहीं चाहिए। यही आत्मा का धर्म है।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

आराधना का फल

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण ।
जो सद्दिट्ठि भावइ तो पावइ सासयं सोक्खं ।।७४।।

अर्थ: जो सम्यग्दृष्टि, मुनिनाथ देवसेन के द्वारा रचित इस तत्त्वसार को सुनकर उसकी भावना करेगा, वह शाश्वत सुख को पाएगा।

मनीषियो !

अंतिम तीर्थेश भगवान् महावीर स्वामी की पावन पुनीत देशना को हमारे आचार्यभगवंतों ने जन–जन के कर्णपटल तक पहुँचाया है। गौतम स्वामी ने वर्द्धमान स्वामी के समवसरण में पहुँचकर निवेदन किया– भगवन् ! इस लोक में धर्मतीर्थ का प्रवर्तन अनिवार्य है, कि दानतीर्थ का और धर्मतीर्थ एवं दानतीर्थ का प्रवर्तन करनेवाले इस काल में कौन–से महापुरुष हुये हैं? वे वर्द्धमान स्वामी अपनी पावन पीयूष देशना में कहने लगे– हे गौतम ! धर्मतीर्थ का प्रवर्तन तभी सम्भव है जब दानतीर्थ का प्रवर्तन हो। बिना दानतीर्थ के धर्मतीर्थ प्रवहमान नहीं हो सकता। जैसे रथ में दो चक्र होते हैं, तभी रथ गतिमान होता है। वैसे ही धर्मरथ को चलाने के लिए गृहस्थधर्म और यतिधर्म माध्यम हैं और दोनों धर्म अपने आप में प्रवहमान हैं। भो ज्ञानी ! इस लोक में दानतीर्थ एवं धर्मतीर्थ दोनों का प्रारम्भ एकसाथ हुआ है। यदि धर्मतीर्थ का प्रारंभ भगवान् आदिनाथ स्वामी के द्वारा हुआ, तो दानतीर्थ का प्रारंभ राजा श्रेयांस व राजा सोम के द्वारा हुआ। यदि भगवान् आदिनाथ स्वामी दीक्षा लेने के बाद तुरन्त आहारचर्या को उठ जाते, तो चार हजार मुनिराजों को अपने संकल्प से च्युत न होना पड़ता। सभी जीवों की सामर्थ्य समान नहीं होती, सभी जीवों का संहनन समान नहीं होता है। यदि चर्या नहीं होगी, तो चारित्र का पालन नहीं होगा।

मनीषियो ! संसार की विडम्बना और कर्म की लीला बड़ी अनुपम होती है। जो इस सृष्टि के स्वयं सृष्टा हों, जिन्होंने लोक में सृष्टि का संचालन किया हो, षट्कर्मों का प्रवर्तन किया हो,

जिनका बेटा स्वयं चक्रवर्ती हो, स्वयं जो तीर्थंकर हों, जिनका पुत्र कामदेव हो, ऐसे पुण्यात्मा को भी छह महिने तक आहार के लिये घूमना पड़ा। वे देव कहाँ चले गये, जिन्होंने गर्भ के पूर्व से ही पन्द्रह मास तक रत्नों की वर्षा कर भूमि को स्वर्णमयी बना दिया हो, रत्नमयी बना दिया हो। जब तीर्थंकर गर्भ में आये, तब सौधर्म इंद्र का सिंहासन हिल गया। आज उस सौधर्म इंद्र को क्या हो गया? इसमें किसी की कोई गलती नहीं है। भगवन् ! आपने जो पशुओं के मुख में मुसीका लगाने का एक दिन उपदेश दिया था, उस समय आपने छह महिने का कर्मबंध किया था, कर्म कह रहा है कि मैं किसी को नहीं छोड़ूँगा। उन वीतरागी महामुनिराज इस युग के प्रथम मुनि, इस अवसर्पिणी काल के प्रथम मुनिराज आदिनाथ स्वामी को, आज अक्षय तृतीया के दिन राजा श्रेयांस एवं राजा सोम के द्वारा इक्षुरस का आहार दिया गया।

मनीषियो ! संसार में ऐसे भी लोग हुये हैं, जिन्होंने छोटी–सी उम्र में आजन्म ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर एवं संयम के मार्ग पर आगे बढ़कर मोक्ष का मार्ग प्रशस्त किया। तीर्थंकर आदिनाथ नहीं, सम्राट ऋषभदेव के पास उनकी दोनों कन्यायें ब्राह्मी व सुंदरी आकरके नतमस्तक हो प्रणाम करती हैं। वहाँ अनेक देशों के सम्राट महाराज ऋषभदेव के चरणों में भेंट चढ़ा रहे थे। कल्पना करो, जिसके चरणों में भेंट चढ़ाई जा रही हो उसका पुण्य कितना होगा? अचानक पिता ऋषभदेव पुत्रियों से कहने लगे– पुत्रियो ! इस लोक में आप जैसी कन्या और कोई नहीं होगी।

मनीषियो ! ध्यान रखना, वह हुण्डावसर्पिणी काल का प्रभाव है, कि कुछ अनहोनी घटनाएँ भी घटती हैं। तीर्थंकर के कन्यायें नहीं होनी थीं, पर प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ की कन्यायें थी। इस काल में चक्रवर्ती का मान भंग नहीं होता है, पर प्रथम चक्रवर्ती का मान भंग हो गया। तीर्थंकरों के उपसर्ग नहीं होते हैं, पर भगवान् सुपार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के ऊपर मुनि–अवस्था में उपसर्ग हुये। तीर्थंकरों का जन्म अयोध्या नगरी में तथा निर्वाण सम्मेदशिखर पर्वत से होता है, यह दोनों शाश्वत भूमियाँ हैं, पर इस युग में अन्यत्र जन्म भी हुआ और अन्यत्र निर्वाण भी हुआ। उसमें एक अपवाद विदिशा नगर भी है, क्योंकि जहाँ पर भगवान् शीतलनाथ के तीन कल्याणक हुये, जो अयोध्या नगरी में होना चाहिए थे। पता नहीं आप लोगों का ऐसा प्रकृष्ट पुण्य था, कि तीर्थंकर–जैसी आत्मा के पुण्य को भी आपने खींच लिया। जहाँ पुण्यात्मा का योग होता है, वहाँ तीर्थंकर का विहार स्वयमेव हो जाता है।

पिता ऋषभदेव द्वारा उन कन्याओं को अंक विद्या और लिपि विद्या सिखाने के उपरांत, बेटियों ने कहा– हे तात् ! इस लोक में आपसे बड़ा कोई सम्राट नहीं है। इतने सारे सम्राट आपके चरणों में भेंट चढ़ा रहे हैं और आप उन सबको अपना शुभाशीष दे रहे हैं। यह सुनकर अचानक पिता की दृष्टि भूमिगत हो गयी। पुत्रियों ने पुनः पूछा– हे जनक ! इसमें आपको शोक की क्या बात? आप एकदम शान्त क्यों हो गये? अरे ! मैं जिनके हाथों में आपको सौंपूँगा, उसको मुझे भी भेंट चढ़ाना पड़ेगी तथा शीश झुकाना पड़ेगा। अहो मेरे तात ! आप तीनलोक के नाथ हैं और हमारे कारण आपको शीश झुकाना पड़ेगा, ऐसा कभी संभव नहीं होगा। आज हम आपके श्रीचरणों में अखण्ड शीलव्रत धारण करते है। अस्तु, हमारे कारण आपका शीश नहीं झुकेगा। धन्य हो उन कन्याओं को, जिन्होंने अपने पिता की लाज रखी। पिता की आँखों से भी वात्सल्य के आँसू टपक गये और तुरन्त ही आशीष दे दिया, कि तुम्हारी होनहार धन्य हो। यदि तुम्हारे पिता का नाम रहेगा, तो पुत्रियो ! तुम्हारा नाम भी आगे रहेगा। अतएव पुत्री ब्राह्मी और सुंदरी के नाम से अंक विद्या और लिपि विद्या आज भी चल रही हैं। उन दोनों पुत्रियों की ही देन है।

भो ज्ञानी ! सौधर्म इंद्र सोच रहा था, कि संसार में भोगों की मिठाई कितनी अनुपम है। राजा ऋषभदेव जैसी आत्मा इन भोगों की मिठाई में लिप्त हो गई। चौरासी–लाख पूर्व की आयु में तेरासी–लाख पूर्व व्यतीत हो चुके हैं, एक लाख पूर्व अब शेष बचा है। इनको संयम की सुध नहीं है। ये मात्र राज्य संचालन के लिए नहीं आए हैं, ये धर्म संचालन के लिए भी आये हैं। अतः सौधर्म इंद्र सोचता है कि ऐसा कोई निमित्त उपस्थित करना चाहिए जिससे कि प्रभु को वैराग्य की प्राप्ति हो। मनीषियो ! यहाँ भी निमित्त खड़ा था, पर ऐसी होनहार थी, उसको कोई टाल नहीं सकता था। तुरन्त ही नीलांजना नाम की एक अप्सरा, जिसकी आयु क्षणिक बची थी, उसको सौधर्म इन्द्र ने राज्यसभा में नृत्य करने हेतु भेज दिया। देखते–देखते नीलांजना की मृत्यु हो गई, जिसे देखकर महाराज आदिनाथ को वैराग्य हो गया। वे बोले– ये संसार असार है तथा जल के बबूले के समान एक क्षण में विलीन होने वाला है। लोकांतिकदेव पालकी लेकर पहुँच गये। देखो, लोकांतिकदेव अन्य कल्याणकों में नहीं आते, मात्र तपकल्याणक में ही आते हैं, जिन्हें देवऋषि कहा जाता है। उद्यान में जाकर जैनेश्वरी दीक्षा धारण कर ली और अपने तत्त्वज्ञान से चैतन्य आत्मा में लवलीन हो छह महिने तक ध्यान में तल्लीन रहे। केशलोंच भी नहीं हुए, इसीलिए तो यह हमारे जटाशंकर हैं, क्योंकि उनकी लम्बी–लम्बी

जटायें हो चुकी थीं। उन्होंने कैलाश पर्वत पर साधना की, इसलिए वे कैलाशपति कहलाये। माया, मिथ्या, निदान इन तीन शल्यों को जिन्होंने नष्ट कर दिया तथा रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र) को जिन्होंने धारण किया, अतः वे त्रिशूलधारी हैं। धवला पुस्तक प्रथम में भगवान् आदिनाथ को त्रिशूलधारी कहा गया है। कुण्डलपुर में बड़े बाबा की प्रतिमा के नीचे भी त्रिशूल बना हुआ है। पन्ना जिले के अतिशय क्षेत्र श्रेयांसगिरि में भगवान् आदिनाथ की प्रतिमा में तीसरा नेत्र खुला हुआ है।

भो प्रज्ञ ! आज अक्षय तृतीया का दिन है। आज के दिन अक्षय–पात्र मिला, अक्षय–दान मिला एवं आज ही इस 'तत्त्वसार' ग्रंथराज की अंतिम मंगल गाथा में देवसेन मुनिनाथ कह रहे हैं, कि जो सम्यग्दृष्टि जीव इसकी भावना भाता है तथा निर्मल भाव से जो सुनता है, वह परमसुख निर्वाण को प्राप्त करता है। आज कितना सौभाग्य है कि तीर्थंकर भगवान् आदिनाथ स्वामी के पारणा का दिन है। इसलिए अपने जीवन में भावना भाना कि, हे प्रभु ! मैं अपने जीवन में निर्ग्रंथ के हाथों में दान दे सकूँ और ऐसा दिन कब आये, कि मैं स्वयं अपने हाथ पर ग्रास ले सकूँ और अक्षय–सुख को प्राप्त कर सकूँ।

॥ भगवान् महावीर स्वामी की जय ॥

९ ९ ९

अखिल भारतीय श्रमण संस्कृति सेवा समिति सदस्य

इंदौर...
श्री सुनीलकुमारजी गोधा
प्रो. श्री शांतिलालजी बड़जात्या
श्री महेशकुमारजी जैन (फूफा)
श्री जयकुमारजी जैन (रिंकू)
श्री विपुलजी बांझल (बंटी)
श्री संतोष गरूजी (परवार ग्रुप)
श्री कोमलचंदजी जैन (दद्दा)
श्री राकेशकुमारजी रसिया
श्री अरूणकुमारजी (मऊरानीपुर)
श्री विजयकुमारजी जैन (हवलदार)
श्री एन.के. जैन (रोडवेज)
श्री प्रकाशकुमारजी तरूणकुमारजी (आरौन वाले)
श्री जयकुमारजी निलेशकुमारजी जैन
श्री नवीनकुमारजी सुनीलकुमारजी जैन
श्री राकेशकुमार राजकुमारजी जैन
श्री संतोषकुमारजी जैन
श्री महावीरप्रसादजी चाँदमलजी गोधा
श्री संजयजी मोदी (अनंतपुरा)
श्री भागचंदजी पाटनी (सेन्ट परसेन्ट)

उज्जैन...
श्री जीवनलालजी जैन
श्री विजेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन
श्री सुनीलकुमारजी हीरालालजी सोगानी
श्री मोतीलालजी जैन छाबड़ा
श्री कमलकुमारजी सुरेशचंदजी जैन
श्री देवेन्द्रकुमारजी मनसुखलालजी जैन (तलाटी)
श्री रुपेन्द्रकुमारजी विजेन्द्रकुमारजी जैन

ललितपुर...
श्री रामप्रकाशजी जैन,
श्री शीलचंदजी नन्हेलालजी जैन
श्री शिखरचंदजी जैन सर्राफ
श्री अखिलेशजी राजमलजी जैन
श्री सिंघई धन्यकुमारजी जैन
श्री सुंदरलालजी मथुराप्रसादजी जैन
श्री नरेन्द्रकुमारजी राजीवकुमारजी जैन
श्री जयकुमारजी मोतीलालजी जैन
श्री कमलकुमारजी खेमचंदजी जैन

सागर...
श्री सुरेशकुमार हुकुमचंदजी जैन
श्रीमती पुष्पादेवी संतोषकुमारजी जैन
डॉ. सुनीलकुमार राजेशकुमारजी जैन
श्री नेमीचंदजी जैन (सुरखी वाले)
श्री भरतकुमारजी ताराचंदजी पाटोदी
श्री ऋषभकुमारजी लखमीचंदजी गोयल
श्री वेदप्रकाशजी ताराचंदजी भाईजी
श्री कन्छेदीलालजी जैन (दाऊ)
श्री कोमलचंदजी ऋषभकुमार जैन (लालू साड़ी)
श्री ज्ञानचंदजी सुरेन्द्रकुमार जैन
श्री वैभवजी बाबुलालजी जैन
श्री ऋषभकुमारजी स्वरुपचंदजी सिंघई
श्री राजेन्द्रकुमारजी गुलाबचंदजी जैन
श्री सिंघई ऋषभकुमारजी मंडावरा वाले
श्री सेठ इंदरचंदजी दीपककुमारजी जैन (सन्मति)
श्री मुकेशकुमारजी भागचंदजी जैन
श्री राजेशकुमारजी जैन (जैन रोड़ लाईनस)
श्रीमती सुगंधीजी जैन (निहारिका)
श्री नितिनकुमारजी कोमलचंदजी सर्राफ
श्री सुनीलकुमारजी के.सी. जैन
श्री हेमचंदजी जिनेन्द्रकुमारजी निलेशकुमारजी जैन

छतरपुर...
चौधरी श्री ज्ञानचंदजी जैन (दादा)
श्री ओलियाजी कोमलचंदजी, छतरपुर
श्री राजेन्द्रकुमारजी जैन सेठ
श्री राजकुमारजी जैन
श्री आनंदकुमारजी जैन (लोहेवाले)
श्रीमती श्रीबहनजी
श्री चक्रेशकुमारजी जैन (बडकुल)
श्री मुकेशजी जैन (ग्रेनाईट इंडिया)
आचार्य श्री तारणतरण लोकन्यास
डॉ. सुरेशचंदजी बजाज
श्री श्रीपालजी बडकुल
श्री प्रमोदजी बिजावर

अन्य शहर :
श्री संजयकुमारजी निर्मलकुमारजी जैन
(नवापारा राजिम), रायपुर
श्री पन्नालालजी धन्नालालजी जैन, कलकत्ता
श्रीमती अलका अशोककुमारजी जैन, दिल्ली
श्रीमती उर्मिलाजी शीलकुमारजी जैन, हिसार (हरि.)
श्री निर्मल कुमारजी जैन, दिल्ली
श्री अनुरागजी मोदी (मोदी ट्रेडर्स), तेंदूखेड़ा
श्री प्रमोदजी चौधरी (जैन नगर), भोपाल
श्री पीयूषजी जैन, सोनीपत (हरियाणा)
डॉ. त्रिशलादेवी जैन, कानपुर
श्रीमती सुमनजी जैन (अरोरा), बरेली